अमिताभ

अमिताभ

[चरितोपन्यास]

लेखक

श्रीगोविंदवल्लभ पंत

(वरमाला, संध्या-प्रदीप, राजमुकुट, प्रतिमा, जूनिया, मदारी, अंगूर की बेटी, अंतःपुर का छिद्र, तारिका, सुहाग-बिंदी, एक सूत्र आदि पुस्तकों के प्रणेता)

—:※※※:—

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३६, लाटूश रोड

लखनऊ

प्रथमावृत्ति] सं० २००३ वि० [मूल्य ४॥)

प्रकाशक
चंद्रशेखर
राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल
मछुआटोली
पटना

अन्य प्राप्ति-स्थान—

1. दिल्ली-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली
2. प्रयाग-ग्रंथागार, ४०, कास्थवेट रोड, इलाहाबाद
3. काशी ग्रंथागार, मच्छोदरी-पार्क, काशी
4. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना।
5. साहित्य-रत्न-भंडार, सिविल लाइंस, आगरा
6. हिंदी-भवन, अस्पताल-रोड, लाहौर
7. एन्० एम्० भटनागर ऐंड ब्रादर्स, उदयपुर
8. दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार-सभा, त्यागरायनगर, मद्रास

नोट—हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा हिंदुस्थान-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें। हम उनके वहाँ भी मिलने का प्रबंध करेंगे। हिंदी-सेवा में हमारा हाथ बँटाइए।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

वक्तव्य

पंतजी के वरमाला, राजमुकुट, अंतःपुर का छिद्र, सुहाग-बिंदी, ये चारों नाटक हिंदी-संसार में बहुत पसंद किए गए। प्रतिमा, मदारी, तारिका, जूनिया, एक सूत्र (उपन्यास) और संध्या-प्रदीप (कहानी-संग्रह) का भी यथेष्ट आदर हुआ। अब यह अमिताभ आपके सामने है। इसका भी अवलोकन कीजिए।

आशा है, प्रेमी पाठकों का इससे भी काफ़ी मनोरंजन होगा।

कवि-कुटीर, लखनऊ
दीपावली, २००३

दुलारेलाल

१. विधि के अंक

उस नवजात शिशु का निरीक्षण कर असित ऋषि ने उसके चरणों में अपना तपोज्ज्वल मस्तक विनत कर दिया। उस बालक की स्तुति कर उन्होंने कहा—"महाराज, इस बालक के जन्म से वसुंधरा उज्ज्वल और यह आर्यावर्त पवित्र हुआ है। तुम्हारा यह सूर्य-कुल धन्य है! तुम्हारी यह राजनगरी कपिलवस्तु और तुम सौभाग्यशाली हुए हो।"

महाराज का नाम शुद्धोदन था। बड़ी साधना और उपासना के अनंतर उस बालक का जन्म हुआ था। शुद्धोदन ने बड़े आश्चर्य और आदर के भाव से हाथ जोड़ लिए। उनकी दूसरी रानी प्रजावती और समस्त दासियों ने भी अभ्यर्थना की।

"मैं बहुत समय से इनके आविर्भाव की प्रतीक्षा कर रहा था।" कहकर असित ऋषि की आँखों से अश्रुधारा बह चली। वह बोले—"किंतु मैं अब बूढ़ा हो गया, शीघ्र ही मर जाऊँगा!" ऋषि ने फिर शिशु के लक्षण और ग्रहों का विचारकर कहा—"महाराज, यह बालक बड़ा होने पर महान् प्रतापी और चक्रवर्ती राजा होगा। यदि इसका मन राज-काज में न लगा, तो यह विश्व-गुरु होगा। संसार के पाप-ताप से तप्त प्राणी इसकी शरण में शांति प्राप्त करेंगे। यह करोड़ों मनुष्यों को अज्ञान के अंधकार से निकाल-कर उनके लिये निर्वाण का मार्ग सहज-सुलभ करेगा।"

शुद्धोदन ने चिंतित होकर कहा—"राज-काज में मन न लगा, तो?"

"हाँ, महाराज ! यह धन-संपत्ति, सुख-भोग, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सबका त्यागकर वन में चला जायगा, और वहाँ सत्य का अनुसंधान करेगा।"

सब असित ऋषि की ओर देखने लगे मूर्तिवत् होकर।

"कोई ऐसा उपाय नहीं है महाराज, जिससे इनका मन राज-काज से न उचटे ?" शुद्धोदन ने पूछा

"है। परंतु उसका निर्वाह अत्यंत कठिन है।"

"हम प्राण-पण से चेष्टा करेंगे।" अत्यंत आकुल होकर राजा ने कहा।

ऋषि ने कहा—"सुनो। बूढ़ा, रोगी, मृतक और संन्यासी, इन चारों को देखने से इसके मानस में वैराग्य का उदय होगा। यदि तुम इन चारों को राजकुमार की दृष्टि से सदैव दूर रक्खोगे, तो संभव है, उसका मन राजभवन में ठहर जाय।"

"ऋषिराज, हम यही करेंगे। मैं राजभवन को एक और प्राचीर से घेर दूँगा। उसके द्वारों पर भी दिन-रात प्रहरी नियुक्त कर दूँगा कि कोई बूढ़ा, रोगी, मृतक और संन्यासी यदि भूल से दुर्ग के भीतर आ भी जाय, तो भवन के भीतर न जा सके।"

ऋषि लुंबिनी कानन में तपस्या करते थे, लौट गए।

महाराज की उस रानी का नाम था महामाया, जिसने उस तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया था। यह ढाई हज़ार वर्ष पहले की कथा है। अयोध्या से वायव्य दिशा में था वह शाक्यों का राज्य, जिसके अधिपति महाराज शुद्धोदन थे। महाराज ने उस पुत्र का नाम रक्खा—सिद्धार्थ ! और अपनी मनोकामनाएँ पूर्ण हुई समझीं।

जब महामाया को यह समाचार सुनाया गया कि उसका पुत्र महान् तेजस्वी है, तो वह रोने लगी। पुत्र-जन्म के बाद से ही वह रोगाक्रांत हो गई थी।

शुद्धोदन ने उसे धीरज बँधाते हुए कहा—"यह तो उत्सव का अवसर है महारानी !"

महारानी ने कहा—"मैं जानती हूँ, मैं अब जीवित नहीं रह सकती।"

"नहीं-नहीं, ऐसा न कहो।" प्रजावती, महाराज की दूसरी रानी ने कहा।

"नहीं बहन, असंभव है।" महामाया ने रोग-क्षीण कंठ से कहा—"जब यह बालक उत्पन्न हुआ था, तो इसने उसी क्षण कहा था—'अग्गोहस्मि लोकस्स—मैं संसार में सबसे आगे हूँ।' कोई इस बात का विश्वास न करेगा, समझकर मैंने किसी से नहीं कहा। मैंने स्वप्न भी ऐसे ही देखे हैं। मैं मर जाऊँगी, बहुत शीघ्र।"

प्रजावती मुख ढककर रोने लगी थी।

"रोओ मत बहन ! इस बालक में बुद्ध का आविर्भाव होगा। मैंने सुना है, बुद्ध को उत्पन्न करनेवाली जननी अधिक दिन फिर इस लोक में नहीं रहती।" महामाया बोली।

"न-जाने यह भ्रम की बात किसने बता दी तुम्हें। मैंने मगध से राजवैद्य बुलाया है तुम्हारी चिकित्सा के लिये।"

"व्यर्थ श्रम महाराज ! व्यर्थ श्रम !" बड़ी कठिनता-पूर्वक रानी ने पुकारा—"प्रजावती ! बहन !"

रोते-रोते ही उसने उत्तर दिया—"हाँ महारानी !"

"लो इस बालक को अपनी रक्षा में लो, यह मैंने तुम्हें ही दिया। तुम्हीं अब इसकी माता हुईं। स्नेह-पूर्वक इसका पालन करना, इससे तुम्हारी गोद उज्ज्वल होगी।"

प्रजावती हिचकिचाई।

महाराज ने कहा—"बच्चा रोने लगा है। उसे ममता दिखाओ

प्रजावती ! फिर ऋषिराज के वचन भी तो भूलते नहीं हैं। उन्होंने इसे रोगी का मुख दिखाने का निषेध किया है।"

प्रजावती ने बालक अपनी गोद में ले लिया।

महामाया ने कहा—"वचन दो मुझे कि मैं निश्चिंत होकर मर सकूँ।" वह शय्या पर पड़ गई।

"अपने प्राणों की ओट में रखकर बालक की रक्षा करूँगी बहन ! भगवान् मेरे साक्षी हों !" प्रजावती ने कहा।

महाराज ने प्रजावती को वहाँ से चले जाने का संकेत किया। वह बालक को लेकर चली गई।

प्रसूता की वेदना बढ़ चली। वह कराहने लगी—"हे भगवान् !"

महाराज ने दुख-भरे शब्द में कहा—"महामाये !"

वह चुप रही।

महाराज ने फिर उसका नाम लिया।

"हाँ महाराज ! ले गई वह मेरे लाल को। उसे न बताना कि वह मातृहीन है।"

"नहीं।"

सिद्धार्थ के जन्म के सातवें ही दिन महामाया ने शरीर छोड़ दिया।

महारानी के वियोग के क्षत उस शिशु की बाल-क्रीड़ाओं से भर गए। शुक्ल पक्ष के चंद्रमा के समान उस बालक की कलाएँ दिन-दिन बढ़ने लगीं।

२. कौन गा रहा है ?

सिद्धार्थ दिन-दिन कांति, तेज, बल और बुद्धि में बढ़ने लगा, पर उसमें बालकों की क्रीड़ा-चपलता कभी नहीं देखी गई। जब देखो उसे, तभी न-जाने विचार की किस गहराई में डूबा हुआ रहता था। कुछ भूला-सा, जाने किसे स्मरण करता था। कुछ खोया-सा जाने किसे ढूँढ़ने की चेष्टा करता था।

महारानी प्रजावती अपने समस्त सुख और स्वार्थ की आहुति देकर उस राजकुमार का प्रतिपालन कर रही थी। एक पुत्र उसके भी हो गया था। उसका नाम था नंद। प्रजावती ने कभी भूलकर भी किसी बात में नंद को प्रथम स्थान नहीं दिया।

सिद्धार्थ की वैराग्य की ओर प्रेरणा करनेवाले वे चार निमित्त महाराज शुद्धोदन के मस्तिष्क में जाकर बस गए थे। वह रात-दिन इसी चिंता में रहते थे, किस प्रकार वे रोके जा सकेंगे। इसके लिये बड़ी दूरदर्शिता से उन्होंने नाना प्रकार के प्रबंध किए और करते रहे।

उन्होंने दुर्ग के प्राचीर के भीतर एक और दीवार बनवाई। उस दीवार से राजभवन, उसके निकट के उपवन का अधिकांश और एक सरोवर को घेर लिया।

उन्होंने दुर्ग के भीतर जितने बूढ़े कर्मचारी थे, उन सबको वृत्ति नियतकर उन्हें छुट्टी दे दी। दुर्ग के भीतर भूल से कभी कोई निमित्त दिखलाई दे जाता, पर राजभवन की सीमा के भीतर कभी कोई नहीं।

एक दिन महाराज ने चिंता के भार से विनत होकर प्रजावती से

कहा—"प्रजावती, पर यह वृद्धावस्था अदृश्य पगों से हमारे राज-भवन के भीतर भी आ रही है।"

प्रजावती गंभीर विचार में पड़ गई—"हाँ महाराज!"

"दुर्ग के भीतर की समस्त वृद्धावस्था हमने वहाँ से हटा दी। इस पर हमारा कोई वश नहीं। वर्ष के प्रत्येक मास, मास के एक-एक दिन और दिन की प्रत्येक घड़ी में वह हमारे निकट आ रही है, अविराम अलक्षित रूप से। हम उसे नहीं रोक सकते। वह हमारे प्रहरियों की आज्ञा नहीं मानती, उसे हमारे दंड का भय नहीं। वह इन दोहरी दीवारों को भेदकर यहाँ आ जाती है।"

"अभी बहुत समय है महाराज! अभी से उसकी क्या चिंता है।"

"समय कभी अधिक नहीं होता।"

"फिर भी क्या भय है। हमारे बूढ़े होने तक सिद्धार्थ और नंद, दोनो वयस्क हो जायँगे। सिद्धार्थ को राज्य-भार सौंपकर हम काशी-वास के लिये चल देंगे।"

"हाँ, यही एक मार्ग है महारानी!"

सिद्धार्थ और नंद साथ-साथ खेलते। नंद की प्रकृति भी कुछ गंभीर थी, पर उसमें चपलता की भी कमी न थी।

राजभवन के भीतर ऊब उठता सिद्धार्थ। नंद उसे बाहर उपवन में ले जाता। सरोवर के पास एक जामुन का पेड़ था। उसके चारों ओर एक स्फटिक का चबूतरा बना हुआ था। सिद्धार्थ को अधिकतर उसी पर बैठना प्रिय था।

वह घंटों वहीं पर बैठा हुआ रह जाता। नंद के आग्रह का वह सदैव आदर करता। वह उसके साथ खेलता, पर बड़े उदासीन और निर्लिप्त भाव से।

खेलते-खेलते वह आकाश के मेघों को देखता हुआ रह जाता। सरोवर में उठती और मिटती हुई लहरों में उसका मन बस जाता।

कभी आकाश में उड़ती हुई चिड़िया, जल में तैरती हुई हंस-पंक्ति या मछलियाँ, भूमि पर अटूट परिश्रम करनेवाली चींटियों की रेखा उसका ध्यान खींच लेती थीं।

सिद्धार्थ की समझ में बहुत स्पष्ट होकर पहली वसंत-ऋतु आई उपवन में। लता और कुंज फूलों से भर उठे। पक्षियों के कंठों में नाना प्रकार की मधुर स्वरावलि का जन्म हुआ। पवन मधु-मदिर सुरभि से भर उठी। सिद्धार्थ ने उल्लसित होकर नंद से कहा—"इतनी सुहावनी प्रकृति आज कैसे हो गई। उसमें ये इतने रंग, इतने स्वर और इतनी गंध कहाँ से आ गई ?"

दोनो पुष्प-चयन कर रहे थे। नंद ने उत्तर दिया—"पेड़ों से ही निकल गए ये फूल। पहले छोटी-छोटी कलियाँ आती हैं। वे ही फिर खिलकर फूल हो जाते हैं।"

"यह तो मैंने भी लक्ष्य किया है। कली कहाँ से आ जाती है ?"

"मैं नहीं कह सकता युवराज ! धाई से पूछें।" कहकर नंद धाई के पास गया, जो उनकी चौकसी के लिये वहीं खड़ी थी।

धाई ने युवराज सिद्धार्थ के पास आकर पूछा—"क्या आज्ञा है युवराज !"

'बता सकती हो ? शाखा में पुष्प कैसे खिला ?"

धाई पहले गंभीर हुई, फिर खिलकर हँस पड़ी—"जैसे खिलता है राजकुमार !" उसने सिद्धार्थ के दोनो हाथों को पकड़ दूर से चुंबन किया, और उन्हें अपने माथे से लगाया—"पेड़ में कली उत्पन्न हुई, वह बढ़ी, और खिलकर फूल हो गया !"

"इतना तो हम भी जानते हैं। कली कैसे प्रकट हो गई ? इतने शोभन रंग उसने कहाँ से पहन लिए ?"

"सब प्रश्न भगवान् ही पर जाकर समाप्त हो जाते हैं। उन्हें छिपकर आना क्यों पसंद है ? वह हमें दिखाई क्यों नहीं देते ?"

"हम उन्हें देखने की चेष्टा ही कहाँ करते हैं ? जो करते हैं, उन्हें दिखाई देते हैं कैसे नहीं ?"

"तुमने देखा कभी ?"

"नहीं।"

"चेष्टा क्यों नहीं की ? फिर उन्हें ही यह छिपना क्यों रुचिकर हुआ ?"

धाई ने सिद्धार्थ को गोद में ले लिया—"तुम्हारा प्रश्न तुम्हारी आयु से कहीं अधिक बड़ा है। जब तुम्हारी अवस्था और भी परिपक्व हो जायगी, फिर ये बातें स्वयं ही समझ में आ जायँगी। चलो, महल के भीतर चलें।"

नंद धाई और सिद्धार्थ की बातों में कान दिए हुए पुष्प चुन रहा था।

सिद्धार्थ के मुख पर वही उलझन बनी हुई थी। उसने कहा—"नहीं, अभी नहीं।" फूल तोड़ने के लिये हाथ बढ़ाया उसने। धाई की गोद से उतर गया, फिर पूछा—"अब ये फूल ऐसे ही खिलते रहेंगे न नित्य ?"

"नहीं युवराज !"

उदास होकर सिद्धार्थ ने पूछा—"क्यों ?"

"ये समाप्त हो जायँगे।"

"तब हम इन्हें तोड़ेंगे नहीं। रहने दो राजकुमार !"

"तुम्हारे तोड़ने-न तोड़ने से कुछ नहीं होगा युवराज ! तुम्हारे न तोड़ने से भी ये एक दिन समाप्त हो जायँगे।"

"क्यों ?"

"ऐसा ही होता है।"

सिद्धार्थ उदास होकर स्फटिक के मंच पर बैठ गया।

धाई अपने मन में सोचने लगी, प्रश्नों की झड़ी लगा देते हैं युवराज। बात की जड़ खोद देते हैं। महाराज ने बार-बार कह रक्खा है कि युवराज को ऐसे प्रश्न पूछने पर उत्साहित न किया जाय। उनका ध्यान दूसरी ओर लगा दिया जाय। पर जब वह सुनें, तब न ?

सिद्धार्थ चिबुक पर हाथ रखकर शून्य की ओर निहार रहा था।

धाई ने कहा—"युवराज, राजकुमार नंद ने कितने फूल तोड़ लिए हैं, देखो न। तुम भी क्यों नहीं तोड़ते। फिर मैं मालाएँ गूथ दूँगी, नित्य की भाँति।"

"तुम न बता सकीं धाई ! इतनी बड़ी हो गई हो, फिर भी फूल कैसे खिला ? तुम्हें ज्ञात नहीं। मुरझाया क्यों ? इसका भी कोई उत्तर तुम्हारे पास नहीं। मैं न तोड़ूँगा उन्हें, मुझे माला से क्या करना है।"

धाई ने नंद के पास के फूल ले लिए, और वह एक स्थान पर लेकर बैठ गई गूँथने।

उसी समय आनंद और देवदत्त आ पहुँचे। वे दोनो सिद्धार्थ के चचेरे भाई थे। दोनो सिद्धार्थ की ही अवस्था के थे। वे कभी-कभी सिद्धार्थ के साथ खेलने के लिये राजभवन के उपवन में आ जाते थे।

आनंद शील-स्वभाव का बहुत अच्छा था। पर देवदत्त बड़ा हठी, घमंडी और बात-बात में झगड़ने को तैयार हो जाता था।

दोनो एक दासी के साथ आए थे। दासी धाई के पास चली गई, और वे दोनो सिद्धार्थ के निकट बैठ गए।

नंद और आनंद के साथ सिद्धार्थ की विधि अच्छी तरह मिल जाती थी। पर देवदत्त बड़ा उजड्ड था। कूद-फाँद, दौड़-धूप, तोड़-

फोड़ के ही खेलों को पसंद करता था। उसकी संगति में युवराज सुखी नहीं जान पड़ता था। उसकी सहज-सरल शांति और विचार खंडित हो जाता था। देवदत्त बड़ा द्रोही भी था। मेरा-तेरा का विचार पग-पग में उसे घेरे रहता था।

सिद्धार्थ की इच्छा उसके साथ खेलने को कभी न करती। पर विवश था। महाराज की इच्छा थी, वह समस्त बालकों के साथ खेलता रहेगा, तो उसकी सामाजिकता बढ़ेगी। वह सांसारिक पदार्थों में मन लगावेगा।

एक साथी और था कपिलवस्तु की इस मानवीं दीवार के भीतर क्रीड़ा करनेवाले राजकुमारों का। वह एक धाई का पुत्र था, उसका नाम था छंदक। सिद्धार्थ को वह अत्यंत प्रिय था।

देवदत्त एक छोटा-सा धनुष-बाण लिए हुए था। धनुष की प्रत्यंचा ढीली पड़ गई थी, वह उसे बाँध रहा था।

"आओ आनंद, आज बड़ी देर से आए ?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"हाँ, घोड़ों पर चढ़कर वन की सैर को चले गए थे।" आनंद ने उत्तर दिया।

"मेरा भी कभी-कभी मन करता है। पर महाराज की आज्ञा नहीं है। वह कहते हैं, बाहर की सभी वस्तुएँ हमने यहाँ प्रस्तुत कर रक्खी हैं।"

आनंद बोला—"यह सच तो है युवराज ! आकाश, वन, उपवन, सरोवर, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, पथ-मैदान, नर-नारी, रथ-वाहन, सभी कुछ तो हैं यहाँ। संसार के सभी प्रकार के विलास की सामग्री से राजभवन परिपूर्ण है तुम्हारा।"

"और कुछ नहीं है आनंद ?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"नहीं युवराज !"

"तुम कपिलवस्तु की सातों दीवारों के बाहर भी तो गए हो न ?"

"हाँ ।"

"मैं केवल तीसरी दीवार तक गया था। बड़ी कठिनता से महाराज की आज्ञा मिली। वह भी साथ ही थे।"

"राजकुमार नंद ?" आनंद ने पूछा।

"हाँ, यह भी थे। इन सातों दीवारों के बाहर दूर से जैसे कोई बुला रहा है मुझे, बड़ी करुण और वेदना-भरी पुकार में आनंद ! दिन-भर वन-पर्वतों में घूमते रहने की इच्छा होती है।"

"वहाँ नवीन देखने के लिये कुछ भी नहीं है। यहाँ प्रचुर विस्तार है। घोड़े और रथ में तुम घूमते ही तो हो यहाँ।"

"उससे तृप्ति नहीं होती। वह मार्ग घूमकर फिर वहीं आ जाता है। मैं घूमना चाहता हूँ ऐसे मार्ग में, जिसका सिरा क्षितिज की निस्सीमता में खो गया हो।"

आनंद हँसने लगा—"अब जब और वयस्क हो जाओगे, तो जा सकोगे, क्या चिंता है।"

नंद भी उनके निकट आ गया था, और देवदत्त अपने धनुष-बाण ठीक करने में दत्तचित्त था।

अचानक सिद्धार्थ ने नंद का हाथ पकड़ लिया—"फिर वही सुना ! बड़ा मधुर और आकर्षण से भरा गीत ! तुमने नहीं सुना नंद ?"

नंद ने हँसकर कहा—"वह तो आम की मंजरियों से कोयल कूक रही है।"

"बड़ा करुण और मर्मवेधी, आनंद ! तुमने सुना कुछ ?" सिद्धार्थ ने आनंद से पूछा।

"कहाँ ? किधर ? युवराज ! मैं तो कुछ भी नहीं सुन रहा हूँ।" आनंद ने उत्तर दिया।

सिद्धार्थ के मुख पर बड़ी विकलता उत्पन्न हुई। वह उठकर इधर-उधर टहलने लगा।

देवदत्त का धनुष ठीक हो गया था। उसने उसमें बाण चढ़ाकर फेंका जामुन के पेड़ की शाखा में, जहाँ बहुत-सी चिड़ियाँ बैठी थीं।

पक्षी पंख फड़फड़ाकर उड़ गए। बाण किसी के लगा नहीं, दो-चार पत्तों को गिराकर दूर जा पड़ा।

सिद्धार्थ ने चौंककर कहा—"राजकुमार देवदत्त! यह क्या किया तुमने?"

"तुमने टोक दिया, नहीं तो एक चिड़िया तो अवश्य ही गिर जाती।" देवदत्त दौड़कर अपना बाण ले आया।

"मैंने तुम्हें बाण संधानते हुए देखा भी नहीं।"

देवदत्त फिर बाण चढ़ाने लगा अपने धनुष में।

सिद्धार्थ ने कहा—"देवदत्त, तुम आज ही लाए हो धनुष-बाण।"

"हाँ युवराज, यह मुझे दसवीं वर्ष-गाँठ के उपलक्ष्य में अभी कल ही तो मिला। क्षत्रिय का पुत्र और दूसरी किस वस्तु की चाहना करे? शस्त्र के कौशल से ही वह मित्र और शत्रु, दोनो के बीच में आदर का पात्र होता है।"

"नहीं देवदत्त!" सिद्धार्थ उसका हाथ पकड़ने लगा।

"केवल एक चिड़िया। तुम्हें यह दिखाने के लिये कि एक ही दिन के अभ्यास से संधान कितना ठीक हुआ है।"

"यहाँ नहीं। यदि तुम्हारे बाण से एक भी पक्षी धराशायी हुआ, तो फिर सब-के-सब भयभीत होकर भाग जाएँगे। देवदत्त, राज्य-भर में तुम मुक्त-गति हो। नगर और वन में, चाहे जहाँ भी जा सकते हो। तुम और कहीं अभ्यास करना। मैं कहाँ जा सकता हूँ। यही पक्षी मेरे सहचर और सखा हैं। ये मेरे

माथे और कंधों पर बैठकर खेलते-कूदते हैं। ये मेरे हाथों पर से ही अन्न उठाकर खाना पसंद करते हैं। इनके बीच में तुम इस प्रकार भय न फैलाओ।" सिद्धार्थ ने बड़ी अनुनय-विनय के साथ कहा—"इन्हें न मारो राजकुमार ! इन्होंने तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ा है।"

"तुम शाक्यों के युवराज हो। भविष्य में हमारे राजा बनोगे, शाक्यों की वीरता से ही शत्रु उनसे डरता है। तुम्हारी भी वर्ष-गाँठ निकट है। तुम भी उपहार के लिये धनुष-बाण की ही इच्छा प्रकट करना।"

"नहीं, कदापि नहीं।"

"देखो, यदि धनुष-बाण निषिद्ध वस्तु होते, तो राज्य के शास्त्र-विद्यालय से शस्त्र-विद्यालय कदापि प्रसिद्ध न होता। मल्ल और लिच्छिवियों के अनेक राजकुमार शस्त्र-विद्यालय में शिक्षा पा रहे हैं। मैं भी शीघ्र ही वहाँ भरती होऊँगा। "देवदत्त ने बड़े उत्साह में भरकर कहा। उसने तीर धनुष से उतारकर तूणीर में रख लिया—"पर तुम मुझे शस्त्र-विरत नहीं कर सकते।"

"इन हँसते हुए फूलों, नाचती हुई लहरों और गाते हुए पक्षियों से ही मेरा जगत् बना हुआ है। तुमने उसे क्षति न पहुँचाने के उद्देश्य से बाण रख लिया, तुम धन्यवाद के पात्र हो।"

"पर तुमसे एक बात कहता हूँ सिद्धार्थ ! ये फूल, हास्य, पक्षी और सरोवर का ही जगत् नहीं है। तुम शाक्यों के राजसिंहासन पर अधिकार करोगे। तुम्हें राज्य के चारों ओर की अन्य जातियों से संबंध रखने होंगे। तुम्हें वीर बनने के लिये उद्योग करना चाहिए।" देवदत्त ने आनंद की ओर मुख कर कहा—"क्यों आनंद ?"

आनंद ने कुछ उत्तर नहीं दिया। केवल हँसकर नंद का हाथ पकड़ लिया।

"दो-चार वर्षों में तुम विवाह-योग्य हो जाओगे। मैं कहता हूँ, यदि तुम शस्त्र-विद्या के प्रति ऐसे ही उदासीन रहे, तो कोई भी सर्वगुण-संपन्न क्षत्रिय-कुमारी तुम्हारे साथ विवाह करने के लिये उद्यत न होगी। यदि तुम्हारी माता आज होतीं, तो क्या ऐसा होता!" देवदत्त ने कहा।

"तुमने एक बार पहले भी ऐसा कहा था। क्यों राजकुमार, मेरी माता तो यहीं हैं।"

"कौन, महारानी प्रजावती? वह तो तुम्हारी विमाता हैं।"

"माता मेरी?"

"उनकी मृत्यु हो गई! सुनता हूँ, जब तुम केवल सात दिन के थे।"

"मृत्यु हो गई! मृत्यु कहते किसे हैं?"

माला गूँथते हुए कुछ सुनकर धाई दौड़कर आ गई वहीं पर। देवदत्त कुछ दूर पर चला गया।

सिद्धार्थ ने धाई से पूछा—"धाई, मृत्यु किसे कहते हैं?"

धाई ने तीक्ष्ण दृष्टि से देवदत्त की ओर देखा—"राजकुमार देवदत्त! तुम सबमें बड़े हो। मुँह से कोई शब्द निकालते कुछ भी विचार नहीं करते।"

"मैंने क्या कहा?"

सिद्धार्थ ने कहा—"राजकुमार देवदत्त ने कहा कि मेरी माता की मृत्यु हो गई!"

धाई ने ऊँचे स्वर में सिद्धार्थ के वाक्य का अंतिम भाग डुबा दिया—"चुपो, चुपो, ऐसा नहीं बकते, यह गाली है।"

"फिर मेरी माताजी कहाँ हैं ?"

"राजभवन में। तुम्हारे ही लालन-पालन के श्रम में तुम्हारे ही ध्यान और चिंतन में।"

"हैं, अवश्य हैं।"

हँसते हुए देवदत्त आ पहुँचा फिर वहीं पर—"मैंने हँसी की थी राजकुमार, महारानी प्रजावती ही तुम्हारी माता हैं।"

सिद्धार्थ ने कहा—"पर वह शब्द मुझे बड़ा प्रिय प्रतीत हुआ, जैसे अनेक दिनों का सुना हुआ—परिचित !"

"सावधान ! उसे भूल जाओ। अब मुख से प्रकट न करना। महाराज सुनेंगे, तो मुझे सूली पर लटका देंगे।" धाई ने सिद्धार्थ के पैर पकड़कर कहा।

"नहीं, न कहूँगा धाई, भूल जाऊँगा। पर क्या उसे भूल जाना ही उसे याद रखना नहीं है ? अब आज मेरा मन खेलना नहीं चाहता।" सिद्धार्थ ने कहा।

"राजभवन के भीतर चलो।"

"नहीं, इसी जामुन के वृक्ष के नीचे बैठा रहूँगा। तुम सब चले जाओ। मुझे एकांत ही प्रिय है।" सिद्धार्थ ने कहा।

धाई ने मंच पर के बिछे हुए ऊनी आसन को फटकारकर स्वच्छ कर दिया।

सब चले गए राजभवन की ओर।

सिद्धार्थ चुपचाप पेड़ की छाया में विचार करने लगा—"मृत्यु, यही वह शब्द है, धाई को अग्रहणीय, पर मेरी इच्छा बार-बार इसी को रटने की है।" वह उपवन में घूमने लगा।

वृक्ष से बिछुड़कर एक मुरझाया हुआ जुही का फूल उसके कंधे पर गिरकर भूमि पर पतित हो गया।

सिद्धार्थ ने उसे हाथ में उठा लिया—"तू अपने उज्ज्वल और

कोमल साथियों से क्यों बिछुड़ गया। तू सूख गया, मुरझा गया, तू श्री-हीन हो गया ! इसीलिये शाखा ने तुझे परित्यक्त कर दिया ? क्या इसी का नाम मैंने अभी सुना था। शाखा पर तू न-जाने कहाँ से आ गया, मैं नहीं जानता। भूमि पर की मिट्टी में तू कहाँ खो जायगा, मैं इससे भी अनजान हूँ !" वह जामुन के पेड़ के नीचे बैठ गया, उदास और अवसन्न होकर।

महारानी के साथ शुद्धोदन उपवन की ओर ही आ रहे थे। वे सब आँगन में ही उन्हें मिल गए।

महाराज ने कहा—"राजकुमार देवदत्त, युवराज का साथ क्यों छोड़ आए ?"

"उन्होंने स्वयं ही हम सबसे जाओ कह दिया। आप उन्हें जाने भी तो नहीं देते कहीं। मेरे इस छोटे-से धनुष-बाण को देखकर वह भयभीत हो उठे।" देवदत्त ने कहा।

"बड़ा भीरु स्वभाव हो गया है युवराज का, इसमें संदेह नहीं।" महारानी ने कहा।

"मैं इनके शारीरिक साहस और शक्ति के विकास के लिये भी राजभवन में ही किसी शस्त्राचार्य की नियुक्ति कर दूँगा। दुर्ग की दूसरी दीवार के भीतर बहुत बड़ा मैदान है। घोड़े और रथों की दौड़ के लिये भी पर्याप्त स्थान है। वहाँ तक इनके जाने में कोई हानि नहीं है।" महाराज ने कहा।

सब फिर उपवन की ओर चले।

नंद ने कहा—"शास्त्रों की शिक्षा देने के लिये जो गुरु आते हैं, वह आज कह रहे थे, युवराज का-सा प्रतिभा-संपन्न बालक आर्यावर्त में दूसरा कदाचित् कोई नहीं है इस समय।"

"हाँ, मुझसे भी कहते थे कि अब युवराज के लिये किसी दूसरे आचार्य का प्रबंध कीजिए, मेरी सब विद्या समाप्त हो गई।" शुद्धोदन ने कहा।

वे जब सिद्धार्थ के पास पहुँचे, तो उन्होंने देखा, वह आँखें बंद किए हुए मंच पर सो रहा है। वे सब चुपचाप वहीं बैठ गए।

महाराज ने कहा—"चुप रहो। नींद न तोड़ना युवराज की।"

अचानक सिद्धार्थ उठकर कहने लगा —"कितना मधुर! कैसा करुण! यह रुदन है या गीत?" पास बैठे हुए महाराज आदि पर उसकी दृष्टि पड़ी। वह चुप हो गया।

"क्या हुआ युवराज?" शुद्धोदन ने पूछा।

"ओट से, छिपा हुआ, कोई गाता है महाराज! मेरे उद्देश्य से, वह प्रेम की प्रेरणा से परिपूर्ण है।" सिद्धार्थ ने उत्तर दिया।

"अब वे ओट से निकलकर तुम्हारे सम्मुख ही गावेंगी। मैंने गंधर्वदेश से कई गीत-कुमारियाँ बुलाई हैं, प्रचुर धन व्यय करके। उनके शीघ्र ही कपिलवस्तु पहुँच जाने का समाचार है।"

उपवन का एक पालतू मृग आकर सिद्धार्थ के चरणों में लोटने लगा। सिद्धार्थ ने ईषत् हास्य के साथ महाराज को निहारा, और फिर उस मृग की पीठ पर हाथ फेरने लगा।

महाराज ने फिर कहा "युवराज! तुम क्षत्रिय के पुत्र हो, तुम्हें इतना कल्पनाशील न होना चाहिए। एक दिन तुम सिंहासन के अधिकारी होओगे। तुम्हें जाति के मित्र और शत्रु दोनो से संबंध रखना पड़ेगा। इसलिये तुम्हें लोक-व्यवहार सीखना उचित है। प्रत्येक प्रहर मूक रहकर अपने ही विचारों में डूबे रहने से तुम्हारे स्वास्थ्य पर इसका हानिकर प्रभाव पड़ेगा। कल से इस दीवार के द्वार तुम्हारे लिये मुक्त होंगे। वहाँ जो मैदान है, वहाँ तुम्हारे व्यायाम, खेल-कूद, घोड़े और रथों की दौड़ तथा शस्त्र-विद्या के अध्ययन का प्रबंध होगा। ये सब सीखने तुम्हें आवश्यक हैं।"

"मैं सीख चुका हूँ महाराज ये सब।" सिद्धार्थ ने उत्तर दिया।

"कब?" साश्चर्य पूछा महाराज ने।

"यह नहीं बता सकता । काल की बड़ी अनंत गहराई है महाराज !"

"क्या किसी और जन्म की बात तुम कह रहे हो ?"

"यह भी नहीं जानता ।"

"घोड़ा दौड़ा सकते हो ? शस्त्र चला सकते हो ?"

"हाँ महाराज, आप परीक्षा ले सकते हैं ।"

"बड़ी प्रसन्नता की बात है । छंदक तुम्हारा प्रिय सखा है । वह तुम्हारा सारथी नियुक्त हुआ ।"

"केवल एक आपत्ति है महाराज !"

"क्या ?"

"मैं निरपराध जीवों के ऊपर शस्त्र न चलाऊँगा ।"

"अच्छी बात है । कल से शस्त्र-विद्यालय के आचार्य तुम्हारा हस्त-कौशल देखेंगे । फिर एक दिन नियत किया जायगा तुम्हारी परीक्षा के लिये ।"

३. हलात्मव

कपिलवस्तु सात दीवारों से घिरी हुई राजधानी थी। सबके भीतर पहली दीवार से घिरा हुआ राजभवन था। उसमें परिवार और दास-दासियों-सहित महाराज निवास करते थे। उसके चारों ओर दूसरी दीवार के भीतर उनके निकटतम संबंधी रहते थे। तीसरी दीवार के भीतर शाक्यों के अन्य वंशधरों के भवन थे। राज्य का राजकोष, न्यायालय आदि राज्य-प्रबंध के भवन यहीं बने हुए थे। यहीं शाक्यों के उस गणतंत्र की सार्वजनिक सभा-संथागार के अधिवेशन होते थे। चौथी दीवार के भीतर राज्य की सेना आदि के नायक और अधिनायकों की बस्ती थी। यहीं राज्य के शस्त्र और शास्त्र के विद्यालय भी थे। पाँचवीं दीवार के भीतर नगर था। राज्य का भीतरी और बाहरी वाणिज्य वहीं होता था। सबसे अधिक घनी जन-संख्या वहीं थी। भाँति-भाँति के व्यवसायी, श्रम और शिल्पजीवी सब वहीं रहते थे। क्षेत्र-फल में भी वह सब भागों से बड़ा था, चहल-पहल भी वहाँ सबसे अधिक थी। नगर के बाहर, दोहरी दीवार के भीतर, राज्य की सेना रहती थी। वहीं शस्त्रागार, गजशालाएँ और अश्वशालाएँ थीं। राज्य की सेना का सामान बनाने की शिल्प-शालाएँ भी वहीं थीं, और कारागार भी वहीं अवस्थित था।

सिद्धार्थ का मन इन सातों दीवारों को छेदकर बाहर जगत् में मिल जाना चाहता था। इन सातों ग्रंथियों को भेदकर मुक्त पवन की भाँति प्रकृति में समा जाना चाहता था।

राजभवन से केवल एक ही मार्ग दुर्ग के सबसे बाहरी सिंहद्वा-

तक चला गया था। दुर्ग के भिन्न-भिन्न विभाग इस एक ही मार्ग से परस्पर संबद्ध थे। यह मार्ग जहाँ पर किसी दीवार का अतिक्रमण करता था, वहाँ एक भीतर की ओर दूसरा बाहर, दो-दो प्रहरी नियुक्त थे।

सिद्धार्थ के लिये पहली दीवार में द्वार खुला। आनंद और देवदत्त दुर्ग के उस दूसरे विभाग में ही रहते थे। वहाँ जो बड़ा मैदान था, वहाँ उन चारों राजकुमारों की शस्त्र-शिक्षा का प्रबंध किया गया। सुदत्त शस्त्राचार्य नियुक्त हुए। वह नियमित समय में राजकुमारों को हस्त-कौशल और व्यायाम की शिक्षा तथा उनका अभ्यास कराते थे। उन्हें अस्त्र-निक्षेप और शस्त्र-संचालन सिखाया जाने लगा। पैदल रथ और वाहनों की दौड़ की शिक्षा दी जाने लगी।

महाराज ने इस बात के लिये अत्यंत सावधान होकर प्रबंध किया कि बूढ़े, रोगी, मृतक और संन्यासी, इन चार निमित्तों में से कोई युवराज के समीप न आ जाय। उस भाग में रहनेवाले संबंधियों को सचेत कर दिया था कि युवराज की शिक्षा के समय कोई निमित्त उनके मार्ग में न आवे। स्थान-स्थान पर मार्ग में इसकी रोक के लिये प्रहरी भी बिठा दिए गए।

शस्त्र की शिक्षा में भी सिद्धार्थ सब राजकुमारों में बुद्धि का तीव्र निकला। उसका हस्त-लाघव, पैनी दृष्टि, साहस और स्फूर्ति देखकर एक दिन आचार्य ने महाराज से कहा—"निःसंदेह युवराज एक संस्कारी बालक है। इसकी प्रत्येक बात में मुझे पूर्व-जन्मों की साधना प्रतिफलित दिखाई देती है।"

जीवों के ऊपर बाण चलाने के लिये सिद्धार्थ एक क्षण के लिये भी सम्मत नहीं हुआ। वह किसी दूसरे को ऐसा करते हुए देखने को भी तैयार न था।

एक साल का वृक्ष था, उसी पर बाण चलाकर राजकुमार लक्ष्य-साधना किया करते थे। कालांतर में एक दिन सिद्धार्थ उस वृक्ष के नीचे स्थित होकर ध्यान से कुछ देखने लगा।

आचार्य ने पूछा—'क्या देख रहे हो सिद्धार्थ! ऐसी तन्मयता के साथ?"

"यह वृक्ष और वृक्षों के समान नहीं दिखाई दे रहा है। कुछ विकृत और रस हीन हो गया है।"

"हाँ, युवराज! यह सूख चला है।"

"क्यों?"

"इसका तना निरंतर बाणों के आघात से जर्जरित हो गया, इसी से। इसमें भी जीव है।"

"इसमें भी जीव है?"

"हाँ, यदि जीव न होता, तो यह बढ़ता कैसे?"

"सच है आचार्य! मैं अब वृक्ष पर भी तीर न चलाऊँगा। एक बात पूछता हूँ गुरुदेव! आप भ्रम दूर कर देंगे मेरा?" सिद्धार्थ उन्हें और भी तटस्थता की ओर ले गया।

"शस्त्र-संबंधी नहीं है वह, शास्त्र-संबंधी है।"

"भ्रम दूर करने के लिये बड़ा भारी मानसिक बल चाहिए, मैंने कभी वेदों का अध्ययन किया ही नहीं।"

"क्यों, शस्त्राध्ययन के आरंभिक दिनों में आपने कहा था कि धनुर्विद्या वेद का ही एक अंग है। उसमें भी मनोबल की आवश्यकता है। बिना मंत्र-सिद्धि किए उसकी पूर्णता नहीं।"

"तुमसे कुछ नहीं छिपा सकता युवराज! महाराज से भी। मैंने मंत्र सिद्ध किया ही नहीं।"

"क्यों?"

"कोई गुरु नहीं मिला।"

"पर मैं एक साधारण-सी बात पूछता हूँ, आप जानते ही होंगे। बहुत दिनों की बात है, मैंने एक शब्द सीखा—'मृत्यु'। मैंने शास्त्राचार्य से इसका अर्थ पूछा। उन्होंने कहा कि मृत्यु ब्रह्म का ही एक अपर नाम है। वह ब्रह्म के ही समान सूक्ष्म और जटिल है। आप अधिक न बताइए। केवल 'हाँ' या 'ना' में ही आपका उत्तर चाहता हूँ।"

निमित्तों की चर्चा करनी भी निषिद्ध थी, युवराज के साथ। पर उसकी आकुलता और विनय ने आचार्य के मन की राज-चेतावनी को ढक दिया। उन्होंने कहा—"पूछो युवराज, मैं यथा-शक्ति उत्तर दूँगा।"

"इस वृक्ष के सूख जाने और मृत्यु में कोई संबंध है?"

"है युवराज।"

आशा में भरकर युवराज ने पूछा—'क्या आचार्य !'

"वनस्पति का सूख जाना ही उसकी मृत्यु है।"

"और मृत्यु ?"

"जीवन के दूसरे सिरे का नाम मृत्यु है।"

सिद्धार्थ ने बड़ी करुणा-भरी मुसकान के साथ कहा—"उस दिन राजकुमार देवदत्त ने जो पक्षी बाण मारकर भूमि पर गिरा दिया था, वह फिर न उठ सका !"

"हाँ, कुछ देर बाद उसकी मृत्यु हो गई !"

"जीवों के ऊपर तीर न छोड़ने की प्रेरणा मेरे मन में स्वयं ही हो गई आचार्य ! यह उचित ही हुआ। फिर वह चिड़िया कहाँ गई ?"

आचार्य ने देखा, युवराज प्रश्नों की झड़ी लगा रहा है। उन्होंने उस प्रकरण का वहीं पर अंत कर दिया—"कोई नहीं बता सकता, मरकर वह चिड़िया कहाँ चली गई।"

"कोई भी नहीं ?" अत्यंत निराश होकर युवराज ने पूछा।

"नहीं !"

सिद्धार्थ ने आकाश की ओर देखा। उसकी दृष्टि एक विशाल वृक्ष पर पड़ी। उसने उसकी ओर संकेत कर कहा—"वह बकुल का वृक्ष भी तो सूख गया। उस पर हमने कभी तीर नहीं चलाए।"

"वह वृद्ध हो गया था। युवराज!"

दूसरा निमित्त खुलने लगा सिद्धार्थ पर।

उसने पूछा "वृद्ध क्या हुआ आचार्य?"

"पुराना पड़ गया।"

"पुराना पड़ गया! पुराना पड़ने से तो उसे और भी समृद्ध होना चाहिए था। चार-पाँच वर्ष पहले मेरे अंग इतने बलवान् नहीं थे, जितने अब हैं।"

आचार्य को राजाज्ञा का स्मरण हुआ। वह घबराकर बोले—"युवराज, अब इस विषय की चर्चा बंद कर दो। समय आने पर तुम बड़े हो जाओगे. और इन बातों को स्वयं ही समझने लग जाओगे।"

युवराज ने कहा "क्या आपको भी यह राजाज्ञा सुनाई गई है कि सिद्धार्थ के साथ अधिक बातें न की जायँ। पर जितने मेरे प्रश्न छिपा दिए जा रहे हैं, वे उतने ही अपने आप खुलते जा रहे हैं।"

"इसलिये तुम्हें अधीर नहीं होना चाहिए युवराज! यहाँ हम सब तुम्हारी मंगल-कामना और हित-साधन के ही लिये हैं।"

"मृत्यु और वृद्धावस्था इनके नाम आज ज्ञात हुए हैं। नाम से क्या होता है। मैंने देखा है इन्हें। ये दोनो भाई-बहन हैं, क्यों आचार्य!" सिद्धार्थ ने पूछा।

आचार्य ने कुछ हँसकर कहा—"मैं नहीं जानता युवराज! सब राजकुमार चले गए हैं। बड़ा विलंब हो गया। हमें भी तो जाना चाहिए, चलो।"

आचार्य सिद्धार्थ को राजभवन तक पहुँचाने चले गए।

एक दिन राजकुमारों की घुड़दौड़ के लिये नियत हुआ। उन चारों राजकुमारों के अतिरिक्त और भी उनके अनेक ज्ञाति-भाई एकत्र हुए, उसी मैदान में। अच्छी तरह देख भालकर कुछ दर्शकों की भीड़ भी प्रविष्ट की गई वहाँ। आवश्यक मार्गों में प्रहरीगण रख दिए गए।

पहली दौड़ आरंभ होने लगी।

युवराज का सारथी और सखा छंदक रास पकड़कर कंथक को उनके समीप ले गया।

कंथक सिद्धार्थ का परम प्रिय घोड़ा था। वेग में पवन, कांति में हिमाचल और दर्शन में कुबेर के वाहन की समता रखता था। कहते हैं, वह युवराज की बोली भी समझ जाता था।

सिद्धार्थ ने घोड़े की गर्दन थपथपाकर कहा—"कंथक! तुम आ गए?"

कंथक ने हिनहिनाकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की।

छंदक बोला—"कंथक, यदि दौड़ में आज तुम सर्वप्रथम न हुए, तो बड़ी लज्जा की बात होगी। छंदक ने रास युवराज को सौंपी "आप ही सर्वप्रथम होंगे युवराज, मैं जानता हूँ।"

सिद्धार्थ ने स्मितानन से अश्व पर आरोहण किया।

दौड़ आरंभ हुई आचार्य का संकेत पाकर।

आदि में कुछ पिछड़ गए थे युवराज। उन्होंने कंथक को हलकी एड़ लगाई। उसने हवा होकर सबको बहुत पीछे छोड़ दिया! उनकी इस तीव्रता से सारी दौड़ उत्तेजित हो उठी, और उनकी प्रतियोगिता के लिये मन-प्राण से चेष्टा करने लगी।

कोई घोड़ा मचल गया, कोई आरोही की मार खाने के कारण उसे भूमि पर फेककर अन्यत्र दौड़ गया। कोई घोड़े को पीटते-पीटते भी साहस को स्थिर रखकर सबके अंत में दौड़ा जा रहा था।

कंथक उड़ा जा रहा था। उसके चरण भूमि का स्पर्श भी नहीं कर रहे हैं, ऐसा दूर से प्रतीत हो रहा था। अन्य प्रतियोगी बहुत दूर छोड़ दिए सिद्धार्थ ने। उन सब में देवदत्त ही अग्रणी था।

विजय-स्तंभ अब थोड़ी ही दूर रह गया था। महाराज शुद्धोदन का मस्तक युवराज की सफलता से उन्नत और आलोकित हो उठा।

अचानक! अचानक सिद्धार्थ का घोड़ा रुक गया। वह घोड़े से उतरकर समीपवर्ती एक वृक्ष की छाया में चला गया। उसके अन्य प्रतियोगी आगे बढ़ गए। राजकुमार देवदत्त दौड़ में सर्व-प्रथम हो गया।

भीड़ ने बढ़कर चारों ओर से युवराज को घेर लिया।

महाराज ने पूछा—"क्यों युवराज! क्या बात हो गई?"

सिद्धार्थ ने उत्तर दिया, बड़ी साधारण मुद्रा में—"कुछ नहीं महाराज!"

"फिर घोड़ा क्यों रोक दिया? दौड़ को विजित कर लेने में कुछ ही चाप भूमि शेष थी।"

सिद्धार्थ कटि-प्रदेश से अपना उत्तरीय खोलकर उससे घोड़े के मुख पर व्यजन करने लगा—"अत्यंत तीव्र गति से कंथक का श्वास चलने लगा था। इसका विकल होकर हाँफना मुझसे देखा नहीं गया। मैंने दौड़ की विजय इस मूक प्राणी की विश्रांति के साथ बदल दी महाराज! यह बड़ी कृतज्ञता से भरी आँखों से मुझे निहार रहा है। यह वाणी-विहीन पशु एक-एक रोम से मुझे धन्यवाद दे रहा है। विजय के दर्प से यह करुणा की प्रेरणा मेरे लिये कहीं अधिक मधुर और प्रिय हो गई!"

महाराज ने भावों के आवेश में सिद्धार्थ को छाती से लगाया। उसके सिर पर हाथ रखकर उसका माथा सूँघा। उन्हें असित ऋषि की भविष्य-वाणी याद आई और वह विकल हो उठे।

अनेक लोगों ने सिद्धार्थ के इस त्याग और दया की सराहना की।

देवदत्त चुपके चुपके अपने एक सखा से कह रहा था –"और सिद्धार्थ की इस मूर्खता से लाभ उठाया देवदत्त ने।"

और एक दिन की बात है। सिद्धार्थ स्नानागार में जाने के लिये तैयार हो गया था। उसी समय उसने बाहर सड़क पर किसी को पीटते हुए सुना। वातायन से झाँककर देखा, एक रथवान रथ में जुते हुए बैल को बुरी तरह पीट रहा है। युवराज बाहर की ओर भागा। उसके अंग पर केवल एक परिधान था।

भृत्य ने कहा—"युवराज ?"

"हाँ-हाँ, अभी थोड़ी ही देर में लौट आता हूँ मैं। तुम मेरे नवीन वस्त्र लाकर रख दो यहाँ तब तक।"

भृत्य वस्त्र लाने चला गया।

युवराज ने बाहर आकर देखा। रथवान अभी तक बैल को पीट ही रहा था। उसने कहा—"बैल को इतनी निर्दयता से क्यों पीट रहे हो ?"

रथवान ने नहीं पहचाना युवराज को, कहने लगा "तुम क्या जानो। खा-खाकर यह मोटा हो गया है। परिश्रम करने के नाम पर मरा जाता है।" उसने फिर बैल की पूँछ मरोड़ी और उसकी पीठ पर सटासट कोड़े जमाने लगा।

"नहीं नहीं, ऐसी निर्दयता से न मारो इस मूक पशु को।" युवराज ने उसका हाथ पकड़ लिया।

"छोड़ो जी।" कहकर उसने अपना हाथ छुड़ा लिया।

"सड़क पर एक गड्ढा हो गया है। तुम्हारे रथ का चक्र उसी में अटक गया है। मैं चक्र को सहारा देकर उठा दूँगा, तुम भी हाथ लगाओ। रथ चल पड़ेगा।"

रथवान ने बात मान ली। दोनों मिलकर चक्र को उठाने लगे।

"युवराज! युवराज! यह क्या?" यह क्या? कहकर कई लोग भिन्न-भिन्न दिशाओं से दौड़ पड़े वहाँ को।

रथ चल पड़ा! रथवान ने गिटपिटाकर अपना माथा युवराज के नंगे चरणों पर रख दिया।

"निरस्त्र और नंगे पैर आप कहाँ चले आए युवराज!" दो सशस्त्र प्रहरी थे उस रथ के साथ, उन्होंने बड़ी विनम्रता के साथ कहा।

सिद्धार्थ ने उस रथवान को हाथ पकड़कर भूमि पर से उठा दिया—"यह रथ अटक गया था यहाँ। अल्प सहायता देकर पशु का भारी कष्ट हर लिया मैंने। यह भी कोई बात हुई!"

"बड़ा मूर्ख है रे तू रथवान! महाराज सुनेंगे, तो क्या कहेंगे?" एक प्रहरी बोला।

"तभी तो कहावत है, बैल हाँकनेवाले की बुद्धि बैल के ही समान होती है।"

रथवान फिर हाथ जोड़कर सिद्धार्थ के पैरों पर गिरने लगा।

युवराज ने उसे रोककर कहा—"इसका दोष नहीं। मैं स्वयं ही अपनी इच्छा से आ गया। क्या है इस रथ में बहुत भारी?"

"राजकर एकत्र होकर आया है, युवराज राजकोष में जमा होने जा रहा है।" पहले प्रहरी ने कहा।

दूसरा बोला—"आप राजभवन के भीतर पधारें युवराज! महाराज यदि देख पावेंगे, तो हम लोगों के लिये मरण हो जायगा।"

रथ समीप ही स्थित हो गया था। रथवान उसे रोक आया था।

दूसरा प्रहरी झिड़ककर बोला—"अब पत्थर की मूर्ति के समान क्या खड़ा हो गया? जाता क्यों नहीं, हाँकता क्यों नहीं। लोगों का ध्यान खिंच रहा है, इधर-उधर से।"

दोनों प्रहरियों ने हाथ जोड़कर क्षमा माँगी युवराज से। युवराज हँसकर बोले—"तुमने क्या अपराध किया!"

रथ चला। प्रहरियों ने उसका अनुसरण किया। सिद्धार्थ राज-भवन को लौट गए। उनका भृत्य दौड़ता हुआ वहीं आ पहुँचा था। दो-चार दर्शक जो और एकत्र हो गए थे, वे भी युवराज के इस दया-भाव की सराहना करते हुए चल दिए।

प्रति वर्ष चैत्र-मास में शाक्यों के राज्य-भर में हलकर्षणोत्सव मनाया जाता था। कृषकगण हल-बैलों को नहला-धुलाकर फूल-माला, वस्त्रों से सँवारते थे। स्वयं भी सुसज्जित और अलंकृत होकर स्त्री-पुत्रों-सहित खेतों पर जाते थे। पकान्न तथा मिष्टान्न बनाकर खाते और खिलाते थे। ढोल, नगारे, तुरही और शृंग बजाकर नाचते और गाते हुए घर से चलते थे।

खेतों पर पहुँचकर वसुंधरा माता और कृषि के देवता को भोग लगाते थे। फिर उनकी स्तुति में गाते, नाचते और हल चलाते थे। नवयुवक कृषक उसी दिन सबसे पहले हल चलाना आरंभ करते थे।

घर से तैयार भोजन खेतों पर ही ले जाते थे, मध्याह्न में वहीं सब मिलकर खाते थे। इसके पश्चात् वे फिर इंद्र और सूर्य की स्तुति के गीत गाते। जोती हुई भूमि में बीज बोते और फिर गाते-नाचते हुए ही संध्या-समय तक अपने-अपने घरों को लौटते थे।

दुर्ग के भीतर राजपरिवार में भी यह उत्सव मनाया जाता था। विशेष साज-सज्जा और धूमधाम के साथ। कहते हैं, पहले दूर-दूर के ग्रामों से अनेक लोग निमंत्रित होकर आते थे इस हल के उत्सव में। पर अब बाहर से कुछ चुने हुए लोग ही आते हैं। कदाचित् युवराज के वैराग्य का कोई निमित्त न घुस आये, इस भय से।

सोने और चाँदी के काम से जड़े हुए हल बने हुए रक्खे थे,

जो केवल उत्सव की ही शोभा थे। स्वयं महाराज, उनके संबंधी एवं राजकुमार उन्हें चलाते थे।

शाक्यों के इस गणतंत्र की रक्तप्रवाहिनी नाड़ी कृषि ही थी। इसीलिये कृषक वृत्ति को राजपरिवार इस उत्सव के द्वारा प्रतिष्ठित करता था।

इस वर्ष का उत्सव हो रहा था। सिद्धार्थ की अवस्था इस समय चौदह वर्ष की हो गई थी। हल के उत्सव में आज वह सर्वप्रथम हल चलावेंगे। राजपरिवार में विशेष उत्साह था।

गुरुजनों के हल चलाने के पश्चात् युवराज की बारी आई। नवीन वस्त्रालंकारों से सुसज्जित सिद्धार्थ ने हल पर हाथ रक्खा। दो सेवक बैलों के निकट खड़े थे और दो युवराज के दोनो पार्श्वों में। स्वयं महाराज युवराज की पीठ पर हाथ रक्खे हुए थे।

संकेत पाकर बैल चले। फाल ने एक-दो ही पग भूमि खोदी होगी कि युवराज ने हल पर से हाथ उठा लिया और उस स्थान से दूर चले गए बड़ी विरक्ति दिखाकर।

महाराज ने चिंता-पूर्वक पूछा—"क्या हुआ युवराज?"

"नहीं महाराज, मैं न चलाऊँगा हल।"

"चुपो, चुपो, ऐसा न कहो। माता वसुंधरा की उर्वरा-शक्ति क्षीण हो जाती है ऐसे। सूर्य और इंद्र देवता कुपित होंगे। राज्य में अकाल छा जायगा, तो प्रजा क्या खायगी।"

सिद्धार्थ सम्मत न हुआ।

"कुछ क्षण तो चलाओ।"

"नहीं महाराज, कुछ ही देर में मैंने देखा, हल के दुर्दांत लौहखंड ने अनेक छोटे-छोटे जीवों को कुचल दिया है।" सिद्धार्थ ने कहा।

महाराज ने इस तर्क को आगे न बढ़ाया और कहने लगे—"अच्छा, तुम उदास न होओ। शकुनार्थ चला ही लिया है तुमने हल। अब कोई तुमसे कुछ न कहेगा। उत्सव में तो चलो।"

"अपराध क्षमा हो महाराज ! मैं यहीं से देख रहा हूँ और गीत सुन रहा हूँ।" युवराज वहीं बैठ गया।

उत्सव अच्छिन्न भाव से हो रहा था। और दूसरे राजकुमार हल चलाने लग गए थे।

शुद्धोदन ने सिद्धार्थ के पास से जाकर नंद से कहा—"राजकुमार तुम जाओ, युवराज अकेले ही बैठे हैं। उनके मन में फिर उदासी छा गई है। इधर-उधर की बातों से उनका मनोरंजन करो।"

नंद जब वहाँ गया, तो उसने देखा, युवराज महारानी प्रजावती से बातें कर रहे थे।

"अपनी-अपनी रुचि है महारानीजी ! उत्सव के दिन सबको हर्ष मनाना चाहिए। इसी उद्देश्य को लेकर मैं भी सम्मिलित हुआ था उसमें, परंतु परंतु—"सिद्धार्थ का कंठ रुद्ध हो गया !"

"परंतु क्या हुआ ? किसी ने कुछ कह दिया ?"

"सिद्धार्थ से कोई कुछ नहीं कहता। ये अब मुझे अंधकार में रख देने का प्रयत्न कर रहे हैं। प्रकृति अपनी मूक भाषा में मुझे कुछ संदेश देती है, और मनुष्य मेरी जिज्ञासा को अपने कौशल से मिटा डालता है। महारानी ! आप भी उस षड्यंत्र में सम्मिलित हैं ?"

"किस षड्यन्त्र में ?" चकित होकर प्रजावती ने कहा। वह सिद्धार्थ के समीप ही बैठ गई हरी दूब के ऊपर।

"यही जो सिद्धार्थ को प्रकाश की ओर नहीं जाने देता।" युवराज ने अपना मुकुट उतारकर भूमि पर रख दिया—"बड़ा भारी जान पड़ता है।"

नंद खड़ा-खड़ा सोच रहा था, क्या कहूँ। अंत में उसने मुख खोला 'युवराज ! गंधर्व-देश से जो पाँच गायिकाएँ आ रही थीं वे न आ सकीं हल के उत्सव में।"

महारानी ने कहा—"बैठो नंद।"

नंद भी बैठ गया। सिद्धार्थ ने नंद की बात का कुछ भी उत्तर नहीं दिया। कदाचित् उसके विचार की गहराई तक नंद के शब्द नहीं पहुँच सके।

सिद्धार्थ ने कहा—"आप भी तो मुझसे कुछ छिपा रही हैं ?"

प्रजावती ने युवराज की पीठ पर बिखरे हुए कुंतल अपने हाथ में लिए—"तुम मेरे नेत्रों की ज्योति हो। तुमसे कुछ क्यों छिपाऊँगी।"

"बताओ, फिर मणिभद्र पितृव्य कहाँ गए ?" युवराज ने तत्क्षण ही पूछा।

"वाराणसी चले गए हैं। वहाँ से राजगृह जाने का विचार है उनका।" महारानी ने उत्तर दिया।

"इस प्रकार एकाएक क्यों चले गए ? वह मुझ पर बड़ा स्नेह रखते थे। जाते समय उन्होंने मुझे बुलाकर क्यों आशीर्वाद नहीं दिए ?"

"वाराणसी में उनके गुरु रहते हैं। उन्होंने उन्हें रातों-रात किसी आवश्यक काम के लिये बुलाया था। जाते समय किसी से भी भेंट करने का अवसर उन्हें नहीं मिला।"

सिद्धार्थ ने एक गहरी साँस ली—"अच्छा, छोटी काकी कहाँ हैं ?"

"वह रूठकर अपने पिता के घर चली गई हैं।"

"अब कब लौटेंगी ?"

"कौन कह सकता है ? भगवान् जाने।"

"मुझे बहुधा उनकी याद आती है और उनके स्नेह में इतनी कृत्रिमता थी कि उन्होंने जाते समय कहा भी नहीं। और एक दिन इसी प्रकार तुम—"

महारानी ने युवराज के अधरों पर अपना हाथ रखकर उसे आगे

नहीं बोलने दिया—'तुम्हें न-जाने क्या हो गया। जब तुम चुप रह जाते हो, तो फिर बोलने नहीं और जब बोलने लगते हो, तो फिर विचार नहीं करते। तुम मेरे प्राणों के आधार हो।"

"प्राण किसे कहते हैं?"

"मनुष्य की विवेचना के बाहर का शब्द है यह।"

"तुम नहीं जानतीं?"

"नहीं।"

"मृत्यु क्या है?"

"मैं इसे भी नहीं जानती।"

"कपिलवस्तु की इन दोनों दीवारों के भीतर कोई भी नहीं जानता। फिर भी ये गर्व से मस्तक उन्नत करते हैं और इन्हें अपनी विद्या का अभिमान है।"

वृक्षों की ओट में छिपा हुआ हल का उन्मत्त नृत्य के उल्लास और गीत के स्वरों से मुखरित हो रहा था। महारानी के साथ की दासियाँ कुछ दूर पर खड़ी-खड़ी उस ओर ही खिंची हुई थीं। वे आपस में कह रही थीं—"यह युवराज भी कैसे होंगे। ऐसे सुंदर नृत्य-गीत को छोड़कर यहाँ बैठे हैं। पशु भी तो ऐसा हृदय नहीं रखते।"

"दुर्ग की सातों दीवारों के बाहर क्या है महारानी?" सिद्धार्थ ने फिर पूछा।

"नवीन कुछ भी नहीं। ऐसा ही जगत् है जैसा यहाँ।" महारानी ने कहा।

"फिर मुझे वहाँ जाने क्यों नहीं दिया जाता? राजकुमार देवदत्त तो गए हैं।"

"राजकुमार देवदत्त की दूसरी बात है। तुम कपिलवस्तु के युवराज हो।"

"तो क्या युवराज को प्रजा से इसी प्रकार छिपा दिया जाता है, जैसे मुझे ?"

प्रजावती हँसती हुई उठी—"देखो युवराज, यह सब तुम्हारी रक्षा के लिये है। तुम इसे छिपाना क्यों कहते हो ? समय तुम्हारी आयु की वृद्धि करेगा, और तुम देखोगे, कपिलवस्तु के दुर्ग की सातों दीवारें तुम्हारे लिये अनावृत हो जायँगी। यही नहीं, विजयी वीर के लिये संसार की दशों दिशाएँ भी तो विमुक्त ही हैं। चलो उत्सव में, विश्राम कर चुके।"

"मुझे इन उत्सवों के आरंभ में इनका विषाद से भरा हुआ अंत दिखाई देता है। जब दर्शक और प्रदर्शक, दोनो थककर चले जाते हैं, तब उत्सव का स्थान प्रगाढ़ शून्यता से भर जाता है, और मैं विचारता ही रह जाता हूँ, जब परिणाम में यही शून्यता थी, तो फिर गीत क्यों आरंभ किया ?"

"जैसे वृक्ष में पुष्प खिल जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के मानस में एक उमंग जागती है, वही उत्सव में प्रकट हो उठती है। यह एक स्वाभाविक बात है। ऋतु का प्रभाव है। अभी कल तक देखो, यह वनराजि कैसी हीन-श्री थी; आज देखो, कितनी मनोहारिणी और कांतिमयी है।"

"और, कुछ ही दिन में फिर वैसी ही हो जायगी।"

"यह भगवान् का बनाया हुआ नियम है। इसमें दोष नहीं खोजना चाहिए।"

"भगवान् देखे हैं तुमने ?'

"नहीं।" प्रजावती ने कहा।

"किसी ने देखे हैं ?"

प्रजावती के सामने ऋषि-मुनि, साधक-संन्यासी की मूर्तियाँ आईं, उसने उन्हें निमित्त जानकर छोड़ दिया, कहा—"हाँ, कोई-कोई देखते हैं।"

"कहाँ ? मैं भी देखूँगा उन्हें ।" सिद्धार्थ उठ गया ।

नंद ने कहा—"युवराज, वह पवन की भाँति सूक्ष्म हैं। नहीं दिखाई देते । चलिए उत्सव में ।" उसने सिद्धार्थ का हाथ पकड़ लिया ।

दूसरा हाथ प्रजावती ने गह लिया ।

अत्यंत विमन होकर सिद्धार्थ ने संकोच-भरे पैर बढ़ाए उत्सव की ओर—"बाहर जगत् की बात मैं नहीं जानता । इस राजभवन में सर्वत्र एक अभाव—एक शाश्वत अभाव दिखाई देता है । गीत शेष हो जाता है, सूर्य अस्त हो जाते हैं । पुष्प मुरझा जाने के लिये हैं और वृक्ष सूख जाने के लिये ।"

४. मारने और बचानेवाले

जगत् के दुःखद दृश्य और दुःख का ज्ञान कहाँ तक सिद्धार्थ से छिपाया जाता ? मनुष्यों पर राजाज्ञा ने नियंत्रण किया, प्रकृति किसके कहने पर चली ? निशा दुर्ग की सातों दीवारों को लाँघकर युवराज के पास आ जाती, चंचलता अपने अदृश्य परों में स्थावर और जंगम, सबके सिरों के ऊपर मँडराए रहती, और मृत्यु, उसके दुर्निवार्य घातक दंश से कौन बच सका ?

अनेक प्रकार की चिंताओं ने आकर घेर लिया महाराज शुद्धोदन को। भीतर-ही-भीतर घुन की भाँति खरोचने लगीं उन्हें। दिन-रात इसी सोच में पड़े रहने लगे वह।

चारों निमित्तों से राजकुमारों को कहाँ तक बचाया जायगा, यह उनकी चिंता का सबसे बड़ा विषय था।

एक दिन उन्होंने महारानी प्रजावती से कहा—"बाहर के निमित्तों से हम किसी प्रकार बचाते हुए चले आ रहे हैं युवराज को, पर महारानी, ये जरा और मरण क्या धीर और अलक्ष्य गति से हमारे राजभवन की सीढ़ियों का अतिक्रमण नहीं कर रहे हैं ? आज नहीं, दस-पाँच वर्ष में क्या हम स्वयं बूढ़े न हो जायँगे ? और रोग, वह इस पंचभूतों के पिंजरे में किसी क्षण भी घुस सकता है।"

महारानी ने उत्तर दिया—"महाराज, प्रत्येक क्षण इसी चिंता में अतिवाहित करने से कोई लाभ नहीं। जो भगवान् एक दुःख देते हैं, वही उससे रक्षा और मुक्ति के उपाय भी। रोग राजभवन के किसी एकांत कक्ष में बंदी होकर छिपा दिया जायगा, मदा की भाँति ।"

"युवराज के चाचा और चाची की मृत्यु पर जो हमने उनके प्रवास-गमन का आवरण डाला था, उस पर युवराज का संशय बढ़ गया।" महाराज ने कहा।

"हाँ, मुझे ऐसा जान पड़ता है, राजकुमार देवदत्त कभी-कभी युवराज के चित्त को भरमा देते हैं।"

"बालक ही ठहरा, कदाचित् भूलकर।"

"नहीं, मैं समझती हूँ, जान-बूझकर। राजकुमार नंद ने कई बार कहा मुझसे। आपकी एक चिंता और बढ़ जायगी, यह सोचकर ही मैं आपसे कुछ नहीं बोली।" महारानी ने कहा।

"पर महारानी, राजकुमार देवदत्त को युवराज की संगति में न जाने देने की आज्ञा हम कैसे दे सकते हैं? युवराज से भी देवदत्त के साथ न जाने को नहीं कह सकते। सिद्धार्थ आयु और स्वभाव, दोनो से ही कोमल हृदय का है। इस प्रकार जाति के द्वेष का विष-बीज उसके मानस में बो देना उचित नहीं। इसके ऊपर सारी जाति क्या कहेगी हमसे? कपिलवस्तु में यद्यपि हमारी सत्ता प्रबल है, फिर भी कहने को यह गणसत्तात्मक ही है न?"

"कुछ भी हो। राजकुमार देवदत्त के यहाँ आने पर हमें युवराज की विशेष चिंता करनी चाहिए।"

"राजकुमार नंद, धाई और कई चाकरों से कह तो रक्खा है हमने कि देवदत्त के साथ सिद्धार्थ को कभी अकेला न छोड़ें।"

"बड़ी प्रबल द्वेष की भावना है राजकुमार देवदत्त में। बड़ी कुटिल बुद्धि के हैं। वह युवराज की अवस्था से कुछ बड़े हैं, यह भी उनके बड़े अभिमान की बात है। उनके पिता ने दास-दासियों के साथ उन्हें नगर-भ्रमण की स्वतंत्रता दे रक्खी है। बात-बात में युवराज के साथ नगर की ही चर्चा करते हैं।"

"युवराज कहाँ हैं इस समय ?" महाराज ने पूछा।

"अपने प्रकोष्ठ में।"

चारों राजकुमार युवराज के प्रकोष्ठ में थे। निकट ही द्वार के पास एक सेवक उनकी आज्ञाओं की प्रतीक्षा में बैठा था। वहीं पर एक धाई भी थी सिद्धार्थ की ओर विशेष ध्यान रक्खे हुए।

राजकुमार देवदत्त एक विशाल दर्पण के सामने अपने केशों को ठीक कर रहा था।

सिद्धार्थ और आनंद एक पुस्तक खोलकर किसी सूत्र की चर्चा कर रहे थे। राजकुमार नंद देवदत्त के पास ही खड़ा था।

देवदत्त ने एक लट का कुछ भाग मुकुट के नीचे दबाकर दर्पण में देखा और कहा—"न-जाने तुम दोनो राजकुमार किस वस्तु के निर्मित हो ? कोई इच्छा ही नहीं तुम्हारे !"

"क्या करना है हमें नगर देखकर। हम जो कुछ वस्तु चाहते हैं, वह नगर से हमारे लिये यहीं आ जाती है।" नंद ने उत्तर में कहा।

"हो गया, इसी पर संतुष्ट रहो। तुम्हारी अवस्था के बालक आर्यावर्त का भ्रमण करने को निकलते हैं, भूमंडल की परिक्रमा करने के लिये कमर बाँधते हैं।"

नंद कुछ भी अप्रतिभ न हुआ देवदत्त के कटाक्ष से। उसने तेजस्विता के साथ कहा—"सुना है, नगर में बड़ी धूल और कीचड़ होती है। रथ और यानों के बीच में चोट-चपेट लग जाने का भय रहता है। भीड़ में भले मनुष्यों के बीच में चोर-उचक्कों के भी दाँव चलते हैं।" नंद ने कहा—"कुछ और अवस्था बढ़ जाने पर जायँगे।"

"तुम लोगों को जगत् का तमोमय अंश ही दिखाया जाता है, उसका उज्ज्वल और चमकीला भाग नहीं देख सकते तुम। पुंडरीक

श्रेष्ठी के भवन के भीतर गया था मैं। तुम्हारा यह राजभवन क्या है उसके विशाल आकार के सामने? जैसे हाथी के सामने एक चींटी! कैसे मिट्टी-गोबर के बने हुए हो तुम? कहते क्यों नहीं एक दिन महाराज से कि हम नगर-भ्रमण को जाएँगे। मचल जाओ, खाना न खाओ। झख मारकर भेजना पड़ेगा उन्हें।" देवदत्त ने कहा। अभी उसका शृंगार समाप्त नहीं हुआ था।

"नहीं राजकुमार, हमारे आचार्य ने माता-पिता और गुरुजनों की आज्ञा पालन करने का स्वभाव बनाया है हमारा। क्या ऐसी दुःशीलता की शिक्षा तुम्हारे आचार्य देते हैं तुम्हें? और तुम्हारे माता-पिता को यह प्रसन्न मन से सहन होती है?"

देवदत्त ने कुछ ऊँचे स्वर में कहा—"जितना बड़ा यह सारा प्रकोष्ठ है, इतने बड़े-बड़े दर्पण हैं उसके भवन में। एक भवन की दीवारों में बिलकुल दर्पण ही जड़े हुए हैं—छत और आधार पर भी। ऐसी कला से लगाए गए हैं कि एक मनुष्य की अगणित प्रतिच्छवियाँ दिखाई पड़ती हैं। मैंने जब वे सहस्रों देवदत्त देखे, तो कुछ देर तक तो विस्मय-विमूढ़ खड़ा रह गया! कुहक-जाल है राजकुमार नंद! क्या कहूँ मैं तुमसे! स्वयं विश्वकर्मा की रचना जान पड़ती है।"

सिद्धार्थ भी देवदत्त की बढ़ी-चढ़ी बातें सुन रहा था। उसने पुस्तक बंद कर हाथ में ली, और आनंद-सहित उनकी ओर बढ़ा।

देवदत्त बोला—"और यह हमारे युवराज, इन्हें विदित ही नहीं, इनके राज्य में क्या है? इन्हें तो एक कोने में बंद रहना ही सुखकर है।"

"अपनी-अपनी रुचि है राजकुमार!" सिद्धार्थ ने अपनी सहज मृदु वाणी से कहा—"मुझे यह शिक्षा दी गई है, जो थोड़े में है, वही बहुत में भी; जो कण में है, वही राशि में। राज-

कुमार आनंद ! क्या हमने अभी नहीं पढ़ा, जो बिंदु में है, वही विराट् में।"

आनंद ने अनुमोदन किया—"हाँ।"

"और मुझे इस बात का विश्वास हुआ है राजकुमार ! क्या तुम्हें इसमें शंका है ?" सिद्धार्थ बोला।

"ठीक है युवराज !" देवदत्त ने कहा—"जो पतीली में है, वही भात के एक ग्रास में भी। और, जो एक ग्रास में है, वही चावल के एक दाने में भी। मैं पूछता हूँ, क्या चावल का एक ही दाना तुम खाते हो ? क्या उसी से तुम्हारी परितृप्ति होजाती है ?" उसने बड़ी विजय के दर्प के साथ दर्पण में अपने प्रतिबिंब को देखा।

"यह कुतर्क है राजकुमार ! इससे मेरा विचार चूर्ण नहीं हो सकेगा।" सिद्धार्थ ने शांति-पूर्वक कहा।

देवदत्त ने नंद को लक्ष्य कर कहा—"सबसे कह देने की बात नहीं है वह, राजकुमार नंद !"

नंद ने पूछा—"क्या ?"

"वही, जो अभी मैंने तुमसे कही। वह दर्पणवाली बात।" देवदत्त ने रहस्य का घेरा बनाते हुए कहा—"महाराज की भी तो आज्ञा नहीं है प्रत्येक बात प्रत्येक से कहने के लिये।"

दूज के चंद्रमा की-सी ज्योत्स्ना लहक उठी सिद्धार्थ के अधरों के बीच में—"दर्पण हमारे दर्प को बढ़ाता है। दर्प सत्य के बीच का सघन आवरण है। अभाव की भावना दर्प है। शील के पग ही सत्य की दूरी कम करते हैं।"

देवदत्त ताली बजाकर कहने लगा—"क्या युवराज ! आचार्य को कंठस्थ किया हुआ पाठ सुना रहे हो ? दर्पण कितना स्पष्टवादी है। तुम्हारी नाक में यदि मैल लगा हो, तो यह सत्य और स्पष्ट प्रकट कर देता है।"

"मैं कहता हूँ तुमसे राजकुमार, यह सत्य को विकृत कर दिखाता है।" सिद्धार्थ ने पुस्तक के ताड़-पत्रों को भले प्रकार अपने हाथ में सँभाला।

"अद्भुत बात तुम कह रहे हो युवराज! क्यों राजकुमार नंद? क्यों आनंद?" देवदत्त ने पूछा।

"यही तो बात है। ऐसे ही तो माया ने सत्य को छिपा रक्खा है।"

"यह केवल तुम्हारी कल्पना है।"

"देखो।" सिद्धार्थ ने एक ताड़-पत्र हाथ में लिया, और उसे देवदत्त की ओर कर कहा—"इसमें अंकित मंत्र को पढ़ो, ठीक है न?"

"हाँ-हाँ, पढ़ लिया।" देवदत्त ने बड़ी उपेक्षा से कहा।

"अब पढ़ो।" सिद्धार्थ ने अब वह पर्ण दर्पण के सामने रक्खा—"पढ़ो, अब दर्पण इस सत्य को कैसे प्रकट कर रहा है।"

देवदत्त ने देखा उधर। देखकर वह चकराया—"हैं! यह तो—" उसने ताड़-पत्र लेकर फिर उसके अक्षर देखे, और फिर दर्पण में पड़े हुए उसके प्रतिबिंब को पढ़ा—"हैं, ये तो बिलकुल उलटे अक्षर हैं!"

सिद्धार्थ ने कहा—"ऐसे ही सत्य छिपा हुआ रहता है, और हम उसे प्रकट समझते हैं।"

देवदत्त के मुख पर पराजय की छाया पड़ गई थी! पर उसने उसे छिपाकर कहा—"क्या हुआ फिर? मैं पढ़ देता हूँ इस मंत्र को।" वह पढ़ने लगा—"ॐ यज्जाग्रतो दूर—"

सिद्धार्थ ने उसके हाथ से वह पत्र ले लिया—"पढ़ लेने की बात दूसरी है।" सिद्धार्थ ने अपना एक हाथ ऊँचा कर देवदत्त के आगे उठाया—"यह कौन हाथ है मेरा?"

"दक्षिण।"

"यदि कोई इसे वाम कहे, तो तुम उसे सच्चा कहोगे ?"

देवदत्त विचार में पड़ गया।

आनंद ने कहा—"हम उसे झूठा कहेंगे।"

"दर्पण दाहने को वाम कहता है देवदत्त !" सिद्धार्थ ने कहा—"इसीलिये मैं दर्पण में बहुत कम अपने स्वरूप को देखता हूँ। जब देखता हूँ, तो प्रकृति के ऐसे छिपकर प्रकट होने की शक्ति के लिये प्रणाम करता हूँ।"

धाई ने इसी समय आकर कहा—"महाराज और महारानी पधारते हैं।"

देवदत्त सिद्धार्थ की ओर बढ़ने के बहाने से दर्पण के निकट से हट गया। उसने युवराज के हाथ की पुस्तक लेते हुए पूछा—"कौन-सी पुस्तक है यह ?"

महारानी प्रजावती के साथ महाराज शुद्धोदन ने उस कक्ष में प्रवेश करते हुए कहा—"शाक्यवंश के उज्ज्वल नक्षत्रगण ! क्या हो रहा है ?"

सब राजकुमारों ने उन्हें प्रणाम किया।

"बातों से अपना मनोरंजन कर रहे हैं।" सबसे पहले देवदत्त बोला।

"विवाद तो नहीं हो रहा है ?"

"नहीं महाराज !" बेधड़क देवदत्त ने ही उत्तर दिया।

"होना भी नहीं चाहिए।" महाराज युवराज की ओर आकर्षित हुए—"क्यों युवराज !"

सिद्धार्थ ने स्मित मुख से देवदत्त की ओर देखा। देवदत्त ने उसकी पुस्तक उसे लौटा दी।

महाराज ने फिर देवदत्त से कहा—"राजकुमार ! तुम्हारे पितृव्य श्रावस्ती गए थे, अभी लौटकर आए नहीं ?"

"नहीं महाराज !"

एक सेवक ने आकर युवराज से कहा—"युवराज, आज आप उपवन में नहीं पधारे ? आपका मृग-शावक लता-कुंजों में, सरोवर के तटों पर आपको खोजता फिर रहा है। लौट-लौटकर उस जामुन के वृक्ष के पास आ रहा है, जो आपके विश्राम का परम प्रिय स्थान है।"

सिद्धार्थ ने महाराज की ओर देखा।

महाराज बोले—"हाँ-हाँ, जाओ। राजकुमार नंद, तुम भी जाओ युवराज के साथ।"

सिद्धार्थ और नंद उपवन को चले गए।

महाराज ने कहा—"राजकुमार देवदत्त, सिद्धार्थ बड़ी कोमल प्रकृति का है, उससे इधर-उधर की बातें करने की आवश्यकता नहीं है।"

• "नहीं महाराज ! बूढ़े, रोगी, मृतक और संन्यासी, इन चारों का मैं उल्लेख भी नहीं करता।" देवदत्त ने कहा।

"किसने बताए ये तुम्हें ?"

"मैंने जान लिए महाराज ! पर मैं इन बातों से क्या अर्थ सिद्ध होगा, नहीं जानता।"

"लुंबिनी-कानन में एक महात्मा हैं। वह सिद्धार्थ के गुरु हैं। यह उन्हीं की आज्ञा है।"

महारानी प्रजावती वातायन के मार्ग से उपवन में देख रही थीं। महाराज के निकट आकर बोलीं—"आज युवराज प्रसन्न चित्त हैं।"

"हाँ महारानी !"

प्रजावती ने कहा—"और ऐसे दिन, महाराज ! सारा राजभवन खिल उठता है, एक उत्सव-सा जान पड़ता है।"

देवदत्त बोला—"महाराज ! आप युवराज को नगर में क्यों नहीं जाने देते ?"

"नगर !" शुद्धोदन ने चौंककर कहा—"नहीं-नहीं राजकुमार ! उससे कभी नगर की बातें न करना ।"

"क्यों महाराज ?"

"इसके लिये भी ऋषिराज की आज्ञा नहीं है ।"

प्रजावती ने आनंद से कहा—"क्यों राजकुमार, तुम चुप क्यों हो ?"

आनंद बोला—"बातें सुन रहा हूँ ।"

देवदत्त ने कहा—"तो क्या ऋषिराज शाक्यों के भावी शासक को उसकी प्रजा से अनभिज्ञ ही रहने देना चाहते हैं ?"

"कुछ समय तक । कुछ दैवी ग्रहों के प्रभाव के प्रतिकार तक । तब युवराज वयःप्राप्त हो जायँगे, समझ बढ़ जायगी, और चाहे जहाँ विचर सकेंगे ।" महाराज ने कहा ।

देवदत्त की समझ में न आई बात । वह मन-ही-मन विचारने लगा, अनोखा युवराज मिला है कपिलवस्तु की प्रजा को । उसने आनंद का हाथ पकड़कर कहा "चलो, हम भी तो चलें उपवन में ।"

महाराज ने फिर उसे सिद्धार्थ के साथ अतिरिक्त बातें न करने को कहा ।

प्रजावती ने कहा—"कल तुम जल-पान के लिये भी नहीं आए, फिर आज न भूलना ।"

आनंद के साथ सीढ़ियों का अवरोहण करते हुए देवदत्त ने कहा—"माताजी के मस्तक में पीड़ा थी, इसी से मैं तुरंत ही चला गया ।"

"आज तो स्वस्थ होंगी ?"

"हाँ ।"

दोनो उपवन में चले गए ।

महाराज ने कहा—"मस्तिष्क का विकार है, या क्या, युवराज की

कुछ समझ में नहीं आता। बहुधा वह गीत सुनकर ही यह उदास हो जाते हैं।"

"गाता कौन है?"

"कोई भी नहीं। मैंने बहुत अच्छी तरह जाँच की है।"

"पर जिस सरलता से युवराज उस गीत का वर्णन करते हैं, उसमें संशय नहीं होता। आकाश-मार्ग से कदाचित् कोई देव-बालाएँ गाती हों।"

"वे गातीं, तो क्या सभी नहीं सुनते?"

"हमारे कानों की श्रवण-शक्ति इतनी विकास को प्राप्त न हो।"

"अपनी कल्पना में ही सुनते हैं वह। गंधर्व-कुमारियों के लिये मैंने दूत भेजा था, फिर अभी तक लौटकर नहीं आया। उनका गीत सुनकर विश्वास तो है, युवराज का मन बहल जायगा।"

एक दिन युवराज राजकुमार नंद के साथ अपने उपवन में विहार कर रहे थे। नंद गंभीर प्रकृति का था, सिद्धार्थ के विचार उससे बहुत मिलते-जुलते थे।

वे दोनों चींटियों की पंक्ति का निरीक्षण कर रहे थे, जो अपने विवर में अन्न के कण लाकर जमा कर रही थीं।

सिद्धार्थ ने कहा—"भाई नंद, इनकी तत्परता, धैर्य, श्रम और संगठन को देखकर चकित रह जाना पड़ता है।"

"ये दूरदर्शी और संचय-प्रिय हैं। मैंने सुना है, ऋतु के परिवर्तनों को ये उससे ठीक पहले जान लेती हैं, और उसके अनुसार अपनी रक्षा का प्रबंध कर लेती हैं।" नंद ने कहा।

"मैं समझता हूँ, यदि ये आकार में मनुष्य के बराबर होतीं, तो कदाचित् उन पर राज्य करतीं।" सिद्धार्थ ने कहा।

नंद ने हँसते हुए फिर कुछ चावल के दाने चींटियों के मार्ग में रक्खे।

"मनुष्य इनके ऊपर से चला जाता है, और ये शत-सहस्रों की

संख्या में क्षत-विक्षत होकर मर जाती हैं। ये चूँ भी नहीं कर सकतीं, इतने क्षुद्र इनके प्राण हैं। मनुष्य अपने अभिमान में अंधा होकर चला जाता है। उसे यह ज्ञात भी नहीं होता, वह शत-सहस्रों शवों के ऊपर अपना मार्ग बनाकर गया है! नंद! क्या मनुष्यों को कोई इसी प्रकार कुचलकर नहीं चला जाता? क्या उसका शव नहीं होता? क्या उसके शव को ये चींटियाँ क्षत-विक्षत नहीं करतीं?"

नंद सोच-विचार में पड़ गया!

"तुम भी मेरी ही उदासी में पड़ गए! ये चिंता के विषय हैं नंद! नहीं देखा तुमने कभी मनुष्य का शव?"

"नहीं।"

इसी समय आकाश-मार्ग से कोई वस्तु उनसे कुछ दूरी पर गिरी। दोनो दौड़कर वहाँ पहुँचे।

वह एक हंस था। असहाय होकर पंख फड़फड़ा रहा था।

"क्या हो गया इसे? उड़ते-उड़ते क्यों गिर पड़ा!" नंद ने कहा।

"इसके अंग में तीर बिधा हुआ है। किसी ने शर-संधान किया इस पर।" सिद्धार्थ ने उसे अपनी गोद में उठा लिया। "किसी का क्या बिगाड़ा होगा इसने?"

"युवराज! वस्त्र मलिन हो जायँगे।"

"नहीं नंद, ऐसा स्वार्थ पर विचार मन में लाना अशोभनीय है। हम इसकी रक्षा करेंगे।" सिद्धार्थ ने हंस की पीठ पर कोमल हाथ रखकर उसे पुचकारा "धीरज धर हे निर्दोष पक्षी! मैं तेरी पीड़ा दूर करूँगा।"

उस हंस को लेकर दोनो सरोवर के किनारे आए। बड़ी सावधानी और हलके हाथों से उन्होंने तीर खींचकर बाहर निकाला। सिद्धार्थ ने अपना उत्तरीय फाड़कर उसका क्षत धोया।

नंद ने तीर को देखकर कहा—"यह कुमार देवदत्त का तीर है। उन्होंने ही इसे मारकर गिराया है।"

सिद्धार्थ अपनी छाती से उस हंस को लगाए हुए घूमने लगे उपवन में। देवदत्त दौड़ा हुआ आ पहुँचा। सिद्धार्थ के पास हंस को देखकर बोला—"मैं सारा उपवन खोज आया। यह मेरा आखेट है।" भूमि पर पड़े हुए तीर पर उसकी दृष्टि गई। उसे उठा लिया उसने—"यह मेरा ही तीर है, इसी से विद्ध किया मैंने।"

सिद्धार्थ ने दोनो हाथों से उसे अपने आलिंगन में ले लिया—"दया करो राजकुमार! इस पत्ती पर दया करो। यह किसी का कुछ नहीं बिगाड़ता। यद्यपि इसकी वाणी कुछ प्रकट न कर सकी, तथापि मैंने इसकी पीड़ा को जान लिया।"

"इस पर मेरा अधिकार है युवराज!"

"इस पर दया का अधिकार है राजकुमार! तुम्हारे अग में यदि कोई तीर चुभा दे, तो कितनी पीड़ा होगी। मैंने अभी इसके शरीर से तीर निकाला है। तुम्हारी वाणी सुनकर यह असहाय प्राणी अपने सिर को मेरे आश्रय में छिपा रहा है। नहीं राजकुमार! मैं इसे तुम्हें नहीं दे सकता।" सिद्धार्थ ने अत्यंत सौम्य भाव से कहा।

"तुम्हें देना पड़ेगा।" कर्कश होकर देवदत्त बोला।

"कदापि नहीं।" मृदु अवरोध-पूर्वक सिद्धार्थ ने कहा।

"तुम कपिलवस्तु के भावी अधिपति हो। अपना चचेरा भाई न समझकर तुम मुझे केवल एक साधारण प्रजा समझो, तो भी प्रजा की कोई वस्तु इस प्रकार हठ-पूर्वक ले लेना कदापि वांछनीय नहीं।"

"इसके बदले में मेरा मुकुट, मेरे आभूषण, जो तुम्हें रुचिकर हो, माँग लो। मैं तुम्हें प्रसन्न मन से उपहार में दे दूँगा। यह हंस, नहीं राजकुमार, इसे न दूँगा तुम्हें।"

देवदत्त ने आँखें तरेरकर कहा—"बड़ा मद है तुम्हें अपने मुकुट और आभूषण का। देवदत्त तुम्हारे द्वार पर भिखारी है क्या! न्याय से जो वस्तु मेरी अर्जित है, उसे ही चाहता हूँ मैं।"

"पर मैंने भी तो यह दया के मोल से लिया है। इन धनुष-बाणों को दूर ले जाओ राजकुमार! यह क्षीण-प्राण-घायल हंस इन्हें देख-देखकर डर रहा है! मैं विनय करता हूँ तुम्हारी। मैं हूँ तुम्हारे द्वार का भिखारी। तुम दो मुझे इसके प्राणों की भिक्षा!" सिद्धार्थ घुटने टेककर देवदत्त के सामने विनत हो गया। हंस त्रस्त होकर उसकी गोद में छिप गया। सिद्धार्थ ने हंस पर अपना सिर रख दिया, और एक हाथ से देवदत्त का हाथ पकड़कर कहा—"दया करो।"

'युवराज! तुम तो हो कायर और डरपोक। यह मेरा पहला आखेट है। मेरे धनुष-बाण का पहला लक्ष्य, इसे मैं भुस भरकर स्मृति के लिये रक्षित रक्खूँगा।"

"क्या धनुष-बाण इसीलिये धारण किए हैं तुमने कि इस प्रकार ये शांत वृत्ति के जीव नष्ट कर दिए जायँ।"

"क्षत्रिय की शोभा है शस्त्र।"

"है, जब इसका उपयोग रक्षा के लिये है।"

देवदत्त उत्तेजित हो उठा—"तुम यदि ठीक रीति से न दोगे, तो मैं बल-पूर्वक इसे छीन ले जाऊँगा युवराज, तुम्हारे हाथ से।"

"यह मेरी अजस्र करुणा का पहला पात्र हुआ है राजकुमार! मैं इसे फिर उड़ने योग्य बनाकर आकाश-मार्ग में छोड़ दूँगा।"

"मैं फिर तुमसे कहता हूँ युवराज! हठ ठीक नहीं है। इससे हमारे बीच में वैर बढ़ जायगा। मैं फिर कभी यहाँ तुमसे खेलने के लिये नहीं आऊँगा।" देवदत्त हंस को छीनने लगा।

नंद और सिद्धार्थ दोनो ने मिलकर उसे कृतकार्य नहीं होने दिया।

सिद्धार्थ हंस को लेकर राजमहल की ओर जाने लगा।

देवदत्त ने उसका हाथ पकड़कर उसे रोक लिया—"तुम ऐसे ही न मानोगे। चलो, वहाँ हमारा न्याय होगा।"

"कहाँ ?"

"संथागार में। वहाँ सभा बैठी हुई है, वह हमारा भी न्याय करेगी।"

"चलो।" सिद्धार्थ ने प्रसन्न मन कहा—"पर वह दूसरी दीवार के बाहर है। मेरा पथ इस पहली दीवार के बाहर तक ही है।"

"मैं जानता हूँ प्रहरियों को; चलो, हमारा बहुत आवश्यक काम है संथागार में। प्रहरी जाने देगा कैसे नहीं।" देवदत्त युवराज का हाथ पकड़कर भागा।

नंद भी उनके साथ हो लिया। दूसरी दीवार पर के प्रहरी ने जब उन्हें रोक लिया, तो देवदत्त कहने लगा—"संथागार में महाराज ने बुलाया है हम दोनो को, इस हंस का न्याय करने के लिये।"

प्रहरी ने उसकी बात का विश्वास कर जाने दिया उन्हें।

संथागार में अधिवेशन हो रहा था। वैशाली के मल्ल-राज्य-तंत्र के प्रतिनिधि आए हुए थे। उन दोनो की सीमा पर के किसी उलझे हुए प्रश्न पर वाद-विवाद हो रहा था।

अचानक एक प्रहरी ने संथागार में प्रविष्ट हो महाराज से कहा—"महाराज! राजकुमार सिद्धार्थ इधर ही आ रहे हैं। प्रहरी उन्हें रोक नहीं सक रहा है।"

राजा शुद्धोदन सभापति के आसन से उठ घबराकर खड़े हो गए। दोनो हाथों से रोकने का संकेत कर उन्होंने सिर पकड़ लिया—"रोको, रोको। उन्हें कुछ क्षण तो रोको। बल-पूर्वक रोको।"

प्रहरी दौड़ा हुआ चला गया।

महाराज ने बड़ी नम्रता से सभासदों से कहा—"वृद्ध सभासदों से मेरा निवेदन है, वे कुछ क्षण के लिये इस दूसरे कक्ष में जाकर छिप जायँ, कारण सब जानते ही हैं।"

बूढ़े सदस्य भागे। उत्तरीय, यष्टिका, पदत्राण, मुकुट-अलंकार

सँभालते, गिरते-पड़ते। कुछ छाती तानकर बैठे ही रह गए थे यौवन के भ्रम में। उन्हें भी शुद्धोदन ने उठा दिया, बड़ी अधीनता से। सब बूढ़े पार्श्ववर्ती कक्ष में बंद कर दिए गए।

प्रहरियों को बल से जीतकर वे दोनो राजकुमार बड़ी तेजस्विता और वेग से संथागार में घुस आए।

एक के तने हुए भ्रू युगल अपने छिने हुए अधिकार को लौटा लेने के लिये व्याकुल थे। उसकी आँखों में प्रतिहिंसा भरी हुई थी। एक हाथ में धनुष और दूसरे में बाण धारण कर रक्खा था उसने बड़ी दृढ़ता से, कंधे पर उसके तूणीर लटक रहा था। उसका वह पहला आखेट था।

और दूसरा उस सित-श्वेत हंस को अपने आलिंगन में लिए हुए था। एक हाथ में अभय दूसरे में हंस के जीवन का वर था। उसकी आँखों में करुणा थी, और अधरों पर उस मूक जीव को बचा लेने का संतोष। उसकी वह पहली दया थी।

महाराज ने तीक्ष्ण स्वरों में राजकुमार देवदत्त को घूरकर कहा--"राजकुमार देवदत्त!"

वादी की भावना से देवदत्त ने ऊँचे ही स्वर में उत्तर दिया--"हाँ महाराज!"

"युवराज को यहाँ ले आए?"

"हाँ महाराज, न्याय के लिये।"

"कैसा न्याय?' महाराज ने पूछा।

"इस हंस का न्याय, जिसे युवराज अपनी छाती से लगाए हुए हैं।" देवदत्त बोला।

"राजभवन के भीतर का एक छोटा-सा झगड़ा लाकर तुमने यहाँ इतनी बड़ी सभा में रख दिया, अच्छा नहीं किया।" महाराज ने बड़े खिन्न भाव से कहा।

"राजभवन में पक्षपात न्याय न होने देता महाराज! यह छोटा

झगड़ा नहीं है। हम दोनो अब परिपक्व बुद्धि के हैं। अपने और पराए का अंतर उपज गया है हमारे हृदयों में। इस झगड़े के न्याय में शाक्य-वंश के हम दोनो राजकुमारों के भावी जीवन की एकता या द्वेष की जड़ पड़ेगी।" देवदत्त ने कहा।

"तुमने दूसरी दीवार में युवराज का मार्ग उन्मुक्त कर दिया। मैं जानता हूँ, तुमने ही प्रहरियों को राजाज्ञा के पालन से कर्तव्य-च्युत किया। मैं सभा से पूछता हूँ, क्या राजकुमार देवदत्त इसका अपराधी नहीं है?" महाराज ने सभा से पूछा।

"कदापि नहीं। मैं सभा से प्रार्थना करूँगा, वह निर्णय देने से पहले मेरी बात सुने।" देवदत्त ने कहा।

सारी सभा स्तब्ध हो गई थी।

देवदत्त बोला—"संथागार में इस झगड़े का न्याय हो, इसमें युवराज की भी इतनी ही प्रबल इच्छा थी। उनसे पूछ लिया जाय।"

महाराज ने पूछा—"क्यों युवराज?"

"हाँ महाराज!" बड़े करुणा-सिक्त स्पर्श से सिद्धार्थ उस हंस की पीठ पर हाथ फेर रहे थे।

महाराज हँस पड़े—"क्या झगड़ा है?"

"यह हंस मेरा है।" देवदत्त बोला।

"नहीं महाराज, मेरा है।" सिद्धार्थ ने कहा।

महाराज शुद्धोदन बड़े आश्चर्य में पड़ गए—"युवराज! आज सबसे पहले ममत्ववाचक शब्द तुम्हारे मुख से सुन रहा हूँ। तुमने कभी किसी वस्तु के लिये नहीं कहा था कि यह मेरी है। आज तुम्हें इस हंस ने आकर्षित किया है, जिस पर राजकुमार देवदत्त की दृष्टि पड़ी है। निश्चय विवाद गहरा है। राजकुमार देवदत्त! यह तुम्हारा क्योंकर है?"

"बात ऐसी है, यह हंस आकाश-मार्ग से उड़कर जा रहा था।

मैंने इसे तीर मारा, यह विद्ध होकर गिर पड़ा युवराज के उपवन में। इसी से यह इनका नहीं हो सकता। वास्तव में यह मेरे बाण से पतित मेरा लक्ष्य है।" देवदत्त ने कहा।

"तुम्हें क्या कहना है युवराज!" महाराज ने पूछा।

"मेरे उपवन में गिरा, इसलिये मैं नहीं स्थापित करता इस पर अपने अधिकार।" युवराज ने कहा।

"फिर?"

"मैंने इसका तीर निकालकर इसके घाव को धोया, और इसकी पीड़ा का हरण किया। मैंने इसे फिर आकाश में उड़ने योग्य बनाया, इसलिये यह मेरा है।" सिद्धार्थ ने शांति-पूर्वक कहा।

"आकाश में किसी का राज्य नहीं, वहाँ मैंने इस पक्षी को मारा है। यह मेरा पहला आखेट है। यदि यह मुझे न मिला, तो घोर अन्याय होगा। आप एक क्षत्रिय युवक को हतोत्साह कर देंगे जन्म-भर के लिये।"

एक सभासद् बोला—"जब यह पक्षी राजकुमार देवदत्त के तीर से आहत हुआ है, तभी तो युवराज के उपवन में गिरा। न्यायतः यह राजकुमार देवदत्त को ही मिलना चाहिए।"

अधिकांश सभासद् बोले—"हाँ, राजकुमार देवदत्त को ही मिलना चाहिए यह हंस।"

महाराज ने कहा—"युवराज! दे दो यह हंस राजकुमार देवदत्त को ही। संथागार इसी पक्ष में है।"

सिद्धार्थ ने और भी आलिंगन में भर लिया उस पक्षी को—"नहीं।"

देवदत्त बोला—"संथागार की जय हो! उसके निष्पक्ष न्याय की जय हो!" वह सिद्धार्थ से हंस ले लेने के लिये बढ़ा।

सिद्धार्थ फिर बोला—"नहीं, ठहरो। मुझे अभी और कुछ

महाराज शुद्धोदन ने कहा—"युवराज ! तुम ऐसे दुःशील कभी नहीं हुए थे। क्या हंसों का अभाव हो गया ? मैं मानसरोवर से तुम्हारे लिये अनेक हंसों को मँगा दूँगा। दे दो युवराज !"

"नहीं, कदापि नहीं।" पार्श्ववर्ती कक्ष में से एक छिपा हुआ वृद्ध सभासद् बोला।

सारी सभा चकित हो गई।

सभा से भी अधिक चकित हो उठा युवराज—"कौन हो तुम ? करुणा के सहायक ! तुम कहाँ से बोल रहे हो ? दिखाई क्यों नहीं देते ? राजकुमार देवदत्त ने मारा है इसे निःसंदेह, पर मैंने इसे बचाया है। क्या मारने से बचाना कठिन नहीं है ? क्या मारने से बचाना श्रेष्ठ नहीं है ?"

फिर उसी कक्ष से शब्द आए—"बचाना ही श्रेष्ठ है। राजकुमार देवदत्त का अधिकार इस हंस पर तभी होता, यदि यह उनके तीर से मृत्यु को प्राप्त हो जाता। क्योंकि यह जी उठा है, इसलिये जीवित करनेवाले का ही है।"

सिद्धार्थ बोल उठा—'करुणा की जय हो ! कौन हो तुम ? मैं तुम्हारे दर्शन करूँगा।'' वह उस कक्ष के बंद द्वार की ओर बढ़ने लगा।

महाराज शुद्धोदन ने कहा—"ठहरो युवराज ! उधर नहीं। हंस का न्याय हो जाने दो।" महाराज ने सभा को संबोधित करते हुए पूछा—"मैं सभा की इच्छा जानना चाहता हूँ।"

एक सभासद् ने कहा—"निःसंदेह मर जाने पर ही यह हंस राजकुमार देवदत्त का आखेट कहलाता।"

दूसरा बोला—"अवश्यमेव मार प्रत्येक सकता है, बचा कोई विरला ही सकता है। इसलिये मारनेवाले से बचानेवाला बड़ा है। इस हंस पर उसी का अधिकार हो।"

सारी सभा बोल उठी—"करुणा चिरजीविनी हो। यह हंस

युवराज के ही पास रहने दिया जाय। उन्होंने इसे अपनी दया से मोल लिया है।"

"अन्याय, घोर अन्याय, पक्षपात, घोर पक्षपात !" पैर पटककर देवदत्त बोला।

"यदि यह पक्षी बोल सकता, तो सारी सभा को अलग-अलग धन्यवाद देता, यह मेरी छाती में निर्भय होकर देख रहा है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे सब कुछ समझ रहा है !" सिद्धार्थ ने कहा।

देवदत्त फिर रोष में भरकर बोला—' आप लोग ऐसे न्याय से मेरे और युवराज के बीच में बड़े भारी विद्वेष का बीज बो रहे हैं। यह समय पाकर बड़ी भयंकर प्रतिहिंसा में बदल जायगा।"

महाराज ने कहा—"राजकुमार ! सारी सभा के एकस्वर न्याय को अन्याय नहीं कहा जायगा। मैं तुम्हारे लिये भी चाहे जितने कहो, उतने हंस मँगा दूँगा।"

"क्या करना है मुझे और हंसों से ? क्या मैं भूखा हूँ उनका ? आज ही इस सभा में मेरे पिता उपस्थित न हुए। वह यह अन्याय न होने देते। युवराज ! ' देवदत्त ने कहा।

"हाँ भाई !" सिद्धार्थ ने कहा।

"भाई ? नहीं। हमारे सारे संबंध और मित्रता छिन्न होती है यहीं पर। मैं अब तुम्हारे राजभवन में भी न आऊँगा, और प्रयत्न करूँगा कि शाक्यों के राज्य में भी स्थान न रहे मेरे लिये।" देवदत्त ने सरोष कहा।

"नहीं, राजकुमार !" सिद्धार्थ ने उसका हाथ पकड़ा।

देवदत्त ने हाथ झटक दिया—"हटो, देख लिया तुम्हें और संथागार के न्याय को।"

"दे दो सिद्धार्थ !" महाराज ने कहा।

"नहीं चाहिए मुझे कुछ।" देवदत्त ने सारी सभा को क्रोध और घृणा से देखा। उसने दाँत पीसकर भूमि पर पैर पटके, और चल दिया।

एक सभासद् बोला—"न्याय से वादी-प्रतिवादी दोनो ही संतुष्ट बहुत कम होते हैं। संथागार का न्याय ही उद्देश्य है। वह किसी की प्रसन्नता से उत्साहित नहीं होता। न उसे किसी के असंतोष का ही भय है।"

महाराज ने एक प्रहरी को बुलाकर कहा—"प्रहरी, युवराज को सीधे राजभवन में पहुँचा दो।"

पर सिद्धार्थ बोला "महाराज! मैं उस महानुभाव के दर्शन करना चाहता हूँ, जिन्होंने मेरी और इस हंस की सहायता की।"

"नहीं राजकुमार, अब समय नहीं, फिर। हठ ठीक नहीं होता। जाओ राजभवन को, फिर देखा जायगा।" महाराज ने कहा।

"चलो," सिद्धार्थ ने हंस को गले लगाकर कहा—"चलो, इस मरु जगत् में करुणा की धारा भी बहती है, इस क्रूरता के बीच में दया भी विचरती है। चलो, तुम उड़ सकोगे अब। मैं तुम्हें मुक्त आकाश में छोड़ दूँगा कि तुम अपने बिछुड़े हुए साथियों से फिर मिल सको। मेरे हृदय से करुणा की अजस्र मंदाकिनी बहना चाहती है। मैं समस्त विश्व-संसार को परिप्लावित कर दूँगा, और तुम वह पहले जीव हो हे हंस! जो उसमें प्रथम स्नात हुआ है।" सिद्धार्थ ने प्रहरी से कहा—"चलो।"

दोनो चले गए।

सारी सभा टक लगाकर उन्हें देखती रही।

५. मृत्यु की शृंखला

गंधर्व-देश से गीत-कुमारियाँ आ पहुँचीं उस दिन। महाराज अंतःपुर में थे प्रजावती के कक्ष में। उन्हें वहीं उपस्थित करने की आज्ञा दी उन्होंने। दासी चली गई। महाराज ने पूछा—"युवराज कहाँ हैं? बड़ी देर से मैंने देखा नहीं आज उन्हें।"

"उपवन में हैं, छंदक के साथ।" प्रजावती ने उत्तर दिया।

"राजकुमार देवदत्त बड़ा हठी है, नहीं आया उस दिन से राजभवन में।"

"भगवान् ने यह अच्छा किया, जो उनकी संगत छूट गई। युवराज की अशांति को वह और भी अधिक बढ़ा देते थे।"

"नंद और छंदक, इन दोनो से युवराज की प्रकृति बहुत कुछ मिलती है।"

"नंद कहता था, शस्त्र-शिक्षा के मैदान में भी वह अब बहुत कम आते हैं। युवराज के बोलने पर भी वह उनसे नहीं बोलते। कितनी सांसारिकता आकर घर कर गई है राजकुमार देवदत्त में अभी से।" प्रजावती ने कहा।

महाराज बोले—"और मैंने सुना था, वह राजगृह जानेवाला है।"

"किसलिये?"

"उसके मातुल वहीं हैं न। उन्हीं के पास रहेगा। वहीं शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करेगा।"

"क्या राजकुमार देवदत्त के पिताजी ने कहा?"

"नहीं, और किसी ने कहा।"

"उस हंस की घटना के पश्चात् राजकुमार देवदत्त के पिता के कैसे भाव हैं आपके प्रति?" महारानी ने पूछा—"बहुत दिनों से यह कौतूहल मन में बसा है। पूछ ही नहीं सकी आपसे अब तक।"

महाराज हँसने लगे—"प्रकट में कोई परिवर्तन दिखाई नहीं देता। पर छाया अवश्य पड़ी है कहीं पर। मैं हृदय से चाहता था, हंस देवदत्त को ही दे दिया जाता। संथागार के एकमत को मैं कैसे बदल देता। जैसा भी विचार करे वह। मैं क्या करूँ। मेरा कोई अपराध नहीं।"

अचानक नूपुर-मंजीर, कंकण-वलय की झंकार सुनाई दी। मानो फूलों के ऊपर चापें अंकित करती हुई गीत कुमारियाँ महाराज के समीप आईं।

दासी ने विनय-पूर्वक कहा—"महाराज, गीत - कुमारियाँ आ गई हैं आपके समीप।"

"रूप, अलंकार और परिच्छद में अतुलनीय। जब इनके अधरों पर गीत प्रस्फुटित होते होंगे, तो कौन विमोहित न हो जाता होगा इनसे?" प्रजावती ने अपने मन में कहा।

"हम पाँच गीत-कुमारियाँ हैं महाराज! आपके आज्ञानुसार आपकी सेवा में उपस्थित हुई हैं। हम राजदंपति को प्रणाम करती हैं।" गीत-कुमारियों में जो सबसे बड़ी थी, उसने कहा।

उनके कस्तूरी-चर्चित अंगराग से समस्त अंतःपुर सुवासित हो गया। उस गीत-कुमारी का वह परम ललित पिक-कंठ कानों में सुधा बरसा गया!

प्रजावती फिर मन में सोचने लगी—"जिनकी वाणी इतनी रसमयी है, उनके स्वर कैसे न होंगे।"

महाराज ने प्रसन्न होकर उनका स्वागत किया - "तुम्हारे पदार्पण से हमारा राजभवन धन्य हुआ ! तुम्हारी प्रतीक्षा करते-करते अनेक युग बीत गए हमें ।"

फिर उसी ने उत्तर दिया—"हाँ महाराज, हम क्षमा चाहती हैं । प्रकृति ने बाधा रख दी । हमने जान-बूझकर आपकी आज्ञा की उपेक्षा नहीं की । हिम का बहुत बड़ा गिरि-खंड टूट पड़ा हमारे मार्ग में । उसके गलने पर ही हम अब अपना पथ निकाल सके उसमें । हम क्षमा-प्रार्थिनी हैं इसके लिये ।"

"नहीं, यह कोई बात नहीं । दैवी बाधा के आगे विवश होना ही पड़ता है । मार्ग में और कोई कष्ट तो नहीं हुए ?"

"नहीं महाराज, हम नृत्य करती हैं । हमारी चापें वायु के समान अल्प-भार हैं । कुश-कंटक उनमें गड़ते नहीं, मार्ग का श्रम उन्हें व्यापता नहीं ।" उसी ने उत्तर दिया ।

"तुम पाँचों बहनें हो ?"

"हाँ महाराज !"

"सबसे बड़ी तुम्हीं हो ?"

"महाराज का अनुमान सत्य है । और इन सबमें मुखर भी मैं ही हूँ । ये और गीत में प्रवीण हैं, पर बातचीत करने में क्षीण-दुर्बल हैं ।"

"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"भैरवी ।"

"क्या तुम गीत-प्रवीण नहीं हो ?"

"मैं नहीं जानती, महाराज !" हँस पड़ी भैरवी ।

दूसरी बोली—"सबसे अच्छा गाना जानती हैं ।"

"तुम विवाह नहीं करती हो ?" महाराज ने पूछा ।

"नहीं महाराज ! इसी से तो गीत-कुमारी कहलाती हैं ।"

"क्यों ?"

पाँचों गीत-कुमारियाँ लज्जा-विनत हुईं।

महाराज ने कहा—"भैरवी ! तुम मुखर कहाँ हो ?"

"पूछिए महाराज, मैं उत्तर दूँगी।" भैरवी ने दृष्टि ऊँची कर कहा।

"तुम्हें चिरकुमारी ही रह जाना क्यों रुचिकर है ?"

"गीत-कुमारी से विवाह करने को कोई तैयार नहीं होता, इसी से हम विवाह नहीं करतीं।"

"प्रेम भी नहीं करतीं किसी से ?" महाराज ने पूछा।

महारानी ने महाराज की पीठ में उँगली गड़ाकर मुख फेर लिया।

"नहीं महाराज, हृदय की बात आप पूछें, तो हम किसी से प्रेम नहीं करतीं। हाँ, प्रेम करना सिखा सकती हैं।" भैरवी ने कहा।

"ऐसा ही सुना था मैंने तुम्हारे संबंध में। ऐसा ही चाहिए भी था हमें। तुम्हारे रहने का प्रबंध कहाँ किया जाय ?"

"पुरुषों के बीच में न रहेंगी हम महाराज !" भैरवी ने कहा।

"यहीं अंतःपुर के एक भवन में रहोगी।" कहकर महाराज ने प्रजावती की ओर देखा।

प्रजावती ने कहा—"हाँ-हाँ, बड़ी प्रसन्नता से।"

"और तुम्हारे भोजन का क्या होगा ?" महाराज ने फिर पूछा।

"हम केवल फल खाती हैं, और कच्चा गाय का दूध पीती हैं।" भैरवी बोली।

"क्यों, अन्न क्यों नहीं खातीं ?"

"नहीं महाराज ! उससे हमारी गीत-माधुरी विकृत हो जाती है। स्वर स्थान-भ्रष्ट हो जाते हैं।" भैरवी ने कहा।

"क्या चिंता है, तब फल और दूध की कमी नहीं है हमारे। चलो, सबसे पहले तुम्हारे भोजन का ही प्रबंध किया जाय।" प्रजावती ने कहा।

"नहीं महारानीजी, केवल एक ही बार दिन में खाती हैं हम, वह भी बहुत सूक्ष्म। आज खा चुकी हैं, अब न खायँगी।" भैरवी ने कहा।

"तभी तुम सब-की-सब पाँचों बहनें इतनी दुबली-पतली हो।" महारानी ने कहा।

वे पाँचों बहनें खिलखिलाकर हँस पड़ीं, मानो वसंत की पाँच मधुरतम कंठवती कोकिलाएँ कूक उठीं।

"तुम भी कुछ बोलो न ?" प्रजावती ने शेष चार गीत-कुमारियों से कहा—"या तुम गीत ही सुनाने के लिये आई हो ? मैं अभी तुमसे गीत का आग्रह करती। पर मैं अपने कौतूहल को दबा दूँगी। सौजन्य नहीं कहता है। तुम्हारे मुखों पर यात्रा के श्रम की छाया है, और कुंचित कुंतलों में धूलि के कण।"

सबसे छोटी बोली—"नहीं महारानीजी, आपको भ्रम हो गया है। हमने अचिरावती की धारा में स्नान किया है। हमने स्वच्छ होकर आपके दर्शन उचित समझे।"

"मैं समझती थी, तुम बड़ी सौम्या हो।" कहकर महारानी ने उसके कंधे पर झूलती हुई बालों की लट हाथ में लेकर कहा—"यह प्रकाश की रेखा चमक रही थी तुम्हारे बालों में। क्या नाम है तुम्हारा ?"

"मेरा नाम सुरुचि है।" सबसे छोटी ने कहा।

"तुम्हारे साथ का सामान ?" महाराज ने पूछा।

"प्रहरी के पास छोड़ आई हैं। वस्त्र, बिछौना, एक टोकरी में कुछ फल, एक वीणा और एक करताल।"

"शृंगार का सामान ? अलंकार ?" प्रजावती ने पूछा।

उत्तर सुरुचि ने दिया—"हम अलंकारों को भार और शृंगार को

कृत्रिमता समझती हैं। हमारी स्वाभाविकता ही हमारा शृंगार है। जब हम गाने लगती हैं, तो स्वर हमें सुसज्जित कर देते हैं; जब नाचने लगती हैं, तो नृत्य की मुद्राओं से अलंकृत हो उठती हैं।"

भैरवी ने सुरुचि का हाथ पकड़कर कहा—"अब यह खुल गई है आपसे महारानीजी!"

"एक बात है।" महाराज ने कहा—"कितना रौद्र ताप ज्ञात हो रहा है तुम्हें यहाँ मैदान पर?"

"कुछ भी नहीं। हमारे यहाँ वसंत-ऋतु अभी आती जान पड़ रही थी, यहाँ आती हुई।" भैरवी बोली।

"ग्रीष्म का ताप सहन कर सकोगी?"

"क्यों नहीं? ऋतु की तीक्ष्णता ही में तो हम रहती हैं पहाड़ पर। क्या हिम का दंश वृषभ के सूर्य से कुछ कम है।" भैरवी बोली।

"अच्छी बात है, एक चिंता यह भी दूर हुई।" महाराज ने कहा।

"कहाँ हैं वह युवराज, हम जिनका मनोरंजन करने आई हैं?" सुरुचि ने कहा।

"आज अपने रहने का ठिकाना देख विश्राम कर लो।" महारानी ने कहा।

"नहीं, हम आज ही उनके दर्शन करेंगी।" भैरवी ने कहा।

"पर केवल एक बात है सबसे मुख्य।" महाराज ने हाथ उठाकर कहा।

"वह क्या है महाराज?" भैरवी ने पूछा।

"बड़ी सावधानी और पवित्रता से उस बात का पालन करना पड़ेगा।"

"हम पालन करेंगी।"

"बुढ़ापा, रोग, मृत्यु और संन्यास, इन चार बातों की चर्चा नहीं करनी होगी।"

"न करेंगी। हमारे गीत यौवन, वसंत, प्रकाश, अनुराग और मिलन के गीत हैं।" भैरवी ने कहा।

"एक-एक कर सबको समझा दो। कभी भूल हो जानी संभव है।"

भैरवी ने एक-एक कर सबसे प्रतिज्ञा कराई।

दूसरी गीत-कुमारी बोली--"अपराध क्षमा हो महाराज, एक बात पूछती हूँ।"

"क्या ?"

"युवराज से इनकी चर्चा न करने का कारण क्या है ?"

"धीरे-धीरे ज्ञात हो जायगा तुम्हें।" महाराज ने कहा—"युवराज बड़ी उदास प्रकृति के हैं। तुम अपने गीतों से उन्हें प्रसन्न कर सकोगी न ?"

"हाँ महाराज !" सबसे छोटी बोली।

भैरवी ने उसके अधरों पर हाथ रख दिए—"चुप रह, तुझसे कौन कहता है।" महाराज से कहा उसने—"हम पूरी चेष्टा करेंगी महाराज ! गीत और नृत्य का क्षेत्र भाव का जगत् ही है। हम भावों की रानी हैं। हम मनुष्य के एक भाव को उखाड़कर वहाँ दूसरा जमा सकती हैं। यों धरने को कोई हमें कितने ही नाम धरे, हम शक्ति हैं।"

प्रजावती पर भैरवी की वक्तृता का बड़ा प्रभाव पड़ा। वह उसके मोह से खिंचकर उसके निकट पहुँची। उसने प्रेम से उसके गले में दोनो हाथ डाल दिए—"तुम मेरे कुमार के उस सचिंत मुख पर प्रसन्नता के फूल खिला दोगी ?"

भैरवी ने महारानी के हाथ छुड़ा लिए—"हाँ, खिला दूँगी।"

"वह बड़ी पवित्र धरोहर है मेरे पास। हमारा समस्त जीवन का सुख उसी की प्रसन्नता पर निर्भर है।" प्रजावती ने कहा।

जिज्ञासा लेकर भैरवी ने महाराज को देखा।

"हाँ भैरवी, महारानी सच ही कह रही हैं।" शुद्धोदन ने कहा।

"धरोहर? यह नहीं समझी मैं।" भैरवी ने पूछा।

"हाँ, फिर तुम्हारे साथ मैत्री बढ़ जाने पर सब बताऊँगी।"

"राजकुमार क्या आठों प्रहर उदास रहते हैं?" भैरवी ने पूछा।

"समय के अधिकांश में। कभी वह उदासी बहुत बढ़ जाती है, तब वह किसी को अपने सामने नहीं आने देते।"

"उन्हें कोई रोग तो नहीं है?"

"रोग? रोग का क्या नाम? सुंदर स्वास्थ्य और अवयवों की रेखाएँ परम मनोहर।" महाराज ने कहा।

"और उन्हें अभाव किसी वस्तु का नहीं?" भैरवी ने पूछा।

"नहीं, किसी वस्तु का अभाव नहीं; इच्छा ही नहीं है उनकी।" प्रजावती बोली।

"अभी विवाह नहीं हुआ है उनका?"

"नहीं।"

"विवाह-योग्य अवस्था हो गई होगी?"

प्रजावती ने कहा—"हाँ।"

सब-की-सब गीत-कुमारियाँ खिलखिलाकर हँस पड़ीं!

अप्रतिभ होकर प्रजावती ने पूछा—"क्यों, क्या बात है?"

"कुछ नहीं महारानी, हमें युवराज की चिंता का कारण ज्ञात हो गया। भगवान् कृपा करेंगे, तो हम उनका मन बहला देंगी। हम पाँच भिन्न विषयों की बालाएँ हैं। पहले तो सभी युवराज के मन

को अधिकृत कर लेंगी, नहीं तो एक अवश्य ही उन्हें वश में कर लेगी।" भैरवी बोली।

महारानी ने कहा—"एक अद्भुत सुगंध का अनुभव करने लगी हूँ। ऐसा कोई भी पुष्प नहीं है हमारे उपवन में।"

"कस्तूरी ?"

"नहीं।"

भैरवी को कुछ याद पड़ा। उसने हँसकर कहा—"यह मेरी चौथी बहन होगी। इसके अंग से सुगंधि निकलती है, इसी से इसका नाम सुरभि है।'

महारानी उसके समीप गईं, उसका मस्तक सूँघकर बोलीं—"सुमधुर सुगंध द्रव्य है।"

"नहीं महारानी !" सुरभि ने कहा।

"अच्छा महाराज, हमें आज्ञा दीजिए। हम राजकुमार को देखने के लिये व्याकुल हैं। हम जायँगी।" भैरवी ने कहा।

"अपनी वस्तुएँ तो यथास्थान रखवा लो।"

"दास-दासी रख देंगे।"

"हम भी तो चलेंगे कि तुम्हें युवराज का प्रथम दर्शन संकोच-विहीन हो।" महाराज ने कहा।

"नहीं, हम स्वयं ही उनसे मिलेंगी। हम संकोच नहीं जानतीं।" भैरवी बोली—"चलो।"

पाँचों उपवन को दौड़ गईं। मार्ग में एक ने वीणा उठा ली। एक ने करताल। उपवन में जाकर उन्होंने दूर से युवराज को देख लिया। वे सब एक सघन कुंज के भीतर छिप गईं।

सिद्धार्थ अपने चिरप्रिय जामुन की छाया में बैठे थे। साथ में उनका भाई नंद और उनका सारथी तथा सखा छंदक भी थे।

छंदक कह रहा था—"फिर आप मेरे-जैसों से क्यों बातें करेंगे, जब आप सिंहासन पर विराजमान हो जायँगे।"

"क्यों छंदक !" युवराज ने छंदक की पीठ पर हाथ रखकर पूछा।

"क्योंकि आप महाराज हो जायँगे। मंत्री और नायकगण ही घेरे रहेंगे आपको।" छंदक ने कहा।

"क्यों, महाराज तो पिताजी हैं न ?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"वह तुम्हें सौंप देंगे राज्य।"

"और आप ?"

"वाराणसी चले जायँगे। कह रहे थे अभी उस दिन।"

सिद्धार्थ ने पूछा—"क्यों राजकुमार नंद !"

"हाँ युवराज, मैंने भी सुना था।" नंद ने कहा।

"नहीं छंदक, मुझे नहीं चाहिए राज्य। मैं ऐसे ही अच्छा हूँ। जब रोने की इच्छा होती है, रो लेता हूँ, और जब गाने को मन करता है, तब गाता हूँ।" एकाएक भाव बदलकर सिद्धार्थ ने कहा—"फिर गीत की याद आ गई मुझे !"

"केवल एक कल्पना युवराज !" नंद ने कहा।

"कल्पना का भी तो मूल्य है नंद !" सिद्धार्थ ने उत्तर दिया "अनेक बार मैं जैसी कल्पना करता हूँ, ठीक वैसा ही वास्तव जगत् में पाता हूँ—कल्पना जैसे सत्य के हाथ पकड़ लेती है। कई बार मैंने स्वप्न में जैसा देखा, जगत् में वैसा ही पाया। अधिक नहीं होता ऐसा। केवल बीच-बीच में कभी। क्यों होता है ऐसा नंद ?"

"मैं नहीं कह सकता युवराज !"

"तुम बता सकते हो छंदक !"

"नहीं, मैं भी नहीं बता सकता।"

"यह भीतर का जगत् बाहर के संसार से जुड़ा हुआ है, इसमें संदेह नहीं। पर कैसे, कहाँ पर शृंखला है, पता नहीं चल सकता।" युवराज ने कहा।

"राजकुमार ! आज संध्या-समय रथ-विहार के लिये चलेंगे न ?" छंदक ने पूछा ।

"लौट-फिरकर फिर वहीं पर आ जाना भी कोई विहार हुआ ?"

"दूसरी दीवार तक तो आपका मार्ग खुल गया है न ?" नंद ने कहा ।

"तीसरी दीवार तक भी हो आया था मैं उस दिन, हंस के न्याय के लिये जब गया था । महाराज ने फिर बंद कर दिया वह मेरे लिये, छंदक ! इन पाँचों दीवारों से मार्ग निकालकर मुझे नगर दिखा लाओ न ?" अचानक सिद्धार्थ एकाग्र होकर कुछ सुनने लगा—"तुम नहीं सुन रहे हो नंद !"

"यह पागलपन छोड़ो युवराज ! कहीं भी कुछ नहीं सुनाई दे रहा है ।" नंद ने कहा ।

"कदाचित् मधु-भार से युक्त कोई मक्खिका जा रही है गुनगुनाती हुई ।" छंदक ने कहा ।

"तुम दोनो भी नहीं समझ सकते मेरी वेदना । नंद ! छंदक ! मैं अकेला ही यहाँ पर कुछ देर बैठना चाहता हूँ, बुरा न मानना ।"

दोनो उठकर चले गए । सिद्धार्थ आँखें बंद कर बैठ गया वहाँ पर ।

कुंज में छिपी हुई डालियों को हटा-हटाकर झाँक रही थीं पाँचों गीत-कुमारियाँ सिद्धार्थ, छंदक और नंद को ।

भैरवी बोली—"पहचान गई हो न तुम सब युवराज को ?"

"हाँ, क्यों नहीं ? दो व्यक्ति सुंदर वस्त्रों में सुसज्जित हैं । एक साधारण वेश में है, वह युवराज नहीं है । उन दोनो में एक जिसके प्रति आदर और विनय प्रकट कर रहा है, बात-बात में वह आदर का पात्र ही युवराज है ।" एक ने कहा ।

"अनुमान ठीक है तुम्हारा ।" भैरवी बोली ।

"पर यह उदास नहीं ज्ञात हो रहे हैं ।" सुरुचि ने कहा ।

"उदासीनता के क्षण होते हैं। रात-दिन थोड़े उदास रहते होंगे।" दूसरी ने कहा।

"बड़ा दर्शनीय है राजकुमार!" सुरभि ने कहा।

"विवाह करेगी तू उनके साथ?" भैरवी ने कहा।

खिसिया गई सुरभि।

जब छंदक और नंद सिद्धार्थ के पास से चले गए, तो भैरवी ने कहा—"चलो, अब युवराज एकांत में हैं। अब उनके पास चलें।"

"सब साथ नहीं, एक-एक कर।" एक ने प्रस्ताव किया।

"अब तो यह उदास और चिंता में घिर गए जान पड़ते हैं।" सुरुचि ने कहा।

"पहले कौन जायगा?" भैरवी ने पूछा।

"मैं जाऊँगी।" सुरुचि ने कहा।

"सबसे छोटी!"

"परंतु सबसे बलवान्। कौन जीत सका है रस को मनुष्यों में?" सुरुचि ने उत्तर दिया।

"यदि युवराज ने उपेक्षा कर दी तुम्हारी, तो फिर? हमारा सारा बल क्षीण हो जायगा। वह जाति का अपमान होगा, फिर हम मुख दिखाने-योग्य न रहेंगी।" भैरवी ने कहा।

कमलिनी तीसरी बहन की संज्ञा थी।

एक ने कहा—"कमलिनी, तू जा।"

"नहीं।" कमलिनी बोली—"जो सुरुचि पर विजयी है, उस पर मेरा चक्र नहीं चल सकता।"

"फिर?"

"सुरभि, तुम जाओ।" कमलिनी ने कहा।

"मैं यहीं से उन पर सूत्र फेक सकती हूँ।" सुरभि ने कहा।

"चित्रा! तुम जाओ।" भैरवी ने कहा।

चित्रा भैरवी से छोटी बहन का नाम था।

चित्रा हँसी—"मैं जाऊँ? पर युवराज आँखें बंद किए हुए ध्यान में कुछ देख रहे हैं।"

"कमलिनी को साथ ले जाओ। यह अपने स्पर्श से युवराज का ध्यान तोड़ देगी, फिर तुम्हारा जादू चल जायगा।" सुरुचि ने कहा।

"अच्छा, कोई भी न जायगा। हम यहीं से छिपकर कोई गीत गावें। देखें, उसका प्रभाव कैसा पड़ता है इस युवराज पर।" भैरवी ने निर्णय किया।

गीत-कुमारियों ने गीत आरंभ किया—

दूर उड़ आ, हंस मानस सरोवर से,
क्यों तुझे यह प्रिय हुआ है विश्व-भर से।
नील जल-आकाश, नीला हिम-प्रसार,
रुद्ध कारागार के कर मुक्त द्वार।
आ जगत में एकरंगी इस विवर से,
दूर उड़ आ, हंस मानस सरोवर से।

मंत्र ने ग्रंथियाँ बाँध दीं। फूल आकाश में ठहर गए, पत्ते पवन में स्थिर हो गए, पक्षी शाखाओं में और जीव धरती पर। सिद्धार्थ का स्वप्न टूट गया!

वह घबराकर उठा, उसने आँखें मलकर इधर-उधर देखा—"फिर वही गीत! इस बार बिलकुल ही निकट। मेरे माता-पिता इसे मेरा भ्रम कहते हैं। मेरे सखा-सहोदर इसे मेरा उन्माद बताते हैं। कौन हो तुम? कहाँ से गाते हो? किस उद्देश्य से गाते हो? मैं तुम्हारे इन स्वरों से प्रीति करता हूँ। जब तुम्हारा गीत नहीं सुनाई देता, तो और भी चिंतित हो जाता हूँ।"

केवल स्थायी दुहराकर कुमारियों ने गीत बंद कर दिया था। वे पत्तों की आड़ से झाँकने लगीं सिद्धार्थ को। उन्होंने उसे विह्वल होकर

इधर-उधर ढूँढ़ते हुए देखा। सब-की-सब मन-ही-मन मगन हो उठीं।

"दिखाई क्यों नहीं देते तुम ? किस लोक से गा रहे हो ? मैं तुम्हें देखना चाहता हूँ। पहले दूर किसी गहराई से तुम गाते थे। आज मैंने बहुत ही निकट सुना ! इसी से शब्द प्रकट हो उठे क्या गीत में ? फिर गाओ, तुमने क्यों मौन धारण कर लिया ?"

गीत-कुमारियाँ विजय के दर्प में एक दूसरे का मुख देखकर मुसकराने लगीं।

"केवल एक गीत के ही जाल में फँस गए कुमार !" भैरवी बोली।

"दीदी ! फिर गावें न ? कैसी आकुलता से कुमार उस बीच में ही तोड़ दिए हुए गीत का सिरा खोज रहे हैं !" सुरुचि ने कहा।

"क्यों, बड़ी करुणा उपज गई है तेरे मानस में युवराज के लिये।" भैरवी ने कहा।

"करुणा कैसी ? गीतों से उनका मनोरंजन करने के लिये तो आई हैं हम यहाँ।" सुरुचि ने कहा।

"एक साथ ही समस्त गीत गा देने से राजकुमार की रस-तृप्ति हो जायगी, और हमारी नवीनता जाती रहेगी।"

सिद्धार्थ फिर बोला—"फिर गाओ न।"

"जैसे बहुत दिनों का परिचय है इनका हमारे साथ, यह तो इस प्रकार हमें संबोधित कर रहे हैं। इससे पहले कब सुना इन्होंने हमारा गीत ?"

गीत-कुमारियों ने फिर गाया—

सात रंगों का यहाँ कुसुमित विलास,
रूप-रस है, रास-गीतों का विकास।
दे रही देवत्व नारी सुधाधर से,
दूर उड़ आ, हंस मानस सरोवर से।

भैरवी ने संकेत कर फिर चुप करा दिया सबको—"बस, इतना ही।"

सिद्धार्थ ने कहा—"समझ में आया। बहुत दिनों में इस बार! लौट चल हे हंस मानस सरोवर में क्या तुम्हारा अर्थ उस हंस से है, जो मेरे पास आकर मुझे दया करना सिखा गया। वह तो लौट गया है अपने निवास। उसका घत अच्छा हो गया था जब, उसमें उड़ने की शक्ति आ गई थी, तब मैंने उसे इस मुक्त आकाश में उड़ा दिया था। इधर, उधर ही से सुना मैंने यह गीत। आज मुझे दिशा का ज्ञान हुआ है। आज तुम्हारे स्वरों ने उधर संकेत किया है। मैं ढूँढ ही लूँगा तुम्हें।"

भैरवी ने कहा—"युवराज इधर ही आ रहे हैं, अब हम छिप नहीं सकतीं। चलो, गाती हुई नृत्य के चक्र से उन्हें घेर लें।"

सब-की-सब नाचती-गाती हुई कुंज के बाहर निकल आईं, और उन्होंने सिद्धार्थ को चारों ओर से घेर लिया।

युवराज ने कहा—"आज ढूँढ सका मैं तुम्हें।"

"हम आज ही तो आई हैं।"

"फिर वह कौन गाता था। बिलकुल तुम्हारे ही अनुरूप।"

"हम नहीं जानतीं। हमें महाराज ने बुलाया है, दूर देश से।"

"तुम गीत-कुमारियाँ हो?"

"हाँ।"

"एक पीड़ा है मेरे हृदय में।"

"कैसी राजकुमार?"

'पीड़ा है, यह जानता हूँ : क्यों है, यह नहीं जानता।"

"हम आपकी पीड़ा मिटा न सकेंगी, तो भुला तो अवश्य ही देंगी।" भैरवी ने कहा।

"चलो, तब सरोवर के निकट उस जामुन के पेड़ के तले चलें।"

सब वहाँ गए।

सिद्धार्थ ने भैरवी से कहा—"तुम इन सबसे बड़ी हो?"

"हाँ, मेरा नाम भैरवी है।" भैरवी ने अपनी छोटी बहन को सिद्धार्थ के सम्मुख किया।

वह बोली - "मेरा नाम चित्रा है।"

"तुम सबसे अधिक दर्शनीय हो।"

चित्रा ने अपनी बहन को आगे किया।

वह बोली—"मेरा नाम कमलिनी है, मैं भैरवी की तीसरी बहन हूँ।" उसने चौथी बहन को आगे कर दिया।

सुरभि ने कहा—"मेरा नाम सुरभि है।"

सबसे छोटी ने कहा—"और युवराज, मेरा नाम सुरुचि है।"

"तुम पाँचों बहनों के पाँच भिन्न-भिन्न आकर्षण हैं। अच्छी बात है, तुम्हारा स्वागत है। मेरा नाम सिद्धार्थ है। अपने ही भवन का बंदी एक राजकुमार हूँ मैं। इस सात दीवारों से घिरे हुए एकांत में। दो दीवारों में पथ मिल गया है मुझे। पाँच दीवारें शेष हैं। तुम पाँचों बहनें मिलकर उन्हें मुक्त कर दोगी, मेरे लिये।"

गीत-कुमारियों की समझ में कुछ आया नहीं। वे चुप रहीं।

सिद्धार्थ की दृष्टि सरोवर के किनारे पर गई। एक मेंढक उचक-उचककर तितलियों को खा रहा था।

सिद्धार्थ ने कहा—"हैं! यह क्या, यह मेंढक खा गया उस छोटी-सी तितली को।"

"यह तो एक साधारण बात है राजकुमार! मेंढक का भोजन ही है वह। वह उसे खाए नहीं, तो जिए कैसे?" चित्रा ने कहा।

"पर मेरी दृष्टि आज ही गई इस पर। क्या कुछ और पत्ती-घास खाकर नहीं जी सकता यह?" युवराज ने पूछा।

कमलिनी चिल्ला उठी—"सर्प! सर्प!"

सब एक ओर को हटकर सावधान हो गए। सर्प ने उस मेंढक को निगल लिया!

गीत और गीत-कुमारियों का आगमन सुनकर नंद, छंदक और कुछ दास-दासी भी वहाँ आ गए थे। एक सेवक ने साँप को मारने के लिये पत्थर उठाया। सिद्धार्थ ने उसे वारण कर दिया।

इतने में एक श्येन पक्षी आकाश-मार्ग से आया, और उस सर्प को अपनी चोंच में उठाकर उड़ गया!

"क्या देखा यह? मेंढक को साँप ने निगल लिया, और साँप को श्येन उठा ले गया। कैसी हिंसा छिपी हुई है, इस प्रकृति के शांत आवरण में घात लगाए। जल के लिये थल पर और थल के लिये आकाश पर।" सिद्धार्थ ने आँखों में आँसू भरकर कहा।

"यह तो प्रकृति का रात-दिन का खेल है युवराज!" भैरवी ने सांत्वना देते हुए कहा।

"पर मैंने आज ही देखा। एक का जीवन दूसरे के जीवन पर ठहरा हुआ है क्या?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"हाँ," भैरवी ने कहा—"जीव हुआ तो, अन्न और घास हुई तो क्या? यह एक शृंखला है—"वह सहम गई!

"एक अटूट मृत्यु की शृंखला है क्या? जहाँ तक दृष्टि जाती है, उससे भी दूर? अनुमान की सीमा— उससे भी दूर? ओह! बड़ी पीड़ा है, बड़ी अशांति है।" सिद्धार्थ भूमि पर मस्तक पकड़कर बैठ गया।

"मस्तक पर से हाथ हटाओ युवराज! इससे अशांति और भी बढ़ जायगी।"

"अच्छा, मैं उठ जाऊँगा। मेरे प्रश्न का उत्तर दोगी?" युवराज भैरवी का गार-कोमल हाथ पकड़ने लगा।

भैरवी ने सिद्धार्थ का संकोच दूर किया—"हम गीत-कुमा-

रियाँ हैं। हमारे अंग-स्पर्श से दोनो में से किसी का भी विचार मलिन नहीं हो सकता।" उसने हाथ बढ़ाकर युवराज को उठा लिया। "क्या प्रश्न है तुम्हारा ?"

"वह शृंखला किसकी है ?"

भैरवी को तीसरे निमित्त की याद आ गई थी। उसने जान-बूझकर मृत्यु के नाम को छिपा दिया था। उसने दूसरा शब्द सोचने में विलंब नहीं लगाया—"वह दिन और रात की शृंखला है।"

सिद्धार्थ हँसने लगा—"क्यों, उसे मृत्यु की शृंखला कहने में तुम्हें क्यों भय लग रहा है ?"

भैरवी ने सिद्धार्थ का दूसरा हाथ भी पकड़ लिया। उसने अपनी बहनों को कुछ संकेत किया। वह हँसकर बोली—"वह रुदन और गीत की शृंखला है युवराज! हम रुदन को हर नहीं सकतीं, ढक लेंगी।"

युवराज ने स्मित होकर कहा—"ढक लो फिर। ओट में कर दो अंधकार को। उसकी विस्मृति दो। मैंने तुम्हें सौंप दिया अपना मन।"

गीत-कुमारियों ने एक-दूसरे का हाथ पकड़कर घेर लिया सिद्धार्थ को।

भैरवी ने कहा—"युवराज, यह है वह शृंखला।"

सिद्धार्थ ने प्रसन्न होकर एक-एक के निकट जाकर कहा—"भैरवी, चित्रा, कमलिनी, सुरभि और सुरुचि! सात प्राचीरों के भीतर तुमने एक और चक्र बना दिया यह! गाओ, गाओ फिर वही गीत!"

गीत-कुमारियाँ युवराज को घेरकर नाचने-गाने लगीं।

राजभवन से दर्शकों की भीड़ लग गई वहाँ। उनमें प्रसन्न चित्त महाराज और महारानी भी थीं।

६. प्रेम के पाठ

युवराज की वह उदास भावुकता गई तो नहीं, पर गीत-कुमारियों ने अपने राग में उसे छिपा दिया। जब उसे चिंता घेरती, गीत-बालाएँ अपने-अपने आकर्षण से सिद्धार्थ का ध्यान एक स्थान से हटाकर दूसरी जगह स्थापित कर देतीं। युवराज के मन को सांसारिकता में अटका दिया उन्होंने, इससे राजभवन में वे बड़े आदर और सम्मान से देखी जाने लगीं।

युवराज जिस गीत को मन में सुनते थे, वह उनके भवन, प्रांगण और उपवन में सजीव हो उठा। पहले कुछ दिन तक वह उस भीतर के और बाहर के गीत में अंतर समझते रहे, फिर उन पंचकुमारियों की माया में भूल गए। वह ज्वाला राख के नीचे दब गई!

कुमारियाँ धन के लालच से नहीं आई थीं वहाँ। उनके देश में कोई सिक्का नहीं चलता था। वे कभी फूल-पत्तों को छोड़कर किसी धातु से अलंकृत न होती थीं। वे रत्नों को चमकीले पत्थर कहती थीं।

एक सद्भाव की प्रेरणा से ही वे वहाँ आई थीं। राजा का एक मित्र था गंधर्व-देश में, उसी ने उन्हें वहाँ भेजा था। इस निःस्वार्थ भाव से और भी उनका महत्त्व बढ़ गया। कभी-कभी महारानी प्रजावती दासियों को पीछे छोड़कर उन गीत-कुमारियों की अभ्यर्थना के लिये आगे बढ़ जाती थीं।

उसी जामुन के वृक्ष के नीचे, सरोवर के किनारे पाठशाला खुली। शिक्षिकाएँ पाँच और छात्र केवल एक।

सिद्धार्थ ने कहा—"मैंने शास्त्रों का अध्ययन किया है।"

"हम तुम्हें एक नवीन शास्त्र पढ़ावेंगी।" भैरवी ने कहा।

"कौन-सा?"

"हम तुम्हें प्रेम सिखावेंगी।"

"क्या हुआ प्रेम? मैं प्रेम करता तो हूँ।"

"नहीं युवराज! यह इतना सरल नहीं है, जितना तुम समझते हो।"

"क्या हुआ प्रेम?"

"धीरे-धीरे ही तो सीखोगे। एक ही क्षण में कोई नहीं सिखा सकता।"

"सबसे पहले क्या करना होगा?" युवराज ने पूछा।

"पहले रस की वृत्ति जागरित करनी होगी मन के भीतर।" भैरवी ने कहा।

"रस क्या हुआ?"

"आनंद की भावना। इसके लिये तुम्हें मन की उदासी का बिलकुल त्याग करना होगा। रूप पर खिंचना होगा।"

"तुम बड़ी सुंदर हो भैरवी! कब का परिचय है तुमसे, नहीं जानता। कितने दिनों से तुम मुझे अलक्ष्य में वह गीत सुना रही थीं, जो अब तुम्हें सामने पाकर और भी मधुर हो उठा है! स्वर के सूत्र में पकड़कर तुम मुझे खींचकर ले जा रही हो! कहाँ? तुम्हारे आ जाने से ये सातों दीवारें और भी दृढ़ हो गई हैं। पहले बाहर क्या है, इसे जानने की आकांक्षा थी, वह अब विस्मृत हो गई है। भैरवी!" सिद्धार्थ उसका हाथ पकड़ने को बढ़ने लगा।

"नहीं युवराज!" भैरवी पीछे हटने लगी।

"क्यों?"

"तुम हमें ऐसे नहीं पकड़ सकते ।"

"पर मैंने अनेक बार तुम्हारा स्पर्श किया है ।"

"हम चाहें, तो तुम्हें पकड़ सकती हैं । तुम नहीं ।" भैरवी ने बहुत रूखे भाव से कहा ।

"चित्रा कहाँ है ?"

"क्यों ?"

"आज नहीं देखा उसे ।"

"पर तुम उसे भी नहीं पकड़ सकते ।"

"क्यों ?"

"उस दिन बताया था मैंने तुम्हें । हमें पकड़कर तुम हमारा रहस्य नहीं जान सकते ।"

"फिर रूप की उपासना कैसे होगी ?"

"होने तो लगी है ।" कहकर भैरवी जाने लगी ।

युवराज बोले— "ठहरो भैरवी ।"

"नहीं युवराज ।"

"कुछ क्षण ।"

"नहीं, मैंने तो अभी स्नान भी नहीं किया है । और बहनें गई हैं सरिता के किनारे । मेरा पथ देख रही होंगी ।"

"चलो, मैं भी चलूँगा ।"

भैरवी जय के गर्व से स्मित हुई—"नहीं राजकुमार, स्नान-रता नारी को देखना, यह भी कोई शील हुआ ? फिर, नदी तो नगर की सातवीं दीवार के बाहर है न ? हम अभी कुछ ही देर में आ जायँगी ।"

"यहीं इस सरोवर में स्नान कर लो । यह भी तो नदी की ही नहर से भरा गया है ।"

सिद्धार्थ ने फिर हठ किया ।

वह हँसी—"नहीं युवराज! हठ तुम्हारी शोभा नहीं है।" भैरवी दौड़कर चली गई।

"पहले ये पाँचों बहनें मेरी इच्छा की वशवर्तिनी थीं। अब ये मुझे प्रिय हो उठी हैं। इसी से इनमें उपेक्षा उत्पन्न हुई, और मैं हठी हो गया। चित्रा बड़ी सौम्य और सुरूपा है। वह भैरवी की-सी उपेक्षा करना नहीं जानती।"

एक दिन भैरवी ने महाराज से कहा—"युवराज के हृदय में हमने अनुराग उत्पन्न कर दिया है।"

"हाँ भैरवी, हम देख ही रहे हैं। अब उनके मन से वह चिंता तिरोहित हो गई है।"

"हाँ, हमने उनके मन में पाँचों रस-भोगों की प्रवृत्ति जगा दी है। युवराज की भावना रस-जगत् में बस गई है, मधुलुब्ध भ्रमर की भाँति।"

"हम निःसंदेह तुम्हारा आभार स्वीकार करते हैं।" महाराज ने कहा।

"अब उनका विवाह कर दीजिए। युवराज का मन-पक्षी अब बड़ी सरलता से किसी मृग-नयनी के जाल में बाँधा जा सकता है।"

"विवाह किससे हो?"

"हम बतावेंगी यह भी।"

"केवल रूप ही लक्ष्य न हो। हम शील को अधिक विशेषता देते हैं।"

"ठीक है राजन्! शील-संयुक्त रूप ही वास्तविक रूप है। ऐसा ही होगा। अगले मास में युवराज के जन्म-दिवस का उत्सव है। उस अवसर पर आप अपने जाति की समस्त विवाह योग्य सुंदरी कुमारियों को निमंत्रित कीजिए। वे युवराज को बधाइयाँ देने आवेंगी। भाँति-भाँति के वस्त्राभूषण मँगाइए, युवराज उन्हें उपहार प्रदान करेंगे अशोक-भांडों के साथ।"

"ऐसा ही किया जायगा।"

"उस समय हम युवराज के निकट ही रहेंगी। हम युवराज के भाव और उनकी चेष्टाओं से उनके हृदय की थाह ले लेंगी, और आपको युवराज की मनोनीत कुमारी को बता देंगी।"

यवराज को भैरवी बड़ी प्रिय जान पड़ी, आरंभ के बहुत दिनों तक। उसके हृदय में जिन स्वरों की झंकार थी, उनकी प्रतिध्वनि युवराज को भैरवी के कंठ में मिली। जब उसके मन का गीत भैरवी ने भौतिक जगत् में मूर्त कर दिया, फिर भैरवी से हटकर उसका विचार चित्रा की ओर बढ़ा।

"चित्रा, तुम अनुपम सुंदरी हो।" सिद्धार्थ ने कहा एक दिन।

चित्रा ने स्मित-वदन कहा—"आज ही क्या स्मृति-सी हुई है तुम्हें? इतने महीनों से हम सान्निध्य में हैं।"

"विचार और अध्ययन से हमें सत्य दिखाई देता है।"

"पहले तुम भैरवी से ही अधिक बोलते थे। उसी ने तुम्हारे विचार आकर्षित कर रक्खे थे।"

"अब जान पड़ता है, वह अधिक भ्रमित कर देती है। उसका स्वर सुंदर है, इसमें कोई संदेह नहीं, पर नेत्रों के लिये तुम सुरूप हो, बहुत स्पष्ट हो। गीत एक स्वप्न की भाँति अधिक मोह रखता है, पर वास्तविकता कम है उसमें। तुम्हें जब लता-कुंजों की ओट से देखता हुआ पाता हूँ, तो एक अद्भुत रोमांच से भर उठता हूँ।" सिद्धार्थ उसकी ओर बढ़ने लगा।

चित्रा भाग खड़ी हुई।

"चित्रा!"

"ठहरो युवराज, मुझे एक काम है।"

"क्या?"

नहीं बताया चित्रा ने। बड़ी देर में उसने प्रत्यावर्तन किया।

"चित्रा, तुम इस प्रकार कठोर होकर विना बोले ही चली गईं। मैं तब से निरंतर तुम्हारे ही चिंतन में हूँ। सच पूछो, तो मैं तुम्हारी आहट पर ही साँस ले रहा हूँ। तुम कहाँ चली गई थीं?"

"प्यास लग गई थी।"

"मैं समझा था, तुम रिसा गईं!"

"नहीं युवराज! इतने दिनों से देख ही रहे हो। हम रिस करना जानती ही नहीं। जो कुछ हुआ, स्पष्ट कह देती हैं। किसी को बुरा लगे, चाहे भला।" चित्रा ने कहा।

"चित्रा, तुम अत्यंत सुंदर हो।"

"हम इन स्तुति के वाक्यों से अनभ्यस्त हैं युवराज, और इनसे हमारा भाव अविचल ही रहता है।"

"निरंतर तुम्हारी संगति में समय अतिवाहित करने की इच्छा होती है।" कहते हुए सिद्धार्थ ने उसकी ओर हाथ बढ़ाया।

"ठहरो युवराज! तुम प्रतिज्ञा भूल रहे हो!"

"कौन-सी?" युवराज ने हाथ रोककर उसकी ओर देखा, दुख में भरकर।

"वही कि तुम हमारा स्पर्श न करोगे।"

"पर तुम्हें तो मेरा स्पर्श करने की स्वतंत्रता है न?"

"फिर क्या हुआ?"

"एक ही बात तो हुई। अंतर क्या रहा? मैंने तुम्हारा स्पर्श किया, या तुमने मेरा। उस प्रतिज्ञा में कोई तर्क नहीं रह जाता, इससे मैं उसका त्याग करता हूँ।"

"नहीं युवराज, कदापि नहीं। सबके सामने ही तुम्हें यह प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ेगी, क्योंकि सबके सामने ही तुमने यह व्रत लिया था।"

"केवल तुम्हारे ही सामने तोड़ता हूँ।"

"नहीं युवराज!"

"दोनों ही तो स्पर्श हैं।"

"एक में तुम्हारी कामना है, दूसरी में मेरी।"

"मैं अपनी कामना को भी प्रत्यक्ष चाहता हूँ।"

"नहीं।"

"चित्रा, तुम अनुपम हो।"

"हम सब समान ही हैं युवराज!"

"नहीं, तुम सर्वश्रेष्ठ हो। जिस एकांत में मैं केवल अपने विचारों के ही साथ रहता था, वहाँ अब तुम्हारा साथ चाहता हूँ। तुम इतनी कठोर क्यों हो? बैठो।"

चित्रा बैठ गई।

"और भी निकट।"

"तुम्हारी इस कामना का कोई अंत ही न होगा। इसी से तो हमने उसके बीच में एक रेखा खींची है—एक सीमा बनाई है।"

"अच्छा, यहीं बैठी रहो। इस संबंध में और कुछ न कहूँगा।"

"यदि कहा, तो फिर मैं कभी तुम्हारा साथ एकांत में नहीं करूँगी।" चित्रा ने कहा।

"चित्रा! चित्रा!" भैरवी ने पुकारा कहीं ओट से।

"हाँ, आई।" कहकर वह उठ खड़ी हुई। उसने युवराज से आज्ञा चाही। वह चली गई।

सिद्धार्थ सोचने लगे—"चित्रा भी भैरवी के ही समान है। उन्होंने जो अनुराग सिखाया है मुझे, उसके दो पक्ष हैं—एक में वे मेरे समीप रहती हैं, दूसरे में दूर।"

"क्या विचार कर रहे हो युवराज!" कहती हुई भैरवी आई वहाँ पर।

"यही कि तुमने जो प्रेम सिखाया है, उसके दो पक्ष हैं क्या?"

हँसकर भैरवी ने कहा—"हाँ-हाँ।"

"क्यों ?"

"क्योंकि जिस वस्तु से तुम प्रेम करते हो, उसमें तीसरा परिमाण है—वह सघन है।"

"एक ही पक्ष क्यों नहीं है ?"

"घनत्व बाधक है। विरह के कारण ही मिलन है, और मिलन ने ही विरह को उपजाया है। विरह से भी प्रेम करो युवराज !"

"मैं नहीं समझता तुम्हारी बात, तुम परिहास कर रही हो।"

"शुद्ध सत्य किया है प्रकट मैंने तुम पर। नहीं समझोगे तुम अभी। जब अनुभव परिपूर्ण होगा सभी, तब तक नहीं।"

"मैं तुमसे प्रेम करता हूँ।"

"तो कौन तुम्हें वारण करता है इससे ?"

"फिर तुम क्यों नहीं करतीं ?"

"वह हमारी वस्तु है। उसके लिये तुम्हारा हठ और आग्रह होना उचित नहीं है।"

"मैं अपने प्रेम की प्रतिध्वनि चाहता हूँ।"

"हमारे पास न मिलेगी वह।"

"फिर तुमने क्यों मुझे प्रेम सिखाया ?"

"हमने कहाँ सिखाया ?"

"सुंदर थे वे दिन ! केवल सुनता ही था। सारा जगत् इस प्राचीर-सप्तक की ओट में था। इस राजभवन और उपवन पर मैं अपनी पलकें गिरा देता था। तुमने वह गीत मेरे मन के भीतर से निकालकर उसे मेरे सामने प्रतिष्ठित कर दिया।"

"क्या बुरा किया ?"

"कदाचित् वह मेरे वश में था, और तुम मुझसे दूर हो !"

भैरवी हँसकर कहने लगी—"दूर कहाँ हैं युवराज ! क्या तुम्हारी इच्छा पर ही हम सदैव गाती और नाचती नहीं हैं ?"

"तुम्हारे ऐसे विचार हैं, तो हम चली जायँ।"

सिद्धार्थ घबराकर उठा—"नहीं, ऐसा न कहो।"

एक दिन सिद्धार्थ जब उपवन में अकेले ही थे। उन्होंने एक कोमल कंठ की चीत्कार सुनी। सरोवर की ओर से आई थी वह ध्वनि। दौड़कर, उधर जाकर देखा, कमलिनी जल में छटपटा रही थी।

"बचाओ-बचाओ।" कमलिनी चिल्लाई।

"तुम्हारा स्पर्श?" सिद्धार्थ ने जल में धँसकर पूछा।

"हाँ-हाँ, मुझे खींचकर बचा लो युवराज! मैं तुम्हारी आजन्म ऋणी रहूँगी।"

सिद्धार्थ ने उसके हाथ पकड़कर उसे जल से बाहर खींच लिया—"कैसे गिर पड़ीं तुम जल में?"

"फूल तोड़ रही थी। पैर फिसल गया, इस सोपान पर काई जमी हुई थी।"

"अब क्या होगा?" सिद्धार्थ ने उसका हाथ पकड़े हुए ही कहा।

"कैसा क्या?"

"हमारा व्रत टूट गया!"

"कदापि नहीं।"

"क्यों? मैंने तुम्हारा स्पर्श कर तुम्हें तट पर खींचा।"

"नहीं युवराज, मेरी ही इच्छा तो थी वह। मैंने तुमसे कहा न?"

"तो मैं अब अपनी इच्छा से पकड़े हुए हूँ तुम्हारा हाथ।"

सिद्धार्थ ने नहीं छोड़ा था उसका हाथ अभी तक।

"नहीं, इस पर अभी मेरा ही अधिकार है।"

"फिर भी यह स्पर्श कितना कोमल और कमनीय प्रतीत हो रहा है। मेरी कामना है कैसे नहीं इस पर?"

"इस बार छोड़ देने पर फिर जब ग्रहण करोगे, तब होगी।"

सिद्धार्थ ने फिर पकड़ने के लिये उसका हाथ छोड़ दिया। कमलिनी भाग गई दूर !

"कमलिनी !"

"नहीं युवराज ! भैरवी देख लेगी।"

कमलिनी भाग गई !

सिद्धार्थ सोचने लगे—"ये पाँचों बहनें एक ही तत्त्व की बनी हुई हैं। ये प्रेम सिखाती हैं, पर प्रेम करने से भागती हैं।"

भैरवी आकर बोली—"क्या सोच रहे हो युवराज ?"

"यही कि तुम प्रेम करना नहीं जानतीं ?"

"तुम्हीं कहाँ जानते हो ?"

"क्यों नहीं जानता मैं ?"

"क्या इसी को प्रेम कहते हैं ? कभी तुम मेरे प्रति अनुराग दिखाते हो, कभी चित्रा के, कभी कमलिनी के, कभी सुरभि के और कभी सुरुचि के। यह विभ्रम है, भ्रमर की वृत्ति है, इसका नाम प्रेम नहीं है।"

"फिर प्रेम किसे कहते हैं ?"

"प्रेम सत्य को लेकर ही उच्च और विशुद्ध होता है।"

"प्रेम में सत्य का समावेश कैसे होता है ?"

"अनेकता से नहीं, एकता से।"

"कैसी एकता ?"

"केवल एक से ही प्रेम करना। केवल एक ही का चिंतन और उसी के लिये व्याकुलता !"

"नहीं भैरवी ! मैं तो समस्त विश्व-संसार से प्रेम करना चाहता हूँ। उसमें जड़-जीव, पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, गिरि-सागर, नर-नारी ग्रह-नक्षत्र सब सम्मिलित हैं। मैं इन सबसे प्रेम करना चाहता हूँ।"

"मैं नहीं समझ रही हूँ युवराज, तुम क्या कह रहे हो ?"

"क्या मैं इन सबसे प्रेम नहीं कर सकता ?"

"क्रमशः ही तो वह व्यापक हो सकेगा। आरंभ में केवल एक को ही प्रिय समझना होगा युवराज ! एक ही से तो अनेक बनता है न।"

"वह एक कौन है ? तुम ?"

"नहीं, हममें से कोई भी नहीं।"

"फिर ?"

"तुम स्वयं ही ढूँढ़ लोगे उसे।"

"कब ?"

"बहुत शीघ्र। उससे तुम्हारा विवाह होगा।"

"विवाह क्या हुआ ?"

"यही एकता का बंधन है।"

"पर मैं मुक्ति चाहता हूँ। सात दीवारों के बंदी सिद्धार्थ को तुम और एक प्राचीर में क्यों घेर देना चाहती हो ?"

"मुक्ति बंधन पर ही तो ठहरी है। जब बंधन ही नहीं, तो फिर मुक्ति कैसी ? बंधन से मुक्ति, मुक्ति से बंधन, तभी तो सृष्टि का चक्र पूरा होता है।"

"तुम्हारा तर्क समझ में आता है भैरवी ! मैं विवाह करूँगा।" सिद्धार्थ ने कहा।

"वह एकता का बंधन है, पर लक्ष्य में उसके अनेकता है।"

"सुंदर !"

"वही तुम्हारे एकांत की छाया-सहचरी होकर रहेगी। वही तुम्हारी इच्छा का अंध अनुसरण करेगी युवराज ! हम तो अपनी इच्छा से चलती हैं, अपनी ही आकांक्षा से स्थिर होती हैं, और फिर अपने ही विचार पर चल देती हैं।"

"देख ही रहा हूँ तुम्हें इतने दिन से।" सिद्धार्थ ने हँसकर कहा।

"हम तुम्हें केवल प्रेम का मार्ग दिखाने आई हैं, प्रेम कर नहीं सकतीं। प्रणय वही करेगी।"

"कौन ?"

"वही। आजन्म अर्द्धांगिनी बनाने की पवित्र शपथ लोगे जिसका पाणिग्रहण कर।"

"अर्द्धांगिनी ?"

"हाँ, नारी के आधे अंग से पूर्ण होता है वह। विना आधा अंग उसे समर्पित किए उसका विचार स्थिर नहीं होता। विना विचार स्थिर हुए मनुष्य की उन्नति नहीं होती।"

"आधा अंग कैसे समर्पित किया जायगा उसे ?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"वस्तुतः समर्पण नहीं कह सकते इसे, विनिमय युवराज ! अपने आधे अंग में नारी के आधे अंग की प्रतिष्ठा।"

"तुम्हारी बात समझ में नहीं आती भैरवी ! विनिमय तो उस वस्तु से हो सकता है, जो हमारे अंग से भिन्न है। अपने अंग के एक भाग का दूसरे के अंग के एक भाग से कैसा विनिमय ?" युवराज ने पूछा।

"यह भाव-जगत् की बात है, भौतिक उपकरण केवल संकेत-मात्र हैं। अभी न समझा सकूँगी तुम्हें, चेष्टा भी न करूँगी। धीरे-धीरे स्वयं ही समझ जाओगे युवराज ! अभी तुम्हारा नारी-भाव सारे जगत् पर विस्तीर्ण है। शनैः-शनैः वह तुम्हारे भवन में प्रतिष्ठित होगा, और वहाँ से फिर तुम्हारे अंग में ही। मन की बहिर्मुखी गति फिर अंतर्मुखी हो जायगी युवराज !"

"यह विवाह का बंधन नैसर्गिक है या लौकिक ?" युवराज ने पूछा—"इनमें से किसका बनाया हुआ ?"

"दोनो में से कदाचित् किसी का भी बनाया नहीं। विवाह ने उसे स्वयं ही बनाया है, सरिता के मार्ग की भाँति।" भैरवी ने कहा।

युवराज के सोलहवें जन्म-दिन का उत्सव निकट आया। बड़े समारोह से वह मनाया गया। राज्य-भर के समस्त दीन-दुखियों को अन्न, वस्त्र और द्रव्य वितरित किया गया। राज्य के कर्मचारियों को, इष्ट-मित्रों को सुबृहत् भोज दिया गया। युवराज के दीर्घजीवन की कामना की गई, उन्हें बधाइयाँ दी गईं। देवी-देवताओं से उनके लिये प्रार्थना की गई, गुरुजनों से उनके लिये आशीर्वाद प्राप्त किए गए। नृत्य-गीत की अविराम धारा से सारा राजभवन परिप्लावित हो उठा!

राज्य के क्षत्रिय-वंश की समस्त सुंदरी कुमारियाँ निमंत्रित गईं। वे एक-एक कर युवराज के समीप उन्हें बधाई देने को आईं, और युवराज उन्हें एक-एक अशोक-भांड उपहार देते गए। जल से परिपूर्ण एक बर्तन था वह, उसमें मंगल सूचक एक-एक अशोक की मंजरी डाली गई थी, और एक-एक आभूषण भी रक्खा गया था।

पाँचों गीत कुमारियाँ घेरकर खड़ी थीं राजकुमार को। वे बड़ी सावधानी से युवराज की एक-एक भाव-गति और एक-एक मुद्रा-चेष्टा का निरीक्षण कर रही थीं।

अनेक सुंदरी राजकुमारियाँ युवराज के हाथों से उपहार ग्रहण कर चली गई थीं। कोई भी उनके भावों में परिवर्तन न कर सकीं, किसी की ओर उनका ध्यान आकृष्ट न हुआ।

दो-चार राजकुमारियों को तो युवराज ने आँख उठाकर देखा भी नहीं। विनत नेत्रों से ही उन्होंने गीत-कुमारी के हाथ से अशोक-भांड लिया, और उसी प्रकार उसे राजकुमारियों को दे दिया।

गीत-कुमारियाँ युवराज की इस उदासीनता को देखकर चक्कर में पड़ गईं !

और एक राजकुमारी आई—रूप-गर्विता ! उसके चरणों के रव में उसकी मंजीर-ध्वनि डूबी हुई थी, उसकी छाया से ही घबरा उठा युवराज।

उसका ध्यान आकृष्ट करने के लिये भैरवी ने कहा—"युवराज !"

पर युवराज ने और भी अन्यत्र कर ली दृष्टि।

राजकुमारी ने अंग पर के समस्त आभूषण बजाकर हाथ जोड़े और कहा—"युवराज ! मैं आपके जन्म-दिवस के लिये मंगल-कामनाएँ लेकर आई हूँ। मैं चानुमा की राजकुमारी हूँ, मेरा नाम कांचनमाला है।" उसने अपने साथ की दासी के हाथ से फल और पुष्पों की भेट लेकर सिद्धार्थ के समीप रक्खी।

कांचनमाला निस्संदेह अमित रूपवती थी। सिद्धार्थ उसे देखकर मुग्ध हो जायगा, ऐसा विश्वास लेकर वह आई थी। पर युवराज की विरक्ति देखकर उसके मुख-मंडल में चिंता की छाया पड़ गई ! युवराज की उपेक्षा उसे गड़ने लगी। वह अभिमान के मद में पृथ्वी पर पैर पटकना ही चाहती थी कि—

युवराज ने उसकी ओर देखा। मंद मुस्कान के साथ कहा—"कांचनमाला ! तुम परम सुंदरी हो। तुमसे अपने जन्म-दिवस की बधाई पाकर मैं धन्य हुआ हूँ !"

भैरवी ने जान-बूझकर कांचनमाला का उपहार रोक लिया अपने पास कि युवराज उससे बातचीत करे। उसने बातचीत का सिरा आगे बढ़ाने को पूछा—"कांचनमाला ! चानुमा-राज्य किधर है ?"

कांचनमाला बोली—"कपिलवस्तु की सीमा पर ही। अनोमा-नदी के इस पार। उधर फिर मल्लराज्य की सीमा है !"

सिद्धार्थ बोला—"परंतु कांचनमाला ! इन संज्ञाओं में मेरे लिये कुछ भी परिचय नहीं है। इन सात प्राचीरों के भीतर का बंदी एक राजकुमार ! संसार से सर्वथा अनभिज्ञ है। ऊपर नील आकाश, नीचे हरित धरती का एक टुकड़ा, जिसके चारों ओर दिशाओं को अपनी सुदृढ़ ऊँचाई में छिपाए हुए ये शिलाखंड—इन्होंने मुझे अंधा नहीं बना रक्खा है क्या ?"

कांचन मृदु स्वर में बोली—"आप शाक्य-वंश के परम उज्ज्वल नक्षत्र हैं। बड़ी साध और आकांक्षाओं के बीच में आपका लालन-पालन हुआ है। आप भावी महाराज हैं। साधारण मनुष्य की भाँति आप ऊँची-नीची धरती पर विचरण नहीं कर सकते। समस्त प्रजा आपके दर्शनों को आती है। आपको कहीं आने-जाने की क्या आवश्यकता है ?"

"अनोमा-नदी ? पहले कब इसका नाम सुना था मैंने भैरवी !" सिद्धार्थ ने भैरवी की ओर देखा।

"नहीं राजकुमार ! मैंने कभी नहीं किया उसका उल्लेख। मैं तो आज ही सुन रही हूँ उसका नाम।" भैरवी ने कहा।

"अचिरावती से एक शाखा काटकर हमारे उपवन से होकर बहाई गई है। सुनता हूँ, नदी उससे बहुत बड़ी होती है।" सिद्धार्थ ने कहा।

"हाँ युवराज।" भैरवी ने कहा।

सिद्धार्थ ने अशोक-भांड के लिये उसकी ओर अपना हाथ बढ़ाया।

"ठहरो युवराज, कांचन प्रियभाषिणी है। वह अभी कुछ देर और भाषण करने के योग्य है।" भैरवी बोली।

"हाँ कांचन, एक बात बताओ। इन पाँचों बहनों ने मेरे सीमित ज्ञान में बड़ी-बड़ी विचित्र बातें भर दी हैं। ये कहती हैं, अशोक

का वृक्ष सुंदरी नारी की ठोकर से मंजरित होता है। तुमने कभी ठुकराया है उसे ?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"हाँ युवराज ! पर मैं निश्चित रूप से नहीं कहती, वह मेरी ठोकर से खिला !" कांचन बोली।

"क्यों ?"

"हमारे उपवन में एक और भी फूलों से भरा अशोक दिखाई दिया मुझे, जिस पर कभी मेरी छाया भी नहीं पड़ी थी।" कांचन ने कहा।

"उस पर किसी और की ठोकर पड़ी होगी।" तत्क्षण ही चित्रा बोल उठी।

"इस बार अब मैं एक अशोक का पौधा अपने हाथ से उपवन के एक गुप्त स्थान में लगाऊँगा, वहाँ इन कुमारियों के दर्शन न होने दूँगा उसको।" सिद्धार्थ ने हँसकर कहा।

"जब वह खिल जायगा, तो मैं भी उसे देखने आऊँगी युवराज!" अपने हाथ के एक वलय को दूसरे हाथ से घुमाती हुई कांचन बोली।

"यदि खिल गया, तो अपना अभिमान छोड़ दोगी न ?" सिद्धार्थ ने सहज भाव से कहा।

पर कांचन को यह सहन न हुआ। उसने भ्रू-युगल में ग्रंथि देकर कहा—"अभिमान कैसा युवराज ?"

भैरवी बोल उठी—"यही कि नारी की ठोकर पाकर खिलता है अशोक।"

"तुम्हारी दासी की शरीर-यष्टि शीघ्र ही घर लौट जाने के लिये चपल हो रही है बार-बार कांचन ! जाना ही चाहिए तुम्हें अब। भैरवी ! अशोक-भांड दो न।" सिद्धार्थ ने भैरवी की ओर मुख कर कहा।

भैरवी ने विरक्ति के भाव से अशोक-भांड युवराज को दिया। कांचनमाला उसे ग्रहण कर चली गई।

"अप्रतिम सौंदर्यशालिनी है कांचन युवराज! तुमने ध्यान ही नहीं दिया। यह तुम्हारे प्रेम के लिये है।" भैरवी बोली—"क्यों चित्रा!"

"इसमें संदेह नहीं कुछ।" चित्रा ने प्रत्युत्तर में कहा।

"जब रूप का अभिमान हो गया, तो रूप कहाँ रहा?" सिद्धार्थ ने कहा।

"सभी वस्तुएँ पूर्ण मात्रा में एक ही स्थान पर नहीं मिलतीं। अधिक चयन की वृत्ति स्वभाव का दोष है।"

"प्रेम करने के लिये दूसरे में भी तो प्रेम चाहिए। तुम्हीं ने एक दिन बताया था।"एकांगी प्रेम प्रेम नहीं। बल-पूर्वक किया हुआ प्रेम दीर्घजीवी नहीं होता।" सिद्धार्थ ने कहा—"तुम्हारा और मेरा प्रेम इसीलिये तो नहीं हुआ। तुम आकर्षण करती हो, आकर्षित नहीं होतीं।"

"शाक्य-वंशी जाति के बाहर विवाह नहीं करते युवराज, और इसें जाति के भीतर भी यह संबंध स्वीकार नहीं। तुम तो केवल तर्क-प्रिय हो उठे हो। चित्रा, जा देख, कितनी राजकुमारियाँ अभी और शेष हैं। अशोक-भांड कम तो नहीं पड़ जायँगे?" भैरवी न कहा।

चित्रा ने कहा—"जाकर देखती हूँ। राजभवन के सब भांड यहाँ ले आई हैं दासियाँ।" चित्रा चली गई।

एक और राजकुमारी आई और उपहार लेकर बिदा हुई।

चित्रा ने लौट आकर कहा—"दस राजकुमारियाँ शेष हैं अब केवल। दो अशोक-भांड कम हैं, दासी ला रही है।"

एक-एक कर वे दसों राजकुमारियाँ भी अपने-अपने उपहार लेकर चली गईं, और सिद्धार्थ के मन में कोई भी अपने अंक न छोड़ सकी।

अंतिम राजकुमारी के जाने पर भैरवी ने कहा—"युवराज, तुम किस शिला-पाषाण का हृदय छिपाए हुए हो। सुंदरी राजकुमारियों की पूरी सेना तुम्हारे आगे से होकर निकल गई। किसका रूप, यौवन, गुण, शील तुम्हारे चिंतन का कारण बना? बताओ न।"

"किसी का भी नहीं।"

"फिर क्या होगा?" भैरवी ने आकाश की ओर देखकर कहा।

"कैसा क्या?"

"तुम्हारा विवाह?"

"जाने दो उसे। मैं केवल तुमसे प्रेम करूँगा।"

"हमें अपना देश छोड़े बहुत दिन हो गए। हम नित्य एक ही स्थान में नहीं रह सकतीं युवराज! तुम्हारे विवाह तक यहाँ रहने की प्रतिज्ञा की है हमने।" भैरवी ने कहा।

"वह कौन आ रहा है?" सिद्धार्थ ने उपवन की ओर संकेत कर दिखाया—"इसी ओर, साथ में दो दासियाँ भी हैं। कैसी मंद गति से। आँखें धरती में गड़ी हुई, जैसे कुछ खोज रही हैं!"

भैरवी कहने लगी—"एक राजकुमारी और शेष रह गई क्या? चित्रा! तूने गिनती में भूल की।"

"नहीं तो, यह कहीं और जगह बैठी होंगी।"—चित्रा बोली।

सिद्धार्थ टकटकी बाँधे उधर देख रहा था। राजकुमारी उसी ओर आ रही थी।

भैरवी ने चुपचाप चित्रा को कुछ दूर ले जाकर उसके कान में कहा—"इस बार बंधन में आ पड़े युवराज कदाचित्!"

चित्रा ने हँसते हुए भैरवी के हाथ-पर हाथ रक्खा—"हाँ-हाँ, निस्संदेह!"

"मैं समझती थी, इतने दिनों का रचा हुआ यह जाल व्यर्थ ही गया!"

आगमनशीला राजकुमारी सिद्धार्थ के बहुत निकट आ पहुँची थी। दोनों बहनें सिद्धार्थ के निकट और बहनों के साथ मिल गईं। चित्रा ने सबको संकेत में भैरवी का कहा हुआ रहस्य बता दिया।

राजकुमारी सिद्धार्थ के सामने कुछ दूरी पर रुक गई। उसके दोनो हाथ कुछ जुड़े हुए और कुछ मुड़े हुए उसके वक्ष देश पर स्थित थे। वह अपनी नीची दृष्टि से गरदन फिराकर भूमि पर कुछ भी नहीं देख रही थी।

उसकी भेंट लेकर उसकी दासी युवराज के निकट बढ़ी—"महाराज दंड —"

युवराज ने उसे आगे कुछ कहने नहीं दिया—"नहीं दासी, तुम चुप रहो। सब राजकुमारियों ने अपना परिचय स्वयं ही दिया है। पिता के नाम और यश के वर्णन में कैसी लज्जा। मैं यह भेंट भी जिसकी है, उसी के हाथ से ग्रहण करूँगा।"

दासी विहँसती-सकुचाती भेंट की थाली लेकर राजकुमारी के पास चली गई।

सुरभि ने हाथों से संकेत कर, युवराज की ओट में भैरवी से कहा—"अशोक-भांड !"

भैरवी ने एक हाथ से उसकी बाँह पकड़कर, दूसरे हाथ की उँगली से अपने अधर-पल्लव दबाकर कहा—"चुप रह !"

दासी ने जाकर राजकुमारी की ओर थाली बढ़ाई, कहा—"लो राजकुमारी, यह अपनी भेंट स्वयं ही जाकर दो।"

राजकुमारी अत्यंत संकोच में भर उठी।

दासी ने कहा—"घर से इतनी दूर तो आई हो राजकुमार के दर्शन के लिये। समीप आकर न-जाने क्या भय खाने लगी हो। कितनी देर से तुमसे चलो-चलो कह रही थी। सब राजकुमारियों के

जाने के पश्चात् बड़ी कठिनता से अब आई हो। अब भी क्या कैसा संकोच हो गया तुम्हें ? लो अपनी थाली।"

"कुछ क्षण ठहर दासी।" कहकर राजकुमारी ने अपने हाथों के आभूषण ठीक किए, अंग पर का वस्त्र सँभाला - "राजकुमार किस ओर देख रहे हैं ?"

"तुम्हारा विलंब अवश्य ही उनके कौतूहल को बढ़ा देगा।" दासी ने कहा।

कमलिनी से उस राजकुमारी का संकट न देखा गया। वह द्रवीभूत हो उठी। राजकुमारी के पास तुरंत ही दौड़ी हुई चली आई। बड़े प्रेम और चिरपरिचय के भाव से उसने उसकी पीठ पर हाथ रखकर कहा—"क्या बात हो गई बहन ! कुछ भूल आई हो क्या ?"

"नहीं।" साहस में भरकर राजकुमारी बोली।

"मैं ले चलूँगी तुम्हारी भेट। चलो, युवराज तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।" कमलिनी ने दासी के हाथ से थाली ले ली। दूसरे हाथ से उसे सहारा देकर ले चली वह।

अक्षर-विहीन अधर और निमि-विहीन नेत्रों से युवराज उस राजकुमारी को देख रहा था। उसके रूप और शील ने सिद्धार्थ के हृदय में अधिकार कर लिया, यह स्पष्ट प्रकट हो गया।

युवराज के निकट पहुँचकर कमलिनी ने थाली राजकुमारी को देकर कहा—"लो, अपने करों में ही समर्पित करो।"

राजकुमारी ने काँपते हुए हाथों से वह भेट सिद्धार्थ के चरणों पर रक्खी।

"कुछ कहो भी तो।" भैरवी बोली।

विनत-मस्तक राजकुमारी ने कहा—"जन्म-तिथि के राजकुमार के लिये—"

पाँचों बहनें अट्टहास कर उठीं।

सिद्धार्थ की तन्मयता भंग हुई—"क्या हुआ ?"

भैरवी ने कहा—"जन्म-तिथि के राजकुमार या राजकुमार की जन्म-तिथि ! घबराओ नहीं राजकुमारी। यहाँ कोई भी बाहरी व्यक्ति नहीं है।"

राजकुमारी बड़ी कठिनता से फिर बोली—"यह मेरी लघु भेट है।"

"कौन हो तुम ?"

"महाराज दंडपाणि की कन्या हूँ।" उसकी दबी हुई वाणी और भी मधुर हो उठी।

"तुम्हारा क्या नाम है ?"

"मुझे यशोधरा कहते हैं।"

"य-शो-ध-रा ! बड़ा सुंदर नाम ! मुख ऊपर करो यशोधरा ! तुम्हें किस बात का संकोच हो रहा है ?"

यशोधरा ने मुख ऊपर किया। उसके लज्जारक्त कपोलों ने उसकी कांति बढ़ा दी।

पाँचों बहनें परस्पर कानाकानी करने लगीं। उन्होंने यशोधरा की दासी को भी अपने साथ बुला लिया।

"मुझे बड़ी देर से जल की प्यास लगी है।" कहकर सुरुचि वहाँ से चल दी।

"मुझे भी तो।" कहकर सुरभि ने उसका अनुसरण किया।

कमलिनी बोली—"मैंने अपनी धोती धूप में सुखाने के लिये डाली थी, उसे सँभाल आती हूँ।" वह भी गई।

भैरवी ने कहा—"अशोक-भांड नहीं है। देखती हूँ जाकर। कहीं एक मिल जाय, तो काम चले।"

"मैं भी चलूँगी। मैं अशोक की मंजरी तोड़कर ले आऊँगी इसके लिये।" चित्रा ने कहा।

"दासी! आओ तुम भी। हम तुम्हें अपना निवास दिखा लावेंगी।" भैरवी ने दासी के कान में कहा।

तीनो भी चली गई। सिद्धार्थ और यशोधरा उन दोनो में से किसी को भी ज्ञात न हुआ।

"यशोधरा! मैं तुम्हारे यहाँ कभी नहीं आया। तुम पहले भी कभी यहाँ आई थीं क्या?"

"नहीं, युवराज!" उसने फिर दृष्टि नीची कर ली।

"फिर तुम प्रिय और परिचित-सी दिखाई दे रही हो। कहाँ देखा तुम्हें?"

"मैं नहीं जानती।"

"फिर क्यों मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि तुम आज बहुत दिनों में मिली हो मुझे। सुरभि! तुम कहती थीं—"युवराज ने सुरभि की ओर दृष्टि घुमाई।"

कोई भी तो न था वहाँ।

सिद्धार्थ ने कहा—"तुम सब चले गए क्या? क्यों?"

यशोधरा अकुलाकर बोली—"मेरी दासी भी चली गई!"

"क्यों, तुम भयभीत क्यों होने लगीं? फिर सिद्धार्थ अपनी भुजाओं में शक्ति भी रखता है!"

"दासी! दासी!" यशोधरा ने ऊँचे स्वर में पुकारा।

"मैं कहता हूँ, इतना अधीर होने की क्या पड़ी है।"

"लोग क्या कहेंगे? युवराज!"

"किसलिये?"

"हमें यहाँ एकांत में देखकर।"

"मैं नहीं समझा यशोधरा तुम्हारी बात। इतनी अगणित राजकुमारियों में तुमसे बड़ी देर तक बातें करने की इच्छा है। मैं नहीं जानता, मेरे मन में क्यों ऐसा विचार है।"

सुरभि चित्रा के साथ लुक-छिपकर आती है, और एक लता-कुंज की ओट से उनकी बातें सुनने लगती है।

"युवराज, मुझे एकांत में असहाय पाकर आपको बहुत संयम-पूर्वक मुख खोलना चाहिए।"

"क्यों?"

"हमारे शील को आघात न पहुँचे।"

"मैं इस एकांत का अधिक समय गीत-कुमारियों के साथ ही व्यतीत करता हूँ। मैंने कभी कोई बात उनसे नहीं कही, जिससे उनके शील को आघात पहुँचा हो।"

"दासी! दासी!" यशोधरा ने फिर विह्वल होकर पुकारा।

"मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ।"

"नहीं, मैं कुछ न सुनूँगी।" कहकर यशोधरा वहाँ से जाने लगी।

युवराज आसन छोड़कर उठ गया—"मैं तुम्हारा हाथ पकड़-कर तुम्हें रोक लूँगा।"

"नहीं युवराज, तुम मेरा अंग-स्पर्श नहीं कर सकते!"

"क्यों?"

"क्यों कि यह पाप है।"

"गीत-कुमारियाँ भी मुझे वर्जित करती हैं। पर उन्होंने इसे पाप की संज्ञा नहीं दी। पाप किसे कहते हैं यशोधरे!" सिद्धार्थ ने कौतूहल के साथ पूछा।

"दासी! दासी!" रुदन के स्वर में यशोधरा ने पुकारा।

"क्या हुआ? क्या हुआ?" कहती हुई भैरवी दौड़ी हुई चित्रा के साथ—"क्या हुआ? तुम इतनी डरी हुई-सी क्यों हो गई हो?"

यशोधरा चुप रही। पर उसे धैर्य प्राप्त हो गया था, और उसका भय चला गया था।

भैरवी ने सिद्धार्थ की ओर देखा—"क्या हुआ युवराज!"

"कुछ नहीं भैरवी ! राजकुमारी अपने आप डरने लगीं, मैं नहीं जानता, क्यों ।"

"तुमने कुछ कह दिया ?" भैरवी ने पूछा ।

"केवल यही कि यशोधरा, तुम अत्यंत सुंदर हो, मैं तुमसे प्रेम करता हूँ । तुमने बताया था, प्रेम विश्व-विजयी मंत्र है ।"

भैरवी ने हँसते हुए कहा—"राजकुमारी, यह तो कोई भय की बात नहीं है ।"

"दासी कहाँ गई मेरी ?"

"जल पीने गई है, लौटकर आती ही होगी ।"

"भैरवी ! तुमने कहा था, इन राजकुमारियों में से मैं जिसका चाहूँ, उसका हाथ पकड़ सकता हूँ ।"

भैरवी बोली—"तुम बड़े चपल हो गए हो राजकुमार ! पहले ऐसे नहीं थे । राजकुमारी का हाथ पकड़ने को उठे तुम ?"

"हाँ ।" सिद्धार्थ ने सामान्य भाव से कहा ।

"तभी तो ।" भैरवी ने कुछ अनुमान किया ।

राजकुमारी मुख फिराकर खड़ी हो गई थी ।

भैरवी बोली—"पहले तुम्हें राजकुमारी से विवाह करना होगा । उसे सुख-दुख की चिर-सहचरी बनाने की पवित्र प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी ।"

"अच्छी बात है ।"

"इसी का नाम विवाह है ।"

"मैं प्रस्तुत हूँ । परंतु प्रेम ?"

"यह प्रेम का सुदृढ़ बंधन ही तो विवाह है ।"

शेष गीत-कुमारियों के साथ यशोधरा की दासी भी आ पहुँची ।

यशोधरा ने धीरे-धीरे कहा उससे—"तू बिना मुझ पर अवगत किए ही कहाँ चली गई थी, दासी !"

"जल पीने। वहाँ से सारथी से रथ प्रस्तुत करने के लिये कह आई।"

"आज यहीं रहोगी राजकुमारी।" भैरवी ने कहा।

"नहीं। माता-पिता चिंतित हो जायँगे। उन्होंने आज ही लौट आने के लिये कहा है।" यशोधरा ने कहा।

"युवराज !" भैरवी ने सिद्धार्थ की ओर मुख कर कहा।

"क्या है भैरवी !" सिद्धार्थ ने अपने विचार में यति देकर कहा।

"राजकुमारी बिदा चाहती हैं। किंतु इन्हें तुम उपहार में क्या दोगे ? अशोक-भांड सब समाप्त हो गए।"

"कोई चिंता नहीं, मैं इन्हें अपना हृदय उपहार में देता हूँ।"

यशोधरा ने साहस कर मुख खोला—"यह केवल एक कोरी कल्पना है युवराज ! सब राजकुमारियाँ आपसे उपहार लेकर ही गई हैं। मुझे रिक्त हाथ लौटते हुए देखकर वे सब क्या कहेंगी ? माता-पिता ने यदि यह मेरी अवमानना समझी, तो ?"

भैरवी बोली—"ठीक बात है। मैं ढूँढ़कर ले आती हूँ एक।"

सिद्धार्थ ने अपनी उँगली से अँगूठी निकाल ली थी—"रहने भी दो। उस हृदय-भांड को साभरण करने के लिये लो राजकुमारी, यह मेरी अँगूठी।"

राजकुमारी यशोधरा ने सहर्ष उस उपहार को ग्रहण किया।

"और भी तो।" सिद्धार्थ अपने गले से रत्नहार निकालने लगा।

"नहीं युवराज ! मुझे आपको अलंकार-विहीन करने का लोभ नहीं है। और कुछ नहीं चाहिए मुझे।"

चित्रा कहने लगी—"हमारे राजकुमार का हृदय लेकर जो तुम यह जा रही हो, बड़े यत्न से इसकी रक्षा करना राजकुमारी !"

यशोधरा सकुचाकर जाने लगी।

"अभी कुछ क्षण ठहरो यशोधरा !" कहकर सिद्धार्थ कुछ सोचने लगा। पर उसके मुख से एक भी शब्द न निकला।

कुछ समय बीत गया। सब निस्तब्ध रहे।

दासी ने कहा—"चलो राजकुमारी, देर हो रही है।"

राजकुमारी बोली—"चलो।"

दोनो चली गईं। सिद्धार्थ ऐसे गहरे विचार में पड़ गया था कि उसे भान ही न रहा, यशोधरा उसके समीप ही खड़ी है या चली गई।

कुछ दूर जाकर यशोधरा रुक गई—"कुछ भूल तो नहीं आई दासी !"

"मैं नहीं जानती।"

यशोधरा ने सिद्धार्थ की ओर देखा—"नहीं, कदाचित् कुछ भी नहीं।"

दासी ने कहा—"लोग भी कैसा कहते हैं। मुझे तो युवराज अत्यंत सुंदर जान पड़े।"

यशोधरा ने फिर लौटकर युवराज को देखा, उसी प्रकार स्थित थे वह।

पाँचों बहनों ने परस्पर मंत्रणा कर पुकारा—"मानवी की जय !"

यशोधरा अपनी सखी के साथ ओट में चली गई थी।

सिद्धार्थ का ध्यान टूटा उस विजय-ध्वनि से—"यशोधरा चली गई ?" उसने विरह-व्यथित वाणी से पूछा।

हँसकर गीत-कुमारियों ने कहा—"हाँ।" उन्होंने फिर मिलकर जय-घोष किया—"मानवी की जय !"

"मानवी की जय ?" सिद्धार्थ ने पूछा, फिर स्वयं ही उत्तर दिया—"भैरवी की जय !"

"भैरवी मानवी नहीं है युवराज !" भैरवी ने कहा—"अब अपना निर्णय दो युवराज ! सबसे सुंदर, सर्वांग-सुंदर राजकुमारी कौन लगी तुम्हें ?"

"मैं नहीं बताऊँगा।"

"हमने जान लिया।" भैरवी बोली।

गीत-कुमारियाँ गाने लगीं—

मानवी तुम्हारी जय हो।
अमर बंदिनी इस पिंजर में प्यासे मानव की वय हो।
हो रहस्य-सी छिपी आवरित, शून्य तुम्हारा परिचय हो।
दासी बनकर रहो स्वामिनी, निःसंशय निर्भय हो।
मानवी तुम्हारी जय हो।

७. सुवर्ण-पिंजर

सिद्धार्थ यशोधरा के साथ विवाह करने के लिये सम्मत हो गया। शीघ्र ही महाराज शुद्धोदन ने दंडपाणि के पास यह संदेश भेजा कि वह अपनी सौभाग्यवती कन्या का विवाह युवराज सिद्धार्थ के साथ कर दें। पर महाराज दंडपाणि ने कहला भेजा—"शाक्य-कुल ने सदैव वीरता को मान दिया है। हम नहीं जानते, युवराज शस्त्र-बल-संपन्न हैं या नहीं। शीघ्र ही राजकुमारी यशोधरा के स्वयंवर का आयोजन हो रहा है। हम युवराज को निमंत्रित करेंगे। यदि उन्होंने अन्य प्रतिद्वंद्वी राजकुमारों के बीच में अपनी सर्वश्रेष्ठता सिद्ध की, तो यशोधरा निस्संदेह उनका वरण कर अपने को धन्य समझेगी।"

हंस की उस दिन की घटना के पश्चात् राजकुमार देवदत्त कदाचित् फिर नहीं गया कभी सिद्धार्थ के राजभवन में। सिद्धार्थ के लिये प्रतिहिंसा प्रतिपालित कर ली उसने अपने हृदय में।

उस दिन यशोधरा की स्वयंवर-सभा में मिला वह सिद्धार्थ को।

सिद्धार्थ ने बड़े प्रेम-भाव से उसके निकट जाकर उसका हाथ पकड़कर कहा—"भाई, आज बहुत दिनों में तुम्हारे दर्शन हुए।"

"आज इस सभा में तुम्हें देखूँगा मैं सिद्धार्थ! संथागार में केवल पक्षपात की सहायता से तुमने मेरा आखेट हथिया लिया।" हाथ छुड़ाकर देवदत्त बोला।

"मैंने उड़ा दिया उस हंस को राजकुमार! तुम अभी तक उस घटना को नहीं भूल सके!"

"मैंने तभी तुम्हें सावधान किया था। क्या वह भूल जाने की बात है? आज इस सभा में तुम्हारा कोई पक्षपात नहीं चलेगा। राजकुमारी यशोधरा के वरार्थी होकर आए हो तुम यहाँ? गीत-कुमारियों के बीच में क्या कभी धनुष-बाण का भार भी उठाने का अवसर मिला तुम्हें?"

"मैं क्या कहूँ राजकुमार!" बड़ी नम्रता से सिद्धार्थ ने कहा—"तुम्हारे शब्दों में इतना कटु कटाक्ष क्यों है?"

"आज कपिलवस्तु की सातों दीवारें खुल गईं क्या तुम्हारे लिये? आँखों में पट्टी बाँधकर आए होगे रात में। यहाँ भी देखता हूँ, इस स्वयंवर की सभा में तुम्हारी दृष्टि के लिये पूरा-पूरा प्रबंध किया गया है। पर यशोधरा को विजित कर ले नहीं जा सकते तुम।" देवदत्त ने कहा।

उसकी बातों का अधिकांश समझ में नहीं आया युवराज के। वह चुप रहा। लौट गया देवदत्त के पास से।

स्वयंवर-सभा में राजकुमारों की वीरता का प्रदर्शन आरंभ हुआ। देवदत्त के शस्त्र-कौशल की सारी सभा प्रशंसा करने लगी। सिद्धार्थ सबके अंत में परीक्षा देने के लिये उठे। उन्होंने देवदत्त के समस्त प्रदर्शन उससे भी अधिक दक्षता से कर दिखाए। उसके अतिरिक्त और भी अनेक बातें कर दिखाईं, जिससे सारी सभा चकित रह गई। यशोधरा ने आनंद में भरकर सिद्धार्थ के गले में जयमाल डाल दी। देवदत्त चोर की भाँति अपना दर्प-भरा मस्तक छिपाकर न-जाने किस समय वहाँ से निकल गया।

यशोधरा का सिद्धार्थ से विवाह हुआ, वह कपिलवस्तु में आई। ऐसी रूप, गुण और श्री-संपन्न वधू थी यशोधरा कि समस्त राजभवन जगमगा उठा उसकी ज्योति से। सब लोग युवराज के उस जोड़े को मणि-कांचन-संयोग कहने लगे। यशोधरा ने अपने व्यव-

हार से नए संबंधियों, दास-दासियों, सभी को विमोहित कर लिया। यही क्यों, पशु-पक्षी भी उसके प्रेम में पड़ गए।

और सिद्धार्थ? सिद्धार्थ के जीवन-परिधि की वह केंद्र बन गई। उसके समस्त विचार और कर्म की यशोधरा पुण्य प्रेरणा बन गई। उसी के रूप और ध्यान में युवराज निमग्न रहने लगा। वह गीत-कुमारियों को भी भूल गया! वे सब-की-सब उसे यशोधरा में विलीन हुई मिल गईं।

विवाह के पश्चात् ही चारों निमित्तों का रहस्य उस पर प्रकट कर दिया गया। उसको कई बार सावधान कर दिया गया कि वह उनकी चर्चा युवराज से न करे।

यह श्रम यशोधरा को बड़ा भार प्रतीत होने लगा। युवराज जब कभी यौवन के प्रकाश में जरा की छाया देखने लगता, जीवन के रस में मरण के विष की कल्पना करने लगता, तब यशोधरा को उसे बड़े कौशल से छिपाना पड़ता। बहुधा झूठ बोलना पड़ता। इस झूठ का कभी क्या फल होगा, इसे सोचकर वह चिंता में पड़ जाती।

यशोधरा को पाकर राजभवन के भीतर और बाहर, दोनो स्थानों में सिद्धार्थ का मन रम गया। उन सात दीवारों के बाहर कुछ है भी या नहीं, यह जिज्ञासा उसकी तिरोहित हो गई।

उस दिन युवराज यशोधरा के साथ उपवन में बैठे हुए थे।

'इसी जामुन की छाया में यशोधरे! मैं प्रभात और संध्या की संधि कर देता था। मन में अनेक चिंताओं के डरावने बादल उदित होते थे। एक के अनंतर दूसरा, कोई अंत ही नहीं था उनका। किसी तर्क और किसी हल से मैं उन पर विजय पा ही नहीं सकता था। गीत-कुमारियों ने अवश्य मेरे मन को कुछ स्थिर किया, पर वे मेरी आकांक्षा को लेकर उड़ जाती थीं। मैं कभी उनके छोर

को न पा सका। तुम्हें पा जाने से ऐसा जान पड़ता है, जैसे मुझे सब कुछ मिल गया। सारे अभाव परिपूर्ण हो गए।"

यशोधरा को यह स्तुति अखरने लगी। उसने बात टाल देने के लिये कहा—"गीत-कुमारियाँ कहती हैं, उनका कार्य पूरा हो गया।"

"हाँ, उन्होंने तुम्हारी प्रतिष्ठा के लिये मेरे हृदय में आसन बनाया है।"

"वे अब शीघ्र ही अपने देश को चली जाना चाहती हैं।"

"तुम्हारे कारण अब उनका अभाव कटु ज्ञात न होगा, पर उनका नृत्य-गीत स्मृति का परमोज्ज्वल धन होकर रहेंगे।"

"वे यहाँ और भी बहुत दिन तक क्यों नहीं रहतीं ?"

"उन पर हमारा कोई वश नहीं है प्रिये ! वे किसी भी सांसारिक लोभ को नहीं रखतीं। हमारे मणि-मुक्ता उनके गले में बंधन नहीं डाल सकते। वे अपनी ही इच्छा से विचरती हैं। उन्हें कोई रोक नहीं सकता। और, तुम्हें विवाह के बंधन में बाँध लिया है मैंने। तुम कहीं जा नहीं सकतीं।"

यशोधरा मुसकराते-मुसकराते उदास हो गई !

"क्यों-क्यों, तुम क्यों चिंता में पड़ गईं ?"

चारों निमित्त यशोधरा के मन में दिखाई देने लगे। उसे ज्योतिषीजी की भविष्य-वाणी स्मरण हुई—"नहीं तो युवराज स्त्री-पुत्र, पिता-माता, राज मुकुट, सबको त्यागकर वनवासी हो जायगा।"

सिद्धार्थ ने फिर पूछा—"यशोधरे ?"

"नहीं युवराज ! कुछ नहीं।"

"निस्संदेह तुम्हारे मन में कोई चिंता उमड़ पड़ी है। तुम्हें उसे बताना चाहिए मुझे। बताओ।"

"मैं तुम्हारी सेविका हूँ युवराज ! तुम्हारी शरण छोड़ने का विचार

भी मेरे लिये भयानक नरक के समान है, पर ?" यशोधरा चुप हो गई। उसके दोनो नेत्रों के कोने सजल हो गए !

"फिर मुख क्यों मलिन पड़ गया तुम्हारा ?" आश्वासन देते हुए उसके कंधे पर हाथ रखकर युवराज ने पूछा।

"प्रियतम !" उसका कंठ रुद्ध हो गया।

"कौन-सा भय व्यापने लगा तुम्हें ? कहतीं क्यों नहीं।"

"प्रियतम ! तुम ?—"

"कहो, कहो।"

"तुम न छोड़ोगे मुझे।"

"क्यों—क्यों छोड़ूँगा तुम्हें। क्या मैंने विवाह के मंडप में सदैव तुम्हारा सहचर रहने की प्रतिज्ञा नहीं की है। मुझे उसको दुहराने की फिर आवश्यकता ही क्या है। तुम्हें मेरा विश्वास होना चाहिए।"

वह कुछ धैर्यवती प्रतीत होने लगी।

"वह देखो, भैरवी चली आ रही है, गुनगुनाती हुई इसी ओर। इन्होंने तुम्हें अनेक गीत सिखा दिए हैं। अब जब यह चली जायँगी, तो—"

भैरवी निकट आकर चुपचाप मृदु मुसकान अपने अधर और कपोलों पर लेकर अपनी चर्चा सुनने लगी।

सिद्धार्थ कहते जा रहे थे—"तुम इनके अभाव में इनके गीत गाओगी। और मैं समझूँगा, भैरवी यहीं किसी आम्र-कानन में छिप गई हैं।"

"अच्छा, यहाँ तो युवराज हमारी बिदाई के लिये प्रस्तुत होकर बैठे हैं। मैं सोचती थी, युवराज से कैसे कहूँ कि अब हम जाना चाहती हैं।"

"जब तुम हमारी वशवर्तिनी नहीं हो, तो हमारे कुछ कहने से लाभ ही क्या ? महाराज हमारे लिये षड्ऋतुओं के अनुकूल तीन

प्रमोद-भवन बना रहे हैं। उनके बन जाने के पश्चात् जातीं, तो कैसा होता ?"

"हमें इस अनुकूलता में प्रतिकूलता का अनुभव होता है। हमें प्रकृति का संसर्ग ही अधिक प्रिय है। कृत्रिमता हमें चुभने लगती है। भगवान् ने तुम्हारे रुचि के अनुसार वधू तुम्हें दी है। हमारी अब यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है युवराज !"

"अब फिर कब आओगी ?"

"अब क्यों आने लगीं यहाँ।"

"कभी नहीं ?"

भैरवी कुछ सोचने लगी—"कदाचित्।" उसने आगे कुछ नहीं कहा।

"कदाचित् कब ?" युवराज ने पूछा।

"हम पाँचों बहनों ने अपने-अपने विशेष गुणों से युवराज्ञी को विभूषित किया है। मैंने उन्हें गीत सिखाए हैं। चित्रा ने उन्हें रूप का रहस्य दिया है। कमलिनी ने कोमल स्पर्श, सुरभि ने गंध दी है। सुरुचि ने उन्हें पाक-शास्त्र की शिक्षा दी है। उन पाँचों गुणों में हमारी उपस्थिति है युवराज ! यदि किसी दिन तुमने उन पाँचों गुणों की उपेक्षा कर दी, तो उस दिन फिर आना पड़ेगा हमें।"

युवराज हँसने लगे—"किसी प्रकार आने की प्रतिज्ञा तो की तुमने।"

"यशोधरा को आदर और प्रेम से रखना युवराज !"

सिद्धार्थ हँसने लगे। यशोधरा ने मुँह छिपा लिया।

नियत तिथि को वे पाँचों बहनें बिदा हो गईं अपने देश को। महाराज केवल वाणी और भाव से ही उनकी अभ्यर्थना कर सके। उन्होंने पारिश्रमिक या भेंट के रूप कोई भी पदार्थ स्वीकार नहीं किया।

यशोधरा को गीत-कुमारियों के चले जाने पर कई दिन तक बड़ी शून्यता प्रतीत हुई, पर सिद्धार्थ को यशोधरा की सहचारिता से कुछ अनुभव न हुआ।

जीवन और जगत् में युवराज को जो द्वंद्व का दूसरा सिरा दिखाई देने लगा था, उस पर रूप का आवरण पड़ गया। संचित संस्कार दब गए। वे दुःख और अंधकार के दृश्य जो युवराज की चिंता उपजा देते थे, वहाँ पर पतिरता यशोधरा अपने निर्विकार रूप और सहज-सुलभ गुणों को लेकर खड़ी हो गई थी।

ग्रीष्म, वर्षा और हेमंत ऋतुओं के अनुकूल महाराज शुद्धोदन ने नव, सप्त और पंचतल प्रमोद-भवनों का निर्माण किया युवराज के लिये। वे समस्त जगत् की विलास-सज्जा से विभूषित किए गए। दुःख और विषाद के दृश्य और भाव सिद्धार्थ की दृष्टि के पथ से सब हटा दिए गए; जो नहीं हटाए जा सके, उन पर परदा डाल दिया गया।

अनेक नर्तकियाँ और दासियाँ नियुक्त हुईं उन प्रमोद के भवनों में उनके मनोरंजन और सेवा के लिये। वे भवन दिन में सूर्य की किरणों से और रात्रि को दीपान्वित होकर प्रकाशित होते। दिन-रात पुष्प और धूप से सुगंधित रहते। समय-समय पर नर्तकियाँ अपने गीत और नृत्य से आनंद और उल्लास की धारा बहातीं।

ग्रीष्म के भवन में रात को दासियाँ छत पर नीचे कूप से पानी खींचतीं, और उसे चलनियों में छानकर फुहार उपजातीं। रस्सियों की लपेट से चक्र मधुर-मंद ध्वनि उपजाते, जिनसे मेघों की गरज का भ्रम होता। मशालों की शिखाएँ इस चपलता से चमकाई जातीं कि बिजली का प्रकाश ज्ञात होता। नर्तकियाँ मेघ-राग के लिये अनुकूल वातावरण पातीं, और सिद्धार्थ यशोधरा के प्रेम में आबद्ध उस कृत्रिमता में खोए रहते।

इसी प्रकार हेमंत के भवन में इच्छानुसार नाना उपकरणों से वसंत का प्रवेश उपजा दिया जाता था। एक के पश्चात् दूसरे मनोरंजन की सामग्री युवराज के मन को खींच लेती। वे उन्हें अवकाश ही नहीं देतीं कि वह किसी अभाव की चिंता करते।

महाराज और महारानी युवराज को इस सांसारिकता में आबद्ध देखकर प्रसन्न रहते। वे दोनो सोचते, अब सिद्धार्थ के मन में वैराग्य उत्पन्न न होगा। वे भगवान् से उनकी संतान के लिये प्रार्थना करते। उनका विचार था, संतान का प्रेम सिद्धार्थ के अनुराग के पाश को और भी सुदृढ़ कर देगा।

उस दंपति के पारस्परिक प्रेम में वर्ष दिनों की भाँति बीतने लगे। एक दूसरे की छाया-सी ज्ञात होते वह। केवल गणित के लिये वह दो थे। एक ही हृदय के स्पंदन में मानों वे दो प्राणी खाते-पीते, हँसते-बोलते, चलते - फिरते, क्रीड़ा और विनोद करते, एवं सोचते और विचारते थे। दो सरिताएँ जैसे एक दूसरे में अपने-अपने ममत्व को खोकर एक हो गई थीं। यह जानना कठिन और असंभव था कि उनके व्यक्तित्व का अंतर कहाँ पर था।

एक दिन युवराज ने यशोधरा से कहा। वह उपवन में उस जामुन के वृक्ष के नीचे था—"प्रिये, प्रमोद-भवन में भूल जाता हूँ। इस जामुन के वृक्ष के निकट कभी-कभी याद आ जाती है।" कुछ विचारने लगा वह।

क्या ?"

"यही कि यह सुंदर हरित वृक्ष, सूर्य और चंद्र की किरणों को धारण कर जिसके पत्र वासंतिक पवन से नृत्यशील होते हैं, उसके नीचे कितनी घनी छाया है।"

"छाया से मन में चिंता के उदय की क्या आवश्यकता है प्रियतम !"

"होना न चाहिए, पर यह मुझे जगत् के दूसरे सिरे की ओर संकेत करता है। यह वसंत के विकास में हेमंत का विनाश दिखाता है। मुझे शंका होने लगती है, क्या हमारा यौवन चिरदिन हमारा साथी होकर रहेगा ?"

यशोधरा चुप रही।

"अनुमान नहीं कहता है यशोधरे ! जिस प्रकार वसंत को ग्रीष्म मुरझा देता है, और शरद् को शीत श्री-हीन कर देता है, उसी प्रकार, प्रेयसी, क्या उसी प्रकार—"

यशोधरा ने आगे नहीं कहने दिया उन्हें—"जागरण के लिये विश्राम चाहिए युवराज ! ऋतु थककर पतझड़ में सो जाती है, और फिर नवीना होकर वसंत में जाग उठती है। ऐसे ही दिन के साथ वसुंधरा पर का समस्त जीवन रात्रि की निद्रा में अपना श्रम मिटा डालता है, और नव प्रभात में नवीन स्फूर्ति से भर उठता है।"

"हाँ, ये दो क्यों हुए ? एक ही क्यों नहीं ? केवल जागरण चिर और अंतहीन जागरण, स्थिरीकृत वसंत के ऊपर यशोधरे, निद्रा और निमि से विहीन ये दोनो नेत्र ! दिन और रात की अभेद्यता में मैं तुम्हारे इस रुचिर रूप का दर्शन करता ही रहता।"

"ऐसा भी क्या संभव है ? जिस वस्तु का आरंभ होगा, उसका अवश्य ही अंत भी होगा।" कहने को तो कह गई यशोधरा अंतवाचक शब्द, पर घबरा उठी, न-जाने युवराज किस ओर तर्क को खींच ले जायँ।

"सबसे बड़ी व्यापकता यही है सृष्टि में !"

कुशल हुई। यशोधरा ने दूसरी संज्ञाओं से काम लिया—"यदि केवल एकता ही होती, तो फिर सारी सृष्टि जड़ न हो जाती। आलोक एक सिरा है जिसका, दूसरा छोर है अंधकार। इन

दोनों के होने से ही जीवन है, श्रम है और है संघर्ष। केवल आलोक होने से जड़ता छा जाती और वही केवल असीम अंधकार के राज से भी।"

"किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा सकता कोई। इस निराशा से बार-बार निश्चय करता हूँ, अब कभी इस विषय में तर्क-वितर्क न करूँगा। पर यह मन बलात् उधर ही आकर्षित हो जाता है।" सिद्धार्थ ने कहा।

यशोधरा अपने मन में सोचने लगी—"इस जामुन के वृत्त के नीचे युवराज ने बहुत समय तक विचार को घनीभूत कर जमा किया है। यह जब इसके संपर्क में आते हैं, तब वह इनकी उस स्मृति को जगा देता है।"

"तुम क्या विचारने लगीं यशोधरा?"

"वही कि यदि इस जामुन के वृत्त के स्थान पर एक छोटा-सा भवन बन जाता, तो हम वर्षा-ऋतु में इस सरोवर में जल की बूँदों की शोभा देखते।"

"इस वृत्त को काट देने का विचार है क्या?"

"हाँ, जामुन के वृत्तों की कोई कमी नहीं है इस उपवन में।"

"तुम्हें क्यों इस वृत्त के लिये शत्रु-भाव हो गया। नहीं यशोधरा! यह वृत्त मेरे जीवन से बड़ा घनिष्ठ संपर्क रखता है। तब तुम नहीं थीं यहाँ। मेरे शून्य एकांत का यही सहचर रहा बहुत दिन। इसी के नीचे मैंने जीवन और जगत् की दुविधा पाई है। यह सत्य है, मैं उस समस्या को अभी तक सुलझा नहीं सका हूँ, पर एक दिन अवश्य ही सुलझा लूँगा।"

"ऐसे ही मेरे मुख से एक बात निकल गई। मुझे नहीं ज्ञात था, तुम्हें इस वृत्त से इतना प्रेम है।"

"पर मैं तुम्हारी इच्छा की भी उपेक्षा नहीं कर सकता। वृक्ष

को काटे विना भी तो यहाँ पर भवन बन सकता है।" सिद्धार्थ ने कहा।

"नहीं, कोई आवश्यकता नहीं है।"

बड़ी तीव्र गति से सिद्धार्थ के विवाह के दस वर्ष बीत गए। आमोद-प्रमोद, भोग-विलास, नृत्य-संगीत के बीच-बीच में अब कभी-कभी युवराज का ध्यान टूट जाता और उनकी चेष्टा से ऐसा प्रतीत होता, जैसे उनका कुछ खो गया है, और वह उसे ढूँढ़ने की चेष्टा कर रहे हैं।

हँसते-बोलते वह एकाएक चुप हो जाते। खाते-खाते उनका हाथ जहाँ-का-तहाँ ही रह जाता। सोते-सोते वह एकाएक चौंककर उठ बैठे एक दिन।

यशोधरा ने अधीर होकर पूछा—"क्या हुआ? स्वामी!"

"जैसे किसी ने हाथ पकड़कर खींच लिया मुझे तुम्हारे प्रेम की शृंखला में से।"

"स्वप्न में?"

"ठीक-ठीक नहीं कह सकता स्वप्न में कि जागृति में।"

"जागृति में? हम दोनो के अतिरिक्त और कौन है इस कक्ष में?"

"फिर बड़ा स्पष्ट स्वप्न था वह यशोधरे! मैं अब तक अपने हाथ में उसका स्पर्श अनुभव कर रहा हूँ।"

"केवल एक भ्रमित कल्पना प्राणप्रिय!"

"तुम जो भी कहो।"

फिर एक दिन सोते-सोते ही युवराज कहने लगे—"इस राज-भवन के सुख को छोड़कर कहाँ जाओ कह रहे हो तुम?"

यशोधरा जाग ही रही थी। चुपचाप सुनने लगी।

कुछ क्षणों की यति देकर सिद्धार्थ फिर बोले—"नाना प्रकार के दुःखों और पीड़ाओं से सारा जगत् त्राहि-त्राहि कर रहा है,

और मैं केवल अपने ही सुख में मग्न हूँ ! हाँ, स्मरण हुआ मुझे, तुम सत्य कह रहे हो। ठहरो, मैं आता हूँ।"

बड़ी चिंता के साथ यशोधरा उस स्वप्न के प्रलाप को सुन रही थी। उसने उठकर दीपक की शिखा को अधिक उज्ज्वल किया।

फिर कुछ स्तब्धता के अनंतर सिद्धार्थ ने कहना आरंभ किया—"माता-पिता, उन्होंने जन्म देकर प्रतिपालन किया उनसे बिना पूछे ही ?"

यशोधरा सिद्धार्थ के निकट आकर उनके सुंदर मुख-मंडल को निहारने लगी। उसने देखा, भावों का तुमुल संग्राम हो रहा था वहाँ।

सिद्धार्थ फिर कहने लगे—"और वह प्रियतमा यशोधरा। प्रतिज्ञा-पूर्वक जिसे जीवन-संगिनी बनाया है। उससे भी न पूछूँ ?"

अपना नाम सुनकर सहम उठी युवराज्ञी। उसने सिद्धार्थ का हाथ पकड़ लिया।

फिर भी नींद न टूटी उनकी। वह बोले—"फिर मेरा हाथ पकड़ लिया तुमने ?"

यशोधरा ने उन्हें झकझोरा।

सिद्धार्थ ने आँखें मल-मलकर खोलीं। यशोधरा ने अभी तक उनका हाथ छोड़ा न था।

युवराज बोले—"तुम हो प्रिये ! कहाँ ले जाना चाह रही हो तुम मुझे ?"

यशोधरा ने स्मित होकर कहा—"सपना देखा तुमने ?"

"बड़ा सुंदर ! कोई मुझे अंधकार के समुद्र से खींचकर किसी दिव्य लोक में ले जा रहा था। तुमने नींद तोड़ दी मेरी। क्यों यशोधरे !"

"तुम बोलने लगे थे युवराज, उच्च स्वर से।"

"मैं बोलने लगा था सोते-ही-सोते ? किससे ?"

"मैं नहीं जानती। मुझे भय लगने लगा।"

कई मास व्यतीत होने के अनंतर एक दिन आधी रात का समय होगा। एकाएक यशोधरा की नींद टूट गई। उसने देखा, क्षीण प्रकाश से दीपक जल रहे थे। युवराज की शय्या की ओर उसकी दृष्टि पड़ी। वह शून्य पड़ी थी! काँपकर उठी यशोधरा, कक्ष में चारों ओर तीक्ष्ण दृष्टि निक्षिप्त की—"कहाँ गए ?" द्वार की ओर देखा, अर्गल-मुक्त! "उन्होंने ही खोला इसे। बाहर गए? कहाँ ?" यशोधरा द्वार खोलकर बाहर आई।

दासियाँ सो रही थीं। किसी को नहीं जगाया उसने। सोपान-श्रेणी का अतिक्रमण कर प्रांगण में आई वह। प्रहरी भी सो रहे थे। वहाँ का द्वार भी मुक्त था। बड़ी तीव्र गति से दौड़ी हुई चली गई वह। चिंता ने डर पर विजय पा ली। सिंह-द्वार भी खुला पड़ा था।

बिना कोई सोच-विचार किए ही वह बाहर दौड़ गई, नग्न पद, खुले सिर! उसके मुक्त कुंतल आँखों पर लटकने लगे, उसका वस्त्र पैरों में उलझने लगा। एक हाथ से केशों को और एक से धोती सँभालती हुई तारकों से जड़े हुए आकाश के नीचे चली गई वह।

चारों ओर दृष्टि कर देखा उसने। तोरण के मार्ग में किसी को जाते हुए देखा। छाया की मूर्ति-सी, हलके आकाश की पृष्ठ-भूमि पर उत्तरांग की रेखा पहचानी—युवराज ही थे। चुपचाप उसने उनका अनुसरण किया।

सिद्धार्थ सीधे प्राचीर के फाटक पर पहुँचे। प्रहरी जाग रहा था। उसने दूर ही से पुकारा—"कौन ?"

"तुम जाग रहे हो प्रहरी! मैं तुम्हारा युवराज हूँ।"

"युवराज ?" साश्चर्य पूछा प्रहरी ने।

"हाँ।" युवराज उसके निकट पहुँच गए थे।

और यशोधरा भी लुकते-छिपते उनसे कुछ दूरी पर उनकी बात सुनने लगी।

"इस काली और भयावनी रात में आप क्यों जाग रहे हैं? मैं समझता था, आप दीपोद्भासित राजभवन में फूलों की कोमल स्निग्ध शय्या पर विश्राम कर रहे होंगे।"

"कपिलवस्तु के युवराज के मन में चैन नहीं है प्रहरी! वह सो नहीं सकता अब।"

"क्यों? आप कहाँ फिर रहे हैं?"

"शांति को ढूँढ़ रहा हूँ। तुम सहायक नहीं हो सकोगे?"

"मैं सेवक ही हूँ आपका। मेरी तुच्छ शक्ति और साधना आपके चरणों पर ही समर्पित है।"

"अच्छी बात है। मैं तुम्हारे उपकार का बदला भूलूँगा नहीं, द्वार मुक्त कर दो प्रहरी!"

"द्वार मुक्त कर दूँ?" चौंककर प्रहरी बोला—"इस तामसी रात में आप जायँगे कहाँ?"

"यह नहीं जानता प्रहरी! मैं तुम्हारी कपिलवस्तु का सबसे दुखी प्राणी हूँ। मेरी सहायता करो। कोई बुला रहा है मुझे वहाँ से।"

"कहाँ से?"

"यह भी नहीं जानता।"

"युवराज! आपको क्या हो गया। द्वार नहीं खुल सकता इस असमय में। मुझे क्षमा करो। चलिए, मैं आपको राजभवन तक पहुँचा आऊँगा।"

"खोल दो प्रहरी! महाराज कुछ नहीं कहेंगे। मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा। मैं सात रत्न जटित अँगूठियाँ लाया हूँ। सातों दीवारों के

द्वारों को खोल देने के लिये उपहार-स्वरूप। लो, इनमें से तुम एक छाँट लो।" सिद्धार्थ ने अँगूठियों से भरा हुआ हाथ प्रहरी की ओर फैलाया।

प्रहरी दूर हट गया—"नहीं युवराज! बिना महाराज की आज्ञा के आपके लिये यह द्वार मुक्त नहीं किया जायगा।"

"क्यों ?"

"यह मैं नहीं जानता। महाराज से पूछिए। मैं हाथ जोड़कर आपके चरणों में प्रार्थना करता हूँ। मेरा लालच बढ़ाकर मेरी कर्तव्य-परायणता से विमुख न कीजिए मुझे। यदि मैं नौकरी से निकाल दिया गया, तो फिर अपने कुटुंब का कैसे पालन करूँगा ?"

यशोधरा ने मन-ही-मन प्रहरी की दृढ़ता और स्वामिभक्ति की प्रशंसा की।

"अच्छा, मैं लौट गया प्रहरी! यह राज-भवन मेरा कारागार है। मैं इसका जीवन-बंदी हूँ, इसे मैं जानता हूँ। यह मेरे लिये खुल नहीं सकता, इसे तुम जानते हो। पर मेरा अपराध क्या है, इसे कोई नहीं जानता।" सिद्धार्थ लौट गए।

उन्हें आता देख यशोधरा एक पेड़ की ओट में हो गई। युवराज के आगे बढ़ जाने पर वह प्रहरी के पास गई।

"लो प्रहरी, यह तुम्हारा पुरस्कार।" कहकर उसने प्रहरी की ओर हाथ बढ़ाया।

"क्या है यह ?"

"अँगूठी मेरी।"

"नहीं-नहीं।" दूर चला गया प्रहरी। "मैं कोई पुरस्कार नहीं ग्रहण करता। कौन हो तुम देव-बाला-सी ?"

"लेते क्यों नहीं। यह द्वार खोल देने के लिये नहीं है। उसे

अवरुद्ध ही रख सके, इसलिये है। तुम्हारे कर्तव्य की दृढ़ पालना की अभ्यर्थना के लिये है।"

प्रहरी उधर बढ़ा—"कौन हो तुम ? ऐसी शून्य निशा में तुम भी भय से अपराजिता हो ?"

"मैं हूँ तुम्हारी युवराज्ञी यशोधरा। डरो नहीं, धरती पर की ही हूँ, यक्ष-रक्ष-कन्या, किन्नरी-परी नहीं हूँ कोई। नहीं पहचाना मुझे ?"

"जय हो, युवराज्ञी की जय हो !" उच्च स्वर में कह उठा प्रहरी—"क्यों नहीं पहचाना !"

"चुप रहो, धीरे-धीरे बोलो। स्तब्ध निशा ने और भी ऊँचा कर दिया तुम्हारे स्वर को।" यशोधरा ने कहा—"कोई सुनेगा।"

और दूर पर लौटते हुए युवराज ने सुना। मन-ही-मन दुहराया उन्होंने—"युवराज्ञी की जय हो !" वह लौटे फिर तोरण की ओर।

प्रहरी ने हाथ जोड़कर अँगूठी ले ली। यशोधरा बिदा हो गईं राजभवन को।

प्रहरी उपहार के हर्ष के साथ युवराज और युवराज्ञी के इस प्रकार एकांत रात में बाहर निकल आने के कौतूहल को मिलाकर देखने लगा उस लौटती हुई यशोधरा को। जब वह दूर पर के अंधकार या वृक्षों के झुरमुट में खो गईं, तो उसने अपने हाथ पर की अँगूठी को देखा—"परम सुंदर ! कैसी चमक रही है ?" उसने उसको हाथ में उछालकर उसका भार ज्ञात किया। मुख पर संतोष प्रकट कर बोला—"ठीक है। मणि निकालकर रख लूँगा। आगामी मदनोत्सव में आसव का व्यय चल जायगा।" उसने फिर दूर पथ पर दृष्टि डाली—"चले गए !" उसने अपने भाले के लौह-हीन सिरे से धरती खटकाई—"मैं समझ गया। अब समझ गया ! हमारे युवराज की यह मान-लीला चल रही है।"

प्रहरी जाकर अपने आसन पर बैठ गया, एक शंका का भार लेकर।

भाला रख दिया भूमि पर, ढाल निकाल दी कंधे पर से। चिबुक पर हाथ रखकर सोचने लगा—"परंतु युवराज का विवाह हुए अब दस-बारह वर्ष व्यतीत हो गए। मान और कोप के दिन कहाँ रहे ? कुछ भी हो, अगला वसंत सद्रव्य टेंट से व्यतीत होगा !"

मंद रणित नूपुरों में अंधकार के बीच से मार्ग निकालती हुई बढ रही थी यशोधरा। अचानक सिद्धार्थ को देखकर रुक गई।

"कौन, यशोधरा ? तुम कैसे यहाँ आई हो, यह न पूछूँगा। तुम्हारा जय-घोष किसने किया ? यह बताओ।"

"उसी प्रहरी ने, जिसे तुम अपने अधीन न कर सके !" मृदु हास्य के साथ यशोधरा बोली।

"क्या वह तुम्हारे लिये द्वार खोल देने को प्रस्तुत हो गया ?"

"नहीं, वह अपने कर्तव्य पर अचल-अटल था। मैंने उसे उसकी ध्रुवता के लिये अपनी अँगूठी उपहार में दे दी, जो जय-घोष का कारण बनी।"

"चलो, तुम भी नहीं खुला सकतीं वह अवरुद्ध द्वार। महाराज केवल महाराज। शृंखला उन्हीं की आज्ञाओं से बनी है। चलो, लौट चलें।"

यशोधरा ने बड़ी करुण असहायता से सिद्धार्थ के हाथ पकड़ लिए। वह दोनो घुटने टेककर उस धूलि-प्रच्छन्न धरती पर बैठ गई। वह केवल इतना ही कह सकी—"प्रियतम ! स्वामी !" कंठ भावातिरेक से रुद्ध हो गया, और आँखें आँसुओं में नहा उठीं !

सिद्धार्थ ने यशोधरा को भूमि पर से उठाकर अपनी भुजाओं में भर लिया—"क्यों-क्यों ? ऐसी चिंता का कारण क्या हो गया ?"

"ऐसी घोर निशा में मुझे छोड़कर तुम क्यों चले आए ?"

"तुमसे क्या कहूँ ? न करोगी तुम विश्वास। पहले मैं इन सब बातों को एक भ्रम समझता था, परंतु अब समझने लगा हूँ, भ्रम ही वह

मिट्टी है, जिस पर विश्वास का अंकुर फूटता है। मुझे कुछ भी स्मरण नहीं, मैं जागकर यहाँ तक आया या सोते-ही-सोते। जब स्वप्न की स्मृति आती है, तो समझता हूँ, कोई मुझे खींचकर ले आया; जब जागना विचारता हूँ, तो मार्ग और उसके द्वारों को ढकने-खोलने की याद ही नहीं है।'

यशोधरा ने सिद्धार्थ की बातों में कोई अर्थ-सिद्धि प्रकट नहीं की। दोनो क्षिप्र गति से राजभवन की ओर बढ़ रहे थे।

सिद्धार्थ कुछ क्षण चुप रहने पर फिर बोले—"प्रहरी अब तुम्हारी आज्ञा का भी पालन करेगा। यह एक शृंखला और पड़ा इस अवरुद्ध द्वार पर !"

दोनों फिर कुछ न बोले मार्ग में। राजभवन में पहुँचकर यशोधरा ने कहा—"अब इस द्वार के समीप मैं अपनी शय्या रक्खूँगी।"

"कि चोर भाग न जाय। प्रेम और रूप की अदृश्य ग्रंथियों में जकड़ा हुआ सिद्धार्थ जब उनसे निकल भागेगा, तो प्रिये, यह भौतिक बंधन क्या उसे रोक लेंगे ?"

"कहाँ, कहाँ भाग जाना चाहते हो तुम ?"

"ऐसे ही एक बात कहता हूँ।"

"दूसरी बात मुझसे सुनो।" यशोधरा ने तेजस्विता के साथ कहा।

"कहो।"

"जा नहीं सकते कहीं। मैं अहोरात्र तुम्हें अपने ध्यान में बाँध कर रक्खूँगी। मैं तुम्हारी चापों में मिल जाऊँगी कि निष्क्रांति के साथ ही तुम्हारा अनुसरण कर सकूँ।"

८. तीन निमित्त

दो वर्ष और भी बीत गए। युवराज के मन के भीतर का वह गीत फिर जाग पड़ा, और उन्हें बाहर नर्तकियों की स्वर-सृष्टि विरस जान पड़ने लगी। उस अंतर-गीत की केवल आत्मा उन्हें सुन पड़ती। शब्द नहीं, मर्म समझते वह भले प्रकार। इधर कुछ दिन से कुछ देखने भी लगे वह। पहले स्वप्न में प्रकटा वह। लोग उसे उनका दृष्टि-विभ्रम कहते। जब यशोधरा ने भी उस पर अविश्वास किया, तो वह फिर उसे मन में ही रखकर रह गए।

सिद्धार्थ का फिर पहला-सा स्वभाव हो जाने के कारण प्रजावती की चिंता बढ़ गई थी, पर एक नवीन आशा बँध गई थी। यशोधरा गर्भवती थी, और महारानी विचार करतीं, पुत्र के उत्पन्न हो जाने पर कदाचित् युवराज के सांसारिक बंधन फिर दृढ़ हो जायँ!

यशोधरा के पश्चात् राजकुमार नंद ही सिद्धार्थ के सुख-दुख का साथी था। नंद कभी-कभी महाराज के गोपनीय संदेश लेकर उनके निकट संबंधियों तथा नायक-अधिनायकों के पास तक पहुँच जाता था, साथ में प्रहरी और राजमुद्रिका लेकर। यह सब सिद्धार्थ से छिपाया जाता था। चौथी दीवार तक गया था नंद केवल, नगर था पाँचवीं दीवार से परिवेष्टित।

कभी एक-दो बार नगर देखने का हठ किया था राजकुमार नंद ने, महाराज के सामने नहीं, महारानी प्रजावती के समक्ष।

एक दिन नंद के ऐसे ही हठ पर प्रजावती ने उससे कहा—

"देखो राजकुमार, तुम्हें युवराज का ध्यान होना चाहिए। कपिलवस्तु तुम्हारे लिये इतनी अवरुद्ध नहीं है, जितनी उनके लिये। तुम्हें उनके इस बंधन के लिये समवेदना होनी चाहिए। तुम्हारी कितनी चिंता रहती है उन्हें। उनसे आगे बढ़ जाने की सब कामनाओं की बलि देनी चाहिए। अभी तुम कल ही तो दूर-दूर तक घूमने गए थे।"

"अपने लिये नहीं, मैं युवराज के लिये ही कह रहा हूँ। इस प्रकार आँखें बंद कर रख दिया है तुमने कपिलवस्तु के भावी महाराज को। महाराज से कहो न, एक दिन उन्हें नगर-भ्रमण की आज्ञा दे दें। निर्दिष्ट कर दी जायँ सड़कें पहले ही से, स्वच्छ निर्मल, निमित्तों की चौकसी के लिये प्रबंध कर दिया जाय। फिर क्या डर है।" नंद ने कहा।

प्रजावती बोली—"कर रहे हैं, महाराज शीघ्र ही इसका प्रबंध।"

नंद ने यह समाचार शीघ्र ही जाकर युवराज को सुनाया।

पर सिद्धार्थ उस समय अन्य विचार में थे। नंद का समाचार विचलित न कर सका उन्हें। उन्होंने कहा—"नंद, कई दिन से तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ।"

नंद उनके निकट जाकर बैठ गया।

सिद्धार्थ कहने लगे—"छोटी अवस्था में मेरा विवाह कर दिया गया। मैं यह तो नहीं कहता कि वह एक अस्वाभाविक वस्तु है। पर जैसे शृंखलाओं में बँधा हुआ, राजभवन के कार्यक्रम में असधा हुआ, हाथी फिर वन-पर्वतों में भाग जाने के लिये छटपटा उठता है, ऐसी ही कुछ दशा मेरी हो गई! ये राजनगर की सातों दीवारें तृणवत् हैं, मैं इनके ऊपर से उड़ सकता हूँ। पर, पर स्नेहमयी पत्नी का भुज-पाश, भाई, वह अच्छेद्य बंधन है—छूट भी नहीं सकता, टूट भी नहीं!"

नंद सिर नीचा कर युवराज की बात सुन रहा था।

"तुम्हारे विवाह की चर्चा चल रही है। मैं अपने अनुभव में से तुम्हें दूँगा।" सिद्धार्थ चुप हो गए।

नंद कौतूहल में भर उठा।

कुछ क्षण विचारकर फिर कहने लगे वह—"तुम कह दो राजकुमार, मैं विवाह नहीं करता।"

नंद को ऐसा ज्ञात हुआ, मानो युवराज ने उसकी अमूल्य वस्तु छीन ली कोई। वह अतल विचार के सागर में डूब गया।

सिद्धार्थ ने उसे चुप देखकर कहा—"तुम्हारी सौम्यता पर मैं बल-पूर्वक अपना यह अनुशासन लादना नहीं चाहता। मेरे विचार में सहमति होने से ही राजकुमार! मैं तुमसे प्रतिज्ञा नहीं करना चाहता कोई। विचार करना इस बात पर।"

"हाँ, मैं विचार करूँगा।" नंद ने उत्तर दिया।

राजकुमार देवदत्त के मन में सिद्धार्थ ही नहीं, सारी कपिल-वस्तु और शाक्यों के उस समस्त गण-तंत्र के लिये घृणा उत्पन्न हो गई। आठों याम वह अनेक वर्षों से वहाँ से दूर जाकर रहने का विचार और प्रयास कर रहा था।

अंत में उसने अपने पिता को सम्मत कर लिया। मगध की राजधानी राजगृह में महाराज बिंबिसार की राजसभा में राजकुमार देवदत्त के मातुल अच्छी प्रतिष्ठा का पद पाए हुए थे। उनके संतान नहीं थी कोई। उन्होंने बड़ी प्रसन्नता-पूर्वक देवदत्त को राजगृह में बुला लिया।

धीरे-धीरे देवदत्त का राजगृह के राजभवन में प्रवेश हो गया। देवदत्त चतुर और हृष्ट-पुष्ट था, पर था उद्दंड और कूट। मगध के युवराज अजातशत्रु का ध्यान आकर्षित कर लिया उसने। धीरे-धीरे

अजातशत्रु से उसका परिचय मित्रता में परिणत हो गया, और मित्रता अभिन्नहृदयता में परिवर्तित हो गई।

दोनो की प्रकृति मिलती-जुलती थी। देवदत्त ने अजातशत्रु पर ऐसा मंत्र पढ़ा, ऐसी मोहिनी डाली कि उसे बिना देवदत्त को देखे चैन ही न पड़ता। अनतिकाल में देवदत्त मगध के राजभवन का अंतरंग निवासी हो गया। वह राजभवन में ही आकर रहने लगा।

देवदत्त के भाग्य की तारिका चमक उठी। वह सिद्धार्थ के प्रति जाग्रत् की हुई प्रतिहिंसा को दिन-दिन परिपुष्ट करने लगा। उसने अजातशत्रु के मन में भी कपिलवस्तु के युवराज के लिये घृणा का बीज बो दिया।

अंत में एक दिन महाराज शुद्धोदन को युवराज सिद्धार्थ के नगर-भ्रमण का प्रबंध करना पड़ा। नगर का पूर्वीय भाग परिष्कृत किया गया। दुःख और विषाद की स्मृति विकसानेवाले समस्त दृश्य हटा दिए गए। कई दिन से नगर में राजाज्ञा प्रचारित की गई कि नगर के उस भाग में कोई वृद्ध, रोगी प्रवेश न करने पावे। वहाँ के सब वृद्ध, रोगी, दुर्बल और दुखी लोगों को कई दिन पहले से ही अपने-अपने घरों के भीतर बंद रहना पड़ा। स्थान-स्थान पर प्रहरियों की नियुक्ति की गई। वे विशेष सतर्कता से इस राजाज्ञा के प्रतिपालन में सन्नद्ध हो गए।

सिद्धार्थ के भ्रमण के साथ के लिये राजकुमार नंद भी प्रस्तुत किए गए। सारा भार सौंपा गया सारथी छंदक को। नियत तिथि की नियत घड़ी पर छंदक ने सुसज्जित रथ राजभवन के द्वार पर ला लगाया।

दो अश्वारोही नायक भी उनके साथ जाने के लिये सन्नद्ध थे— एक उनकी यात्रा के अग्रभाग में, दूसरा उनका अनुसरण करता

हुआ। चारों निमित्तों से युवराज की रक्षा करना उनका उद्देश्य था। स्नान और भोजन के अनंतर।

दोनो राजकुमार अलंकार और परिधान धारणकर महाराज और महारानी से विदा ले रहे थे।

यशोधरा का सरल-कोमल हृदय चिंता से विकल हो उठा! राजमहल के इस रहस्य-विचार से कि युवराज संन्यासी होकर चले जायँगे, वह पिछले कई दिनों से चिंता-जर्जरित होने लगी।

वह बड़ी सावधानी से छंदक के पास आई, और बड़ी दीनता से बोली—"सारथी! रथ-सूत्र तुम्हारे हाथ में हैं। देखो, युवराज कहीं जाने न पावें।"

छंदक से आश्वासन पाकर लौट गई वह शशांकमुखी। सिद्धार्थ और नंद को रथ में बिठाकर छंदक ने सूत्र सँभाले, घोड़ों को चलने का संकेत दिया। रथ चल पड़ा।

पाँचों प्राचीरों पर के तोरण आज मुक्त थे सिद्धार्थ की प्रगति के लिये। प्रहरीगण मार्ग छोड़कर विनत-वदन खड़े थे एक ओर। सिद्धार्थ ने अनुभव किया, बाधक साधक हो उठे आज।

एक-एक कर पाँचों तोरणों का अतिक्रमण कर सिद्धार्थ ने नगर में प्रवेश किया। स्वच्छ-सुसज्जित सड़कों पर मनुष्य आनंद और उत्साह से युवराज की अभ्यर्थना और जय-घोष कर रहे थे। स्त्रियाँ अट्टालिकाओं पर से उनके ऊपर अक्षत। और पुष्पों की वृष्टि कर रही थीं, मृदु-मधुर स्वरों में उनके स्वागत के गीत गा रही थीं। उनकी आरती कर रही थीं।

"ऐसे भय और आशंका क कोई चिह्न नहीं देख रहा हूँ राज-कुमार नंद! फिर क्यों यह नगर इतने दिनों तक हमारी आँखों की ओट में रख दिया गया। प्रजा बड़ी प्रसन्न चित्त और सुखी प्रतीत हो रही है। छंदक, क्या ये नित्य इसी प्रकार रहते हैं?"

"युवराज के अभूतपूर्व दर्शन इन्हें आज हुए हैं, इसी से इनके हर्ष का पारावार नहीं है।" छंदक ने उत्तर को छिपाते हुए कहा।

"मैं इनका युवराज, इतना सुखी नहीं हूँ।"

एक छोटा-सा बालक "युवराज की जय हो!" कहता हुआ एक फूल की माला लेकर रथ के बिलकुल संपर्क में ही आ गया था प्रहरियों की आँख बचाकर।

"हैं! हैं! अज्ञानी बालक!" कहते हुए छंदक ने बड़े कौशल से रथ रोक लिया—"अभी रथ के चक्र के नीचे आ गए होते। कैसे माता-पिता हैं तुम्हारे!"

"नहीं-नहीं छंदक! ऐसे रूखे शब्द न निकालो मुख से। तुम्हारी झिड़की पाकर भी बालक का उत्साह क्षीण नहीं हुआ है। रथ रुका हुआ ही रहने दो, मुझे यह बालक बड़ा प्रिय प्रतीत हो रहा है। इसकी आशा पूर्ण हो जाने दो। यह माला मुझे पहनाना चाहता है अपने ही हाथों से।"

युवराज से अभय पाकर बालक उनकी ओर बढ़ गया, आनंदातिरेक उछलता हुआ।

"आओ, आओ, मैं तुम्हें गोद में लूँगा।" युवराज ने उस बालक को रथ पर चढ़ाकर अपनी गोद में ले लिया।

बालक ने बड़ी निर्भयता से अपनी भेंट युवराज के गले में पहना दी।

"बड़ा सुंदर बालक है यह!" सिद्धार्थ ने कहा।

छंदक रथ पर से नीचे उतर पड़ा था। उस बालक को रथ से नीचे उतार देने के लिये हाथ बढ़ाते हुए बोला।

बोला—"भगवान् की कृपा होगी, तो शीघ्र ही युवराज को प्राप्त होगा इससे भी कहीं सुंदर पुत्र-रत्न!"

"तुमने अच्छे उद्देश्य से यह वाक्य कहा। पर मैं विकल हो उठा हूँ इससे छंदक !" युवराज बोले।

"आओ, अब उतर पड़ो बालक, हमें विलंब हो रहा है।" छंदक ने कहा।

"रथ में वारण करने पर भी फूल-फल की राशि एकत्र हो गई है। छंदक, इसमें से इस बालक को दे दो।"

छंदक ने उस बालक को रथ पर से भूमि पर उतारकर उसके उत्तरीय में बहुत-से फल बाँधकर उसे दे दिए।

रथ आगे बढ़ा। बड़ी कठिनाई से प्रहरी भीड़ को सँभाले हुए थे। रथ बहुत धीरे-धीरे मार्ग में बढ़ रहा था। युवराज के हृदय में नगर-दर्शन की उत्सुकता बहुत थी, पर दर्शन का संतोष तिल-मात्र भी नहीं दिखाई पड़ा उनके मुख पर।

कौतूहल से भरे हुए वह न-जाने क्या खोज रहे थे। किसी छिपे और लुके हुए को, जैसे उसके साथ उनका बहुत दिनों का परिचय है। कोई भी वस्तु असाधारण न दिखाई दी उन्हें। वह मन में सोचने लगे—"फिर किसलिये मेरे मन में इतना आग्रह उत्पन्न हुआ। यहाँ तो वही जगत् है, जैसा राजभवन की दीवार से घिरा हुआ। केवल आकार-प्रकार में कुछ विशद।" उन्होंने छंदक से कहा—"छंदक, तुमने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया ?"

हाथ जोड़कर वह बोला—"किस प्रश्न का उत्तर युवराज !"

"क्या यह प्रजा सदैव ऐसी प्रसन्न और परितृप्त रहती है ?"

"सदैव प्रसन्न कौन रहता है। प्रत्येक वस्तु का छोर है, सीमा है। एक छोर से दूसरे छोर तक का आवर्तन और प्रत्यावर्तन लगा ही रहता है—इसी का नाम जीवन है। सुख के अनंतर दुख, दिन की अनुसरण-कारिणी रात्रि, हर्ष के पीछे विषाद जीवन में लगा ही हुआ है।"

"ठीक है छंदक! मैंने उत्सव की कृत्रिमता बहुत देख रक्खी है, मुझे दूसरा सिरा दिखाओ। यह पथ कहाँ को गया है?"

"यह एक गली है।"

"इधर ले चलो।"

"गली संकीर्ण है युवराज, भीड़ से भरी। रथ से किसी के चोट लग जायगी।"

"चलो, हम पैदल ही चलेंगे।"

"नहीं, युवराज पैदल नहीं जा सकते, भीड़ में मिलकर।"

"क्यों?"

"महाराज की आज्ञा और एक प्रचलित प्रथा।"

सिद्धार्थ उदास हो गए।

छंदक ने कुछ दूर और जाकर रथ रोक दिया—"युवराज, हमारी यात्रा यहाँ पर समाप्त होती है। आज्ञा दीजिए कि रथ राजभवन की ओर लौटा दिया जाय।"

"लौटा दो।" बड़ी उदासीनता से युवराज ने कहा।

छंदक ने रथ लौटाया। घोड़ों ने राजभवन की ओर पैर बढ़ाए।

"तुम्हारे मुख पर प्रकाशित भाव कह रहे हैं, तुम इस भ्रमण से संतुष्ट हुए हो।" नंद की ओर संबोधन कर युवराज बोले।

नंद ने निःशब्द मुस्कान की रेखाएँ प्रकट कीं मुख पर।

पथ के दोनो ओर एकत्र जन-समूह के बीच से, अविराम जय-घोष में, फूलों की वर्षा से होकर छंदक रथ ले जा रहा था। इस बार पहले की अपेक्षा कुछ तीव्र गति से। रथ नगर की भीतरी दीवार के प्रवेश पर आया। छंदक ने न-जाने क्यों रथ का वेग अधिक कर दिया।

हठात् युवराज चिल्लाए—"ठहरो सारथी, लौटा दो रथ।" उन्होंने पीछे की ओर संकेत कर कहा—"वहाँ पर ले चलो।

किसी ने मुझे पुकारा बड़ी मर्म-भरी वाणी में। वह जहाँ पर हलचल-सी मची है। वहाँ ले चलो। मैं देखूँगा, वह कौन है।"

उस भीड़ में प्रहरी एक मनुष्य को धक्का देकर पीछे की ओर कर रहे थे।

"कहाँ से आ मरा यह यहाँ। हटो पीछे।" एक प्रहरी ने कहा।

दूसरे ने उसका हाथ पकड़ पीछे को खींच लिया।

उस मनुष्य के चोट लग गई। वह बड़ी करुण चीत्कार कर उठा।

छंदक को रथ लौटाकर वहाँ पर लाना पड़ा।

"ठहरो, ठहरो, तुम क्यों मार रहे हो इस व्यक्ति को। इसने क्या अपराध किया? इसे मेरे सम्मुख लाओ।"

वह व्यक्ति सिद्धार्थ के समीप लाया जाने लगा।

सिद्धार्थ ने बड़े भय और बिस्मय के भाव से छंदक की ओर देखकर कहा—"छंदक, यह कैसा अद्भुत मनुष्य है, इसके केश और श्मश्रु सब श्वेत हैं! मुख झुर्रियों से भरा हुआ, कमर टेढ़ी, बड़ी कठिनता से लाठी के सहारे मेरे पास तक आ रहा है!"

छंदक किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर, चुप हो सोचने लगा—"क्या उत्तर दूँ इन्हें? यह पहला निमित्त, इतनी सावधानी करने पर भी कहाँ से घुस पड़ा यहाँ।"

उस मनुष्य ने लड़खड़ाते हुए युवराज के सामने आकर हाथ जोड़ कहा, अस्पष्ट और टूटी-फूटी वाणी में—"युवराज की जय!"

"हैं! इनका सारा अंग कंपित है, वाणी भी स्पष्ट नहीं। जान पड़ता है, आँखों से भी कम दिखाई देता है।"

"हाँ युवराज, आँखों से भी कम दिखाई देता है। एक तो बिलकुल ही फूट गई!" उस व्यक्ति ने दयनीय स्वरों में कहा।

"छंदक ?" सिद्धार्थ ने सारथी की ओर मुख किया।

छंदक के अंग में काटो, तो रक्त नहीं। उसने सोचकर निश्चय किया कि अब जब निमित्त सामने हो खड़ा है, तो उसे वाग्जाल से ढक देना मूर्खता होगी। छंदक बोला—"हाँ युवराज !"

"छंदक ! यह भी क्या मनुष्य है ?"

"हाँ युवराज ! यह वृद्ध मनुष्य है।"

"बड़ा अद्भुत ! बड़ा विचित्र ! आज तक नहीं देखा मैंने कभी कोई ऐसा ! ऐसा क्षीण, ऐसा दुर्बल; इतना निरीह और इतना निरुपाय !"

"भगवान् का नियम युवराज ! एक दिन सभी को इस मार्ग पर आना है।" वृद्ध ने कमर पकड़कर निःश्वास छोड़ी।

"छंदक ! यह मनुष्य क्या सच बोल रहा है ?"

"हाँ महाराज !"

"क्या मैं एक दिन ऐसा ही जर्जर, क्षीण, पंगु और अंधा हो जाऊँगा ?"

छंदक ने धीरे-धीरे कहा—"इसे वृद्धावस्था कहते हैं, युवराज ! युवावस्था के पश्चात् सभी की देह धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है।"

"क्या यशोधरा भी एक दिन ऐसी ही हो जायगी ?"

"सृष्टि के इस नियम का अपवाद कोई भी नहीं है। रंक से लेकर राजा तक, मूर्ख से लेकर पंडित तक, एक छोटे-से कीट से लेकर मनुष्य तक, सभी को इस जरा के समीप पराजित होना पड़ता है।"

"आश्चर्य ! ऐसे सुंदर यौवन की कांति से भरे हुए शरीर का ऐसा परिणाम ! कैसा हाँफ रहा है यह मनुष्य ! सारा शरीर सूख गया है, स्थिर होकर खड़ा नहीं हो सक रहा है। गाल पिचक गए हैं,

दाँत भी सब टूट गए जान पड़ते हैं ! केवल हड्डियों का एक पिंजर ! छंदक ! मुझे भय लग रहा है ।"

प्रहरी उस वृद्ध को हटाने लगे ।

'नहीं-नहीं इन्हें मेरे सामने रहने दो अभी । मैंने बहुत दिनों के पश्चात् इन्हें देखा है । इन्हीं को देखने के लिये तो मैं आया हूँ यहाँ ।"

वृद्ध ने फिर विकंपित वाणी में कहा —"यु-व-रा-ज की ज य हो !"

"तुम क्या चाहते हो ?" सिद्धार्थ ने पूछा ।

"कौन दे सकता है ?" वृद्ध ने कहा ।

"मैं प्रयत्न करूँगा ।"

"नहीं दे सकते । युवराज, मेरी फूटी आँख में दे सकते हो ज्योति ?"

युवराज ने असहाय होकर छंदक की ओर देखा—"नहीं दी जा सकती ज्योति ? किसी प्रकार नहीं ?"

"नहीं युवराज, किसी प्रकार नहीं ।" छंदक बोला ।

"मैंने पहले ही कह दिया था युवराज !" वृद्ध बोला ।

"कितनी सरलता है तुम्हारी वाणी और चेष्टा में !" युवराज ने कहा ।

"बाल्यावस्था और वृद्धावस्था की तुलना कर कहा जाता है, वे समानता से भरी हैं ।" छंदक बोला ।

"केवल एक अंतर है ।" वृद्ध ने कमर पर हाथ रख बड़ी कठिनता से सिर उठाकर कहा—"बाल्यावस्था में प्रकृति से ऋण लिया जाता है, और वृद्धावस्था उसे चुका देने का समय है । अब मुझे आज्ञा हो ।" वृद्ध लाठी टेक-टेककर जाने लगा ।

"प्रहरी, इन्हें इनके घर तक पहुँचा दो ।" सिद्धार्थ ने कहा ।

एक प्रहरी भीड़ हटाता हुआ, दूसरा उस वृद्ध का हाथ पकड़कर उसे ले चला ।

छंदक ने घोड़ों की बागडोर खींची।

"छंदक! और भी ऐसे वृद्ध हैं, कितने?"

"अनेक।"

"फिर मैंने औरों को क्यों नहीं देखा?"

"दुर्बल और असहाय होने के कारण भीड़ में क्यों आते?"

रथ पाँचों प्राचीरों के तोरणों को पार कर राजभवन में जा पहुँचा।

महाराज ने पूछा—"नगर-भ्रमण किया युवराज?"

एक सकरुण पुलक में रहस्य को छिपाकर युवराज ने कहा—"हाँ महाराज, नगर देखा।"

छंदक अपराधी-सा, रथ द्वार पर ठहराकर खड़ा हो गया महाराज के सामने।

नंद के मुख पर भी प्रसन्नता न थी। मुँह लटकाए वह भी खड़ा था युवराज के पार्श्व में।

प्रजावती ने पूछा—"सबसे अधिक कौन-सी वस्तु रुचिकर हुई तुम्हें युवराज?"

"जरा का वह कृश-क्षीण रूप, जो यौवन का अपरिहार्य लक्ष्य है। मुझे उस वृद्ध का—"

"वृद्ध?" महाराज शुद्धोदन ने आधे क्रोध और आधे पश्चात्ताप में भरकर दाँत पीसे, दोनों हाथ मले, और छंदक की ओर देखा।

छंदक ने आकाश की ओर संकेत कर कहा—"भगवान् की इच्छा सबसे प्रबल है महाराज!"

सिद्धार्थ यशोधरा के कक्ष में चले गए। शुद्धोदन राजकुमार नंद से पूछने लगे—"कहाँ, कब और कैसे वह वृद्धा आ गया। वह किसकी असावधानी से यह भूल हुई, इसकी शोध में लगे।

"यशोधरे, मैं इस रूप और यौवन की सीमा के दर्शन कर आया हूँ परम संदर। परम मनोहर।" सिद्धार्थ ने कहा।

एक पहेली-सी हल करने लगी यशोधरा। वह गर्भ के भार से त्रस्ता, कोमलांगिनी युवराज की अन्यमनस्कता से और भी चिंता-मग्ना हो गई थी इधर कई मास से।

युवराज ने कहा—"आश्चर्य है, मैंने आज तक उसे नहीं देखा। वह छिपा दिया गया मुझ से इतने दिनों!"

यशोधरा चौंक उठी! समझ गई कि युवराज को आज किसी निमित्त के दर्शन हो गए।

"क्यों, तुम क्यों चौंक उठीं? क्या तुमने कभी कोई वृद्ध देखा है? और फिर दर्पण में अपनी प्रतिच्छवि देखकर यह भी विचार किया है कि यह रूप हवा में रक्खे हुए कपूर की भाँति एक दिन उड़ जायगा!" सिद्धार्थ ने कहा।

यशोधरा अत्यंत विकल हो उठी।

सिद्धार्थ ने फिर कहा—"यौवन का वही लक्ष्य है, या वह सिरा अभी और कुछ दूर तक गया है?"

इसके पश्चात् युवराज एक दिन नगर की दक्षिण दिशा में भ्रमण के लिये गए। वहाँ उन्होंने दूसरा निमित्त भी देख लिया। राज्य की सारी सतर्कता और प्रबंध धरे ही रह गए।

"यह कैसा मनुष्य है सारथी! क्या यह भी वृद्ध है?" युवराज ने पूछा।

"नहीं, यह वृद्ध नहीं है।" छंदक ने उत्तर दिया।

"फिर? यह तो भूमि पर पड़ा है, उठ भी नहीं सकता। बड़े आर्त स्वर में कराह रहा है।"

"यह युवक ही है, रोग ने इसकी ऐसी दशा कर दी है।"

"क्या यौवन का एक शत्रु और है यह रोग?"

"केवल यौवन का ही नहीं, प्रत्येक अवस्था का।"

"और प्रत्येक मनुष्य का भी?"

"हाँ।"

"मेरा भी ?"

"हाँ युवराज !"

"कब ?"

"किसी समय भी। यह शरीर पाँच तत्त्वों से निर्मित है। तत्त्वों के व्यवधान होने पर रोग दबा लेता है।"

"कितना कुरूप और मलिन हो गया है यह। चारों ओर कफ थूक-थूककर इसने भर दिया है। मक्खियाँ भिनभिना रही हैं, और दुर्गंधि आ रही है।"

"इसीलिये तो मैंने रथ इतनी दूर पर रोका है।" छंदक ने उत्तर दिया—"लौट चलें अब।"

"तुम्हारी इच्छा छंदक !" सिद्धार्थ ने कहा—"बुढ़ापा इसकी अवधि का शत्रु और रोग इसके क्षण-क्षण का वैरी ! और हम इसे भूल जाने का परिश्रम कर रहे हैं। अंत में कब तक ?"

छंदक रथ राजमहल की ओर ले जाने लगा, और मन में सोचने लगा—"आज भी जो जितना छिपाया गया था, उतना ही प्रकट हो गया !"

"छंदक ! कहीं दूर नहीं ले जा सकते रथ ?"

"कहाँ युवराज ?"

"दूर-दूर—कहीं दूर, छंदक ! जरा और रोग से दूर !"

"ऐसा स्थान कहीं नहीं है युवराज !"

"होगा। सूर्य की परिधि से बाहर कहीं। जहाँ यौवन क्षणों की चोट से क्षीण नहीं हो जाता। तुम्हें नहीं ज्ञात है, कोई ऐसा स्थान ?"

"नहीं।"

"मैं भी नहीं जानता। तब चलो, राजभवन को ही चलो। कहीं रूप

और यौवन को धीरे-धीरे समय के दंत-चक्र में विनष्ट होता हुआ देखूँगा। जिनको अपना और प्रिय समझा है, उन्हें रोग में असहाय होकर भूमि पर तड़पते देखूँगा। चलो, सारथि, द्रुत वेग से चलो।"

इसके पश्चात् फिर एक दिन सिद्धार्थ नगर के पश्चिम भाग का परिभ्रमण करने के लिये निकले।

छंदक घर ही से उत्साह-हीन था। महाराज भी युवराज के दो निमित्तों को देख लेने के कारण अपनी शक्ति का विश्वास खो चुके थे!

"वह क्या छंदक! वह क्या ले जा रहे हैं अपने कंधों पर रखकर? बड़ा कोलाहल करते हुए। कुछ लोग रुदन भी कर रहे हैं। उधर ले चलो रथ। हैं, ये तो इधर ही आ रहे हैं। रथ रोक दो छंदक! मैं देखूँगा, यह क्या है।"

"ऐसा क्या देखने योग्य है यह! आगे चलें युवराज!"

युवराज ने सूत्र पकड़ लिए छंदक के हाथ में के—"छंदक, कभी अवज्ञा नहीं की है तुमने मेरी। ठहरो! मैं अवश्य देखूँगा इसे।"

छंदक ने बड़ी ग्लानि के साथ रथ रोक दिया।

"क्या है यह? वर-यात्रा है? लेकिन ये ढककर क्या ले जा रहे हैं?"

"यह शव-यात्रा है।" छंदक को बाध्य होकर रहस्य खोलना पड़ा।

"शव क्या हुआ?"

"मनुष्य-शरीर! जिसके प्राण छूट गए हों, जिसकी मृत्यु हो गई हो।"

"मृत्यु! जानता हूँ इसे। क्या मनुष्य की भी मृत्यु हो जाती है?"

"जीव-मात्र का यही परिणाम है।"

"अब समझा, रोग और जरा के साधन इसी की सिद्धि हैं !"

शव-यात्रा निकट ही आ गई थी।

एक वृद्ध-दंपति रो रहे थे—"हाय हमारा पुत्र !"

एक बालक चिल्ला रहा था—"हाय मेरे पिता !"

बाल-बिखरे एक युवती सिर पीट रही थी—"हाय मेरे पति !"

"ठहरो, मुझे भी देख लेने दो।" कहकर सिद्धार्थ ने उन लोगों को रोक लिया।

शव का मुख खोला गया। सिद्धार्थ ने उसे भले प्रकार देखा, और वे लोग आगे को बढ़े।

"कैसा निस्तेज और विवर्ण मुख, एक दिन यह हमारी ही भाँति होगा। इंद्रियों में चेष्टाएँ और मन में संकल्प लिए हुए !"

"हाँ युवराज !"

"और एक दिन हम भी ऐसे ही हो जायँगे ?"

"अवश्यमेव !"

"धन, बल, कीर्ति और बुद्धि, कोई भी न बचा सकेगी ?"

"नहीं युवराज, कोई भी न बचा सकेगी !"

सिद्धार्थ ने बड़ी गहरी साँस छोड़कर कहा—"हमारे सुख के स्वप्न यहाँ पर आकर पर्यवसित होते हैं। हमारे विलास के भवनों की मूल-भित्ति यहाँ पर है ! वह शव अब किसी काम का नहीं रहा ?"

"नहीं, युवराज !"

"वे कहाँ ले जा रहे हैं उसे ?"

"श्मशान में ले जाकर उसे भस्मीभूत कर देंगे !"

"यही अंत है हमारे इस अत्यंत यत्न और दुलार से लालित-पालित देह का ! मूढ़ मानव, बड़ी सावधानी से तू भूमि पर चरण रखता है। इसलिये नहीं कि कहीं कोई कृमि-कीट कुचल जायगा,

पर इसलिये कि तेरे पैर में कहीं कोई ठोकर न लगे, कोई कुश-कंटक न चुभ जाय ! और अब क्या होगा ? जब अग्नि की शिखाएँ अपनी लपलपाती हुई जिह्वाओं से तेरी त्वचा को खोलकर तेरा रक्त-पान करेंगी, जब लाल-लाल अंगारों पर तेरी हड्डियों का पंजर चटचटावेगा, तब क्या होगा ? शव को जलाकर वे सब लौट आवेंगे घर को। क्यों छंदक ?"

"हाँ महाराज !"

"और वे सब फिर एक कल्पित सुख-विलास, हास्य-रंग में निमग्न होकर अपनी मृत्यु की स्मृति को ढक देंगे, एक के ऊपर दूसरा आवरण डालकर।"

"सभी जानते हैं युवराज ! मृत्यु अवश्यंभावी है।"

"नहीं छंदक, कोई नहीं जानता। मृत्यु की यह माधुरी कैसी छिपा दी गई मुझसे ! मैं जान गया था उसी दिन, जिस दिन मैंने खिले हुए पुष्प को भूमि पर मुरझाकर पड़ा देखा था। मृत्यु से अधिक निकट और कोई वस्तु नहीं है मेरे। फिर उसे छिपाने के लिये इतनी दीवारों का आयोजन किया गया।"

"सुनता हूँ, वे दीवारें पहले ही से थीं युवराज, हमारे जन्म से भी पूर्व।"

"जो कुछ हो, मैंने जीवन का यह एक छोर आज देखा और पहचाना। इसका दूसरा छोर ?—"

इसी समय राजभवन से एक अश्वारोही रथ के समीप पहुँचा, और उसने हाथ जोड़कर निवेदन किया—"युवराज को बधाई है ! युवराज्ञी ने अभी-अभी एक सुंदर बालक को जन्म दिया है ! वह आप और कपिलवस्तु के लिये कल्याणकारी हो ! महाराज को यथाशीघ्र राजभवन में श्रीमान् की उपस्थिति वांछनीय है।"

छंदक बोला—"आ ही गए अब तो राजभवन के निकट। एक ही दीवार और पार करनी है।"

महाराज और महारानी युवराज का स्वागत करने के लिये और उन्हें पुत्र-जन्म का सुसमाचार सुनाने के लिये सिंहद्वार पर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। पर सिद्धार्थ दूसरे ही मार्ग का अतिक्रमण कर विषण्ण-हृदय और विनत-मस्तक से अपने कक्ष में चले गए!

महाराज समझते थे, पुत्र के जैसे मोह में मैं आबद्ध हूँ, पुत्र के उत्पन्न होने पर ऐसे ही ममत्व के जाल में सिद्धार्थ भी फँस जायँगे। पर ऐसा न हुआ।

६. महाभिनिष्क्रमण

तीन निमित्तों के दर्शन कर लेने पर युवराज की बड़ी विचित्र दशा हो गई ! जगत् की नश्वरता मूर्तिमती होकर, स्थिर और अचल होकर उनके सामने खड़ी हो गई । ऐसे विकल और विह्वल सिद्धार्थ पहले कभी नहीं देखे गए !

महाराज और महारानी ने जब यह सुना कि युवराज ने तीसरा निमित्त भी देख लिया, तो उनके मस्तकों पर मानो अनभ्र वज्रपात हो गया ! वह बड़े विराट् आयोजन से पौत्र का जन्मोत्सव मना रहे थे, पर पुत्र की ओर से एक अज्ञात आशंका शूल की भाँति उनके हृदय को छेदने लगी थी ।

सूतिका-गृह में यशोधरा का दुःख कौन जानता है । प्रसव की वेदना और पति की ओर से भयानक चिंता । रात को बुरे-बुरे स्वप्न दिखाई दिए उसे, दिन-भर डरावनी कल्पनाओं ने घेर लिया उसे ।

बड़ी धीर और गंभीर गति से युवराज ने प्रसूति गृह में प्रवेश किया । जीवन का एक सिरा देख चुके थे वह दिन में, दूसरा सिरा देखने के लिये पर बढ़ाया ।

सारा राजभवन उत्सव से प्रतिध्वनित, गुंजरित और जगमगा रहा था । पिता-माता के आग्रह की उपेक्षा कर दी थी उन्होंने । कुछ देर के अनंतर स्वतः उधर जाने के लिये पैर बढ़ गए ।

प्रसूति-गृह समस्त हर्ष और आनंद का केंद्र बना हुआ था, सिद्धार्थ ने उसके भीतर प्रवेश कर देखा । अनेक दासियों के बीच

में घिरी हुई महारानी प्रजावती अपने हाथों से नवजात पौत्र की परिचर्या में संलग्न थीं। यशोधरा दुग्ध-फेन-निभ शुभ्र और कोमल शय्या पर एक हलकी काषाय चादर से मुँह ढककर सो रही थी।

सिद्धार्थ को देखते ही विशेष आदर प्रकट कर दासियों ने एक ओर को होकर मार्ग छोड़ दिया। उनका ध्यान बलात् सहधर्मिणी की ओर ही खिंचा, पर शिष्टता ने पैरों में बेड़ियाँ डाल दीं।

प्रजावती ने युवराज की ओर शिशु को बढ़ाकर कहा—"लो, भगवान् की इस नवीन सृष्टि के दर्शन करो।"

युवराज को बड़ी अनिच्छा से उधर देखना पड़ा। देखा, तो उधर दृष्टि स्थिर हो गई। जीवन के हेतु लालायित, उस असहाय और चेतना-विरहित शिशु की चेष्टाएँ उनके हृदय में घर कर गईं।

'लो, इन्हें गोद में लो।" कहा महारानी ने।

हाथ बाँधे हुए खड़े थे अभी तक सिद्धार्थ, खुल पड़े। पुष्प के भार के सदृश उस शिशु को उन्होंने अपनी गोद में लिया—"जन्म और मरण के इन दो सिरों में जकड़े हुए का नाम जीव है। क्या यही मनुष्य का आरंभ है ?"

"तुम्हारी इस तर्कणा का न यह समय है, न हमें अवकाश। भगवान् से प्रार्थना करती हूँ, और तुम दोनों को आशीर्वाद देती हूँ कि चिरायु रहो।"

"आज तुम्हारे मुख से यह चिरायु-प्राप्ति का कैसा आशीर्वाद सुना, जीवन में पहलेपहल !" सिद्धार्थ ने कहा।

"कब न की तुम्हारे दीर्घ जीवन की कामना ?"

"प्रकट में आज ही।" सिद्धार्थ ने शिशु माता की ओर बढ़ाया।

प्रजावती ने शिशु को अपनी रक्षा में ले लिया।

सिद्धार्थ ने पूछा—"निमित्त-दर्शन के पश्चात् न-जाने कितनी शब्दावलियाँ छिपी हुई गुहाओं में से निकल-निकलकर मेरे सम्मुख आ रही हैं।"

प्रजावती ने चौंककर पूछा—"कैसा निमित्त-दर्शन ?"

"मैं स्वयं ही तुमसे पूछना चाहता था, निमित्त-दर्शन क्या हुआ ?"

"किसने कहा ?"

"मैंने महाराज को कहते हुए सुना। वह प्रहरियों पर क्रुद्ध हो रहे थे कि उन्होंने मुझे तीसरा निमित्त भी दिखा दिया।"

"निमित्त कारण से कहते हैं ? और क्या हुआ ?"

"किसका कारण ?"

"किसी वस्तु का भी। जैसे दिन का कारण सूर्य है।"

"क्या रात नहीं ?"

प्रजावती के मुख पर कुछ उलझन प्रकटी। वह बोली—"मैं नहीं जानती।"

"जैसे मृत्यु का कारण जन्म है ?" सिद्धार्थ ने कुछ विचारकर फिर पूछा।

प्रजावती ने अत्यंत उद्विग्न होकर कहा—"नहीं, युवराज, हम तुम्हें इस प्रसूति-गृह के भीतर ऐसे अमंगल शब्दों को उच्चारण न करने देंगी। यदि तुम कोई दूसरा प्रकरण नहीं छेड़ सकते, तो मौन रहकर हमारी बातें सुनो।"

युवराज ने फिर यशोधरा की ओर देखा। वह अभी तक नहीं जागी थी, उसी प्रकार सो रही थी।

सिद्धार्थ के मुख-मंडल पर चिंता का उदय लक्ष्य कर महारानी बोलीं—"शरीर अस्वस्थ है प्रसूता का। बड़ी गहरी निद्रा में सो रही हैं। तुम्हें क्या कुछ कहना है उनसे ?"

कुछ अनुमति-सी मुख पर दिखाकर सिद्धार्थ ने कहा— 'नहीं।"

"उन्हें विश्राम लेने देना चाहिए हमें।" प्रजावती ने कहा। सिद्धार्थ लौट गए।

आधी रात के अनंतर जब उत्सव स्तब्ध हो गया था, राजभवन में जब केवल प्रहरीगण ही जाग रहे थे, तब अनावृत-नयन युवराज भी जीवन और मरण के विचारों में डूबे हुए थे। आज उनकी गति-विधि पर अनुशासन रखने वाली यशोधरा अनुपस्थित थी।

कभी कक्ष में टहलते। कभी खुले हुए गवाक्ष से बाहर निशा की शून्यता में कुछ ढूँढते। कभी मंच पर बैठ जाते, दीर्घ श्वास लेते, और कभी फिर शय्या पर पड़ जाते। किसी प्रकार चैन नहीं, कहीं पर शांति नहीं।

बड़ी विश्वास-पात्र और बहुत समझा-बुझाकर यशोधरा ने दो दासियाँ सिद्धार्थ की सेवा के लिये भेज रक्खी थीं। यशोधरा ने बड़ी विनय और आग्रह से उनसे सजग नींद सोने के लिये कह रक्खा था। दिन-भर की थकी हुई बेचारियाँ, शीघ्र ही उनकी आँखों में नींद पड़ गई थी, और दोनो ख़र्राटे भर रही थीं।

युवराज द्वार खोलकर उपवन की ओर जाने के उद्देश्य से बाहर निकल आए। प्रहरी की आँख बचाकर सीधे अपने प्रिय और चिर-परिचित जामुन के पेड़ के नीचे चले गए।

प्रकृति में सर्वत्र ही नैश स्तब्धता छाई हुई थी। कभी-कभी पवन की मंद गति वृक्ष के पत्रों पर सरसराहट उपजा रही थी।

सिद्धार्थ ने वृक्ष के तने का सहारा लिया और मन में विचारने लगे—"फिर केवल एक मैं ही क्यों मृत्यु के दंश से विकल हो गया! उससे निर्भय होकर सभी चैन की नींद ले रहे हैं। मैं नहीं सो सकता। मैं इस सूचीभेद्य अंधकार को चीरकर उसमें कोई मार्ग निकालना चाहता हूँ। विस्मृति की नींद में सोए हुए

जगत् ! मैं तेरी ही पीड़ा से विकल हूँ । तू सो रह, मैं जागकर तेरी पीड़ा की ओषधि का अनुसंधान करूँगा !"

किसी के पैरों की आहट ज्ञात हुई ! उसके पश्चात् ही वह बिलकुल समीप आ गया सिद्धार्थ के । शांत-सौम्य मूर्ति, अपने ही प्रकाश से उज्ज्वल, उस अंधकार में स्पष्ट दिखाई देने लगा । वह काषाय वस्त्र पहने हुए था । उसके मुख पर आनंद था, और उसके हाथ में एक भिक्षा का पात्र ।

'कौन हो तुम ? तुम भी जाग रहे हो इस मूक निशा में ? क्यों ? किसलिये ? पर व्याकुलता का कोई चिह्न नहीं है तुम्हारे मुख और तुम्हारी गति में । कौन हो तुम ?"

"मैं एक श्रमण संन्यासी हूँ ।" बड़ी मृदु और धीर वाणी से वह मनुष्य बोला ।

"क्या तुम्हें अवगत नहीं, सारा जगत् जरा, व्याधि और मृत्यु के कठोर पैरों से दलित है ।"

"जानता हूँ । इसीलिये तो यह चीरव और यह भिक्षा का पात्र धारण किया है कि उस वस्तु की खोज करूँ, जिस पर जरा का प्रभाव नहीं, जो व्याधि से मुक्त है, और जिसने मृत्यु पर विजय पाई है ।"

प्रसन्न होकर सिद्धार्थ ने पूछा—"मृत्यु का विजेता कौन है ?"

"जिसने निर्वाण प्राप्त किया है, उसने मृत्यु पर ही नहीं, जन्म पर भी विजय पाई है ।" श्रमण बोला ।

सिद्धार्थ ने आशान्वित होकर पूछा—"तुमने पाई है वह विजय ?"

"नहीं, मैं केवल एक यात्री-मात्र हूँ उस मार्ग का ।"

"मैं पा सकता हूँ उसे ?"

"सतत और शुद्ध परिश्रम जिसने किया, उसने अवश्यमेव पाया उसे ।"

"मैं भी यह चीरव और भिक्षा का पात्र धारण करूँगा। मैं उस रूप को प्राप्त करूँगा, जिस पर जरा का प्रभाव नहीं है। मैं सुख की खोज करूँगा, व्याधि-हीन और अविनश्वर। मैं इस चलायमान जगत् में अचल, शाश्वत और शुद्ध सत्य का अनुसंधान करूँगा।" सिद्धार्थ असहाय-से होकर उस अंधकार में इधर-उधर टटोलने लगे—"पर किधर है पथ?"

"सर्वत्र ही हैं पथ। जैसे सूर्य के मंडल में से किरणें फूटकर निकलती हैं, उसी प्रकार उतने ही। केवल भ्रम छोड़कर एक ही दिशा में निरंतर प्रगति करते रहना ही पथ की प्राप्ति है। प्रत्येक पथ का मोह नहीं, यही भ्रम है।"

"तुम्हें नमस्कार है श्रमण! तुमने मेरा अवरुद्ध द्वार अनावृत कर दिया! किंतु—" युवराज ने विचार करते-करते शिला-मूकता ग्रहण की। माता, पिता, पत्नी, पुत्र, सखा, सहचर, मित्र, बांधवों के बंधन उनके चारों ओर नाचने लगे।

"तुम मूक रह गए क्यों? तुम शुद्ध बुद्ध हो। तुम्हारी वाणी मेघ की गर्जना में अशांत और अतृप्त जगत् के अंधकार और अज्ञान में सत्य के सूर्य का प्रकाश करेगी। उठो, प्रवृत्त होओ।"

"राज्य-भोग, सुख-विलास, इसे सदा ही साधारण दृष्टि से देखा है, परंतु प्रिय और परिजन?"

"क्या जरा-मरण ने इनके बंधनों को दुर्बल नहीं कर रक्खा है? सारा जगत् सूक्ष्म होकर तुम्हारे मन में सुप्त है। ग्रहण और त्याग, ये एक ही कल्पना के दो सिरे हैं!"

"तुमने मुझे नवीन स्फूर्ति से भर दिया। मेरे मन के भीतर चमकते हुए तारक पर के समस्त आवरण हटा दिए। कौन हो तुम?"

"मैं असित ऋषि का शिष्य हूँ। तुम्हारे पुत्र को आशीर्वाद

देने आया था। मुझे रात ही में उठकर चले जाने की राजाज्ञा हुई थी। मैं जा रहा हूँ।" ऋषि ने सिद्धार्थ को हाथ जोड़कर परिक्रमा की, और चले गए।

"इस राजसिकता का नाम हमने सुख रक्खा है। इन आवश्यकताओं की कड़ियों को बढ़ा-बढ़ाकर हमने अपने बंधन के लिये क्या शृंखलाएँ नहीं जोड़ी हैं। केवल एक पात्र और एक वस्त्र! और चाहिए ही क्या? माँगने के लिये वस्त्र का छोर और खाने के हेतु पात्र।" एकाएक उन्होंने कुछ और सोचा—"अभी क्यों न चला गया मैं उन श्रमण के ही साथ। उनके लिये द्वार खोलने की आज्ञा मिली होगी। उनकी छाया में मिलकर क्या मेरी भी निष्क्रांति नहीं हो सकती?" वह उधर को बढ़ गए एक-दो पग। रुक गए! "जिन्हें त्यागकर जाना है, उनसे कहना तो उचित है न?" राजमहल की ओर फिर गए युवराज।

प्रसूति-गृह में जाकर देखा, प्रसूता शय्या पर पड़ी हुई जाग ही रही थी। सिद्धार्थ ने चुपचाप बाहर से देखा।

प्रसूता उनकी आहट पा गई, बोली—"कौन?"

सिद्धार्थ भीतर उसके पास चले गए—"मैं हूँ यशोधरा! शिशु कहाँ है?"

यशोधरा आशा पाकर उठ बैठी शय्या पर। मन में सोचा उसने—"इन्हें बालक की ममता खींच लाई इस बार क्या?" सिद्धार्थ से कहा उसने—"महारानी की रक्षा में है। मेरी नींद में बाधा पड़ने के कारण वह उसे अपने कक्ष में ले गई हैं।"

"फिर भी तुम जाग ही रही हो? मैं पहले भी आया था, तब तुम नींद में अचेत थीं।" सिद्धार्थ ने बहुत धीरे-धीरे कहा—"तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ।"

भूमि पर यशोधरा की सेवा के लिये नियत कई दासियाँ पड़ी हुई सो रही थीं ।

कुछ क्षण प्रतीक्षा करने पर भी जब सिद्धार्थ ने आगे जिह्वा न खोली, तो यशोधरा ने पूछा—"क्या कहना चाहते हो ?"

बड़े शांत और करुण भाव से युवराज बोले—"बड़ा भयानक स्वरूप दिखाई पड़ा मुझे इस संसार का। हमारा समस्त सुख-विलास, सुहाग-शृंगार, स्नेह-संबंध सब नाशवान् है ! जल-बुद्-बुद पर पड़े हुए प्रकृति के प्रतिबिंब के समान क्षणिक ! हम अपनी सारी विभूति और सारा बल लगाकर न अपने को बचा सकते हैं, न अपने प्रिय और परिजनों को !"

यशोधरा ने हाथ जोड़कर मस्तक झुका दिया सिद्धार्थ के चरणों की ओर - "तुम्हारे चरणों की शरण हूँ युवराज ! मैंने रात में बड़ा भयानक स्वप्न देखा है ।"

"मैंने यौवन पर जरा के दंश देखे हैं, मैंने सुख पर व्याधि का विजय-आक्रमण देखा है, और देखे हैं मैंने मृत्यु के तीक्ष्ण और कठोर नखों पर जीवन के छीछड़े !"

"मुझे भय लगता है, तुम ऐसी बातें और न करो युवराज ! मैं स्वयं ही उस स्वप्न की स्मृति से व्याकुल हूँ ।"

"क्या स्वप्न देखा तुमने ?"

"मैंने देखा, बड़े रुद्र वेग से आँधी चली, भीमकाय मेघों ने उठकर सारी धरती ढक ली। पृथ्वी ताड़ित केले के पत्ते के समान थरथराने लगी। ग्रह-नक्षत्र अपने-अपने केंद्रों से च्युत होकर इधर-उधर टूट पड़ने लगे। उस प्रलय और भूचाल में मैंने देखा, आपका मुकुट आपके मस्तक पर से गिर पड़ा, और लुढ़कता हुआ चला गया। मैं उसे पकड़ने को दौड़ी, उसकी गति को न पा सकी। वह विशाल शिलाओं में टकराकर चूर-चूर हो गया।"

बड़े मनोयोग से सिद्धार्थ सुन रहे थे। हँसते हुए बोले—"एक सरल सत्य है, यह केवल इतना ही है, तुमने कई शताब्दियों को क्षणों में देखा। क्या निरंतर एक आँधी नहीं चल रही है, अखिल जड़ और चैतन्य प्रकृति से होकर। क्या काल के कराल कर ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं को धूलि में नहीं मिला रहे हैं। बड़ी-बड़ी राज्य-प्रणालियाँ, राज-वंश क्या उसके प्रभाव से भूमिसात् नहीं हो रहे हैं। बनते देर लगती है, बिगड़ते हुए दिखाई भी नहीं देते। एक तुच्छ मनुष्य, महाकाल की दृष्टि में एक चींटी से भी नगण्य सिद्धार्थ, उसके मुकुट को जो तुमने चूर्ण-विचूर्ण होते हुए देखा, यह यथार्थ है। क्या समय का छोटे-से-छोटा भाग उसको क्षीण करता हुआ नहीं बढ़ रहा है आगे को?"

यशोधरा अधरों पर दीर्घ श्वास और छाती पर हाथ लेकर दिशा-विदिशाओं में अधीरता से देखने लगी।

"धीरज को प्राप्त होओ यशोधरे! यह सृष्टि का नियम है, एक के लिये नहीं, सभी के लिये है। फिर इसका क्या भय, क्या दुःख?"

यशोधरा ने कुछ चकित होकर सिद्धार्थ को देखा।

"हाँ-हाँ, मेरे वे शोक, चिंता, अश्रु, निःश्वास, जागरण और संशय के क्षण अवसित हो गए!"

यशोधरा ने और भी स्तब्ध होकर युवराज पर दृष्टि गड़ाई।

"क्या देख नहीं रही हो? जहाँ अंधकार विकल करता था, आज वहाँ प्रकाश की खोज के लिये उत्साह उत्पन्न हो गया। जिन आँखों में संसार की नश्वरता के आँसू थे, वे शाश्वत चिरंतनता के दर्शन के लिये जागरण से भर उठी हैं। हे यशोधरे! परिताप के पीछे अनंत शांति, इस अंधकार के पीछे अखंड ज्योति!"

"तुम्हारी प्रसन्नता में मैं अपनी समस्त वेदना भूल गई। भगवान्

बड़े सदय हैं। आज मेरी प्रार्थनाएँ फलवती हुईं।" यशोधरा ने प्रसन्नानन से कहा।

"परंतु यहाँ बैठे-बैठे कुछ नहीं हो सकता सुंदरी! कुछ पाने के लिये कुछ छोड़ना ही पड़ेगा।"

यशोधरा के प्रणव-पीत मुख पर की भौंहों में बल पड़े--"क्या, क्या, मैं फिर काँप उठी हूँ। तुम्हारा स्पष्ट अर्थ क्या है?"

"मुझे जाने दो।"

"कहाँ?" यशोधरा ने उनका हाथ पकड़ लिया।

"दूर, जगत् के संघर्ष से दूर, एकांत में।"

"क्यों? किसलिये?"

"शुद्ध सत्य की शोध के लिये।" बड़े आशा-भरे हृदय से युवराज बोले—"मैं उसका अनुसंधान करूँगा, वह मुझे मिलेगा। पथ और जनपदों से दूर एकांत में मैं उसके पदांक खोजूँगा। गहन और शून्य वन-पर्वतों में मैं उसकी छाया का छोर पकड़ूँगा।"

"नहीं, किसी प्रकार नहीं। मैं जाने न दूँगी।" अत्यंत अधीर होकर यशोधरा बोली।

"यह तुम्हारा तुच्छ मोह है। सारा संसार जरा, व्याधि और मरण से परितापित है। मैं उसकी शांति के उपाय ढूँढने जा रहा हूँ। तुम्हें पति को इस महान् प्रयास पर उत्साहित करना उचित है, या इस प्रकार उसके पथ को रोक लेना?" सिद्धार्थ बोले।

"युवराज, तुमने मुझे जीवन-मरण की संगिनी बनाया है, इसके लिये पवित्र प्रतिज्ञा की है। तुम मुझे छोड़ नहीं सकते।"

"सातों प्राचीरों के तोरण स्वतः ही खुल गए हैं यशोधरे! मैंने चारों निमित्तों को देख लिया है। अब कौन मुझे बंधन में रख सकता है?"

"मुझे भी अपने साथ ले चलो।"

"नहीं, यह असंभव है।" सिद्धार्थ जाने लगे।

"शिशु के बड़े होने तक अभी नहीं जाने पाओगे।" यशोधरा ने उठकर जाते हुए सिद्धार्थ का हाथ पकड़ लिया।

दासियों की नींद टूट गई थी कोलाहल सुनकर, पर वे आँखें बंद किए ही, नींद का बहाना कर पड़ी रहीं।

"नहीं यशोधरे! अपने स्वार्थ का त्याग करो। सारा जगत आकुल तृष्णा से मेरी ओर देख रहा है, मैं उसकी तृप्ति के लिये अमृत की खोज में जा रहा हूँ, जाने दो।"

"जा रहा हूँ?" रुदन के स्वर में यशोधरा ने पूछा।

"हाँ, शीघ्रातिशीघ्र। मुझे पथ के लिये कुछ भी संग्रह करना नहीं है।" युवराज ने कहा।

यशोधरा ने दासियों को उठाते हुए कहा—"और तुम क्या जाग नहीं सकी हो, उठो, उठो, युवराज जा रहे हैं। रोको उन्हें, न जाने दो।

दासियाँ आँखें मलती हुई उठीं, और घबराकर बोलीं—"क्या है युवराज्ञी!"

"जाओ, तुममें से एक जाकर महाराज को सूचित करो। कहो, युवराज न-जाने कहाँ को जा रहे हैं।" यशोधरा ने कहा।

सिद्धार्थ निकट ही खड़े-खड़े हँस रहे थे।

यशोधरा कहती जा रही थी—"दूसरी जाकर महारानी को सूचित करो। जाओ-जाओ, दुर्ग के प्रहरी सचेत हो जायँ, और द्वार अवरुद्ध। शीघ्रता करो।"

युवराज ने हँसकर जाती हुई दासियों को रोक लिया। उन्होंने यशोधरा से कहा—"क्या हो गया तुम्हें? ऐसी पगली-सी क्या हो गई तुम? अभी थोड़े जा रहा हूँ मैं? महाराज से और महारानी से परामर्श करना है, और उनकी आज्ञा लेनी है।"

यशोधरा को कुछ धीरज हुआ।

"जाओ, विश्राम करो। दासियो! तुम भी। मैं अपने कक्ष में जाऊँगा।" कहकर युवराज अपने कक्ष को चले गए।

यशोधरा के मन में शांति कहाँ? उसने दासी से पूछा—"रात कितनी बीत गई?"

एक दासी बाहर जाकर आकाश में ग्रहों की स्थिति देख लौटी, बोली—"अभी आधी रात है।"

सब सोने लगे, पर यशोधरा की आँखों में नींद कहाँ? उसने कुछ ही देर पश्चात् एक दासी को उठाकर कहा—"जा, देख आ दासी, युवराज क्या कर रहे हैं। कहीं चले तो नहीं गए?"

"जायँगे कहाँ? इस शून्य और तम की भरी रात में?" दासी बोली।

"यह मैं भी जानती हूँ। पर मेरा दुर्बल मन आशंकाओं से भर गया है। तुम्हें मेरे ऊपर दया करनी चाहिए दासी!"

दासी ने हाथ जोड़े—"ऐसी बात आप क्या करती हैं स्वामिनी, हम आपकी सेविका हैं।" वह युवराज के कक्ष को चली गई।

युवराज संकल्प-विकल्पों में लहराते-डूबते जाग ही रहे थे अपने कक्ष में। बाहर कुछ आहट पाकर बोले—"कौन है?"

"मैं हूँ दासी। युवराज्ञी ने भेजा है मुझे आपके पास।" घबराकर दासी बोली।

"किसलिये?"

"केवल देख आने के लिये।"

हँसने लगे सिद्धार्थ।

दूसरे दिन भोर होते ही युवराज महाराज के सामने जाकर बोले—"महाराज, मैं चारों निमित्त देख चुका हूँ।"

"चौथा निमित्त भी?" बड़े आश्चर्य में महाराज ने पूछा।

"हाँ महाराज !"

सिर पीट लिया महाराज ने ।

"दुःख का अवसर ही क्या है महाराज ! निमित्तों के दर्शन से आपके पुत्र का कुछ भी अहित नहीं हुआ ।"

"तुमने चौथा निमित्त देखा ? कहाँ देखा ? क्या देखा ?" बड़ी दीनता और दुःख के स्वर में शुद्धोदन ने पूछा ।

"यहीं देखा महाराज ! बड़ा सौम्य और शांत रूप । इतने वर्षों से जो मेरा हाथ खींचकर इस राजमहल में से बाहर निकाल लेना चाहता है, वही है महाराज !"

"हैं ! हैं ! तुम यह क्या कह रहे हो ?" कहकर सिद्धार्थ का हाथ पकड़ लिया उन्होंने ।

"मैं भिक्षु बनकर वन और पर्वतों में निवास करना चाहता हूँ ।"

शुद्धोदन ने युवराज के अधरों पर हाथ रख दिया "नहीं, नहीं, तुम हमारी वृद्धावस्था के आलोक हो ।"

"सारे जगत् पर वृद्धावस्था मँडलाई हुई है । सारा जगत् अंधकार में व्याप्त है । मैं आपके लिये ही नहीं, सबके लिये प्रकाश को खोज लाऊँगा ।"

"युवराज ! सिद्धार्थ ! तुम्हें हमारा त्याग उचित नहीं है । तुम्हारी यह अवस्था योग-वैराग्य के लिये नहीं है ।"

'जब यौवन जरा से दलित होकर अंग क्षीण हो जायगा, तब फिर क्या हो सकता है । मेरा आत्मसंकल्प स्थिर है महाराज ! अब वह किसी प्रकार किसी से विस्मृत नहीं किया जा सकता ।"

"हाय ! तुम्हारा यह कोमल शरीर कैसे विजन के कष्टों को सहन करेगा ?"

"निरंतर अभ्यास से पिताजी ! हमारे अभ्यास ने ही द्वंद्वों में अंतर उपजाया है ।"

"तुम्हारे क्या अभाव है? राज्य है, राजकोष है, राजसेवक हैं। सर्वगुण-संपन्न, सुलक्षणा युवराज्ञी हैं, देवकुमारों-सा कांति-युक्त पुत्र भगवान् ने तुम्हें दिया है। माता-पिता हैं, सदैव तुम्हारे सुख के लिये क्रियाशील, भाई-बंधु हैं सेवा और सहायता के लिये।"

"मैं अपना सुख नहीं चाहता महाराज! मैं तो प्राणि-मात्र के सुख के लिये विकल हूँ। ये राज्य और संबंध सब क्षणिक हैं, झूठे हैं। मैं उस अनंत सुख को खोजना चाहता हूँ, जिसे पाकर फिर और किसी वस्तु की तृष्णा न रहेगी।"

"वहाँ जो कुछ तुम चाहते हो, मैं यहीं दूँगा।"

"देंगे आप? तब मैं यहीं रहूँगा।"

"हाँ, दूँगा।" आशा में भरकर महाराज बोले।

"दीजिए, तब जरा-विहीन यौवन दीजिए, रोग-मुक्त काया दीजिए, और मृत्यु-रहित जीवन। दे सकते हैं आप?"

"कौन दे सकता है, हाय तो प्रकृति का नियम है।"

"बस, तब हो गया महाराज! बल और वैभव जिस सुख को क्रय नहीं कर सकता, मैं उसी की खोज में जा रहा हूँ। आप अब मुझे बंधन में नहीं रख सकते। ये सातों दीवारें आज मेरे सामने एक-एक ईंट होकर गिर पड़ी हैं।"

शुद्धोदन रुदन करने लगे—"हा वत्स! तुम्हारा मुख देखकर—" उनका कंठ अवरुद्ध हो गया।

उस करुण वातावरण में बड़े धीरे पगों से प्रजावती ने प्रवेश किया। पति को देखकर उसकी आँखें भी अश्रु-पूर्ण हो गईं। बड़े स्नेह-मंद्र स्वर में उसने कहा—"युवराज!"

"हाँ महारानी!" पीठ किए हुए सिद्धार्थ बाहर मुक्त प्रकृति को देख रहे थे। उसी प्रकार बोले।

"तुम क्या करना चाहते हो?"

"जो हाथ अंधकार-प्रकाश, विकास-विनाश, मिलन-विरह, दुःख-सुख और जन्म-मरण का चक्र चला रहे हैं, उनको पकड़ना चाहता हूँ। यदि मेरी साधना सफल हुई, तो तुम धन्य होओगी। मेरे पथ में बाधा न दो।" सिद्धार्थ ने माता-पिता दोनो के चरणों का स्पर्श किया—"मुझे प्रसन्न मन से आशीर्वाद देकर बिदा करो।"

प्रजावती उच्च स्वर से रोने लगी।

माता के आँसू अपने उत्तरीय से पोंछते हुए सिद्धार्थ ने कहा—"कैसा तुच्छ स्वार्थ है तुम्हारा ?"

प्रजावती ने उनके कंधे पर हाथ रखकर कहा—"अभी न जाओ, अपने पुत्र के बड़े होने तक न जाओ।"

"विचार बहुत दृढ़ होकर बहुत दूर चला गया है। कर्म को उसका अनुसरण करना ही पड़ेगा। आयु के प्रत्येक क्षण की चोट से जीवन की संधियाँ टूटती चली जा रही हैं। मैं अब सो नहीं सकता। मैं अब जाग्रत हूँ, और बोधितत्त्व को प्राप्त कर सारे संसार को जगाऊँगा।" सिद्धार्थ बाहर की ओर चले गए।

महाराज ने कहा—"देखो, देखो महारानी ! हमारा युवराज अभी तो नहीं चला जायगा !"

आँसुओं के वेग को थामकर महाराज राजसभा में गए, और उन्होंने दुर्ग में चारों ओर के प्रहरियों को अत्यंत सावधानी से काम करने का आदेश भिजवाया।

महारानी ने युवराज को कक्ष में जाते हुए देखा। उनका अनुसरण किया उसने। एक दासी से बातें कर रहे थे वह।

दासी—"आप कहाँ जा रहे हैं ?"

युवराज—"सभी तो जा रहे हैं, सब विनाश की ओर, सब मरण की दिशा में। यौवन और विकास केवल एक चमक है। जिस क्षण उपजती है, उसी में मिट जाती है।"

दासी—"महाराज और महारानी को दुःख देना उचित नहीं आपको, और कुछ नहीं जानती मैं। सब सुना मैंने। और फिर वह भोली-भाली युवराज्ञी और वह नवजात कुमार! युवराज! बड़े कठोर हो गए तुम, किसी की दया-माया नहीं तुम्हें। ये सब तुम्हारे जाने पर किसके आधार पर जिएँगे?"

युवराज—"दासी, मृत्यु का कोई निश्चय नहीं है, इस बात को जानती हो न तुम?"

दासी—"हाँ।"

"कोई मनुष्य किसी समय भी मृत्यु को प्राप्त हो सकता है।"

"हाँ"

"मैं अपवाद नहीं हूँ। युवराज, महाराज, सम्राट्, कोई भी अपवाद नहीं होता। जाऊँगा ही, केवल एक मृत्यु रोक सकती है, और कोई नहीं। आज न जाऊँगा, यह निश्चय है।"

दासी चली गई। मार्ग में उसे जाती हुई महारानी मिलीं। उसने उनका अनुसरण किया।

कुछ क्षण पश्चात् छंदक ने प्रवेश किया सिद्धार्थ के कक्ष में।

"आओ छंदक! निमित्तों का भेद तुमने खोला मुझ पर। मानसिक बंधन सब टूट गए हैं—ये द्वार भी खुल जायँगे।"

सिद्धार्थ के हाथों में छंदक ने एक अँगूठी रक्खी।

"क्या है यह?" पूछा उन्होंने।

"असित ऋषि के शिष्य ने यह अँगूठी आपको दी है। बहुत सावधानी से छिपाकर इसकी रक्षा करने को कहा है। यह आपके काम आवेगी। मैं रात उन्हें पहुँचाने गया था।"

"यह किस काम की है मेरे?"

"यह राजमुद्रिका है। इसे दिखाकर प्रहरियों ने उनके लिये द्वार खोल दिए थे।"

"मेरे लिये भी खोल देंगे?"

"हाँ, इसे दिखाने पर।"

"तुम धन्य हो छंदक! तुम मुझे भी पहुँचा दोगे इस कारागार के बाहर?"

"महाराज—"

"महाराज कुछ न कहेंगे। होनहार प्रबल है। तुम पाँचवें निमित्त हो।"

"सेवक को क्या आज्ञा है?"

"शीघ्र बताऊँगा छंदक!"

युवराज के पुत्र-जन्म के सातवें दिन की बात है। प्रभात-समय एक उद्बोधन-गीत ने उनकी नींद तोड़ी।

कोई गायिका गा रही थी, मनोहर तन्मयता के साथ—

विश्व का हरो वेदना भार,
दिशाओं में है हाहाकार।
रूप का जरा, जन्म का मरण,
कर रहे हैं क्षण-क्षण अनुसरण।
एक छाया का है आवरण,
स्वप्न है सारा खेल असार,
विश्व का हरो वेदना-भार।
स्वार्थ-रत मानव, हीन विवेक,
एक का शत्रु हुआ है एक।
व्याप्त सर्वत्र, दुःख व्यतिरेक,
खोल दो अब करुणा के द्वार।
विश्व का हरो वेदना-भार।

"कौन गा रहा है यह?" जान पड़ता है, केवल मेरे ही उद्देश्य से।" युवराज ने बड़ी एकाग्रता से वह गीत सुना। एक अभूतपूर्व

उत्साह उनके हृदय में भर गया। उनके मुख से सहसा निकल पड़ा—"सिद्धार्थ, तू आज जायगा।"

आज पौत्र के जन्म के सातवें दिन महाराज ने विशेष उत्सव का आयोजन कर रक्खा था। प्रभात-समय से ही राजभवन में चहल-पहल आरंभ हो गई थी।

गायिका गा ही रही थी अभी—

बुलाता है तुमको वन-प्रांत,
मनोहर प्रकृति, स्तब्ध एकांत।
दीन-दुखियों की राशि अशांत,
हुई है श्रांत पुकार-पुकार।
विश्व का हरो वेदना-भार।

युवराज ने कक्ष के बाहर आकर देखा उस गायिका को। संकेत से बुलाया अपने पास।

गायिका स्मितानन से दौड़ती हुई चली आई युवराज के पास, और हाथ जोड़कर खड़ी हो गई।

"बड़ा मधुर गीत गाया तुमने ?"

गायिका ने शील के भार से मस्तक विनत किया।

"कदाचित् आज ही प्रथम बार ?"

गायिका ने सम्मति व्यंजित की मूक रहकर ही।

"तुम नवीना तो नहीं हो, तुम्हें देख रक्खा है बार-बार। फिर आज ही तुमने गाया। नया सीखा है यह गीत ?" युवराज ने पूछा।

"नहीं युवराज ! बहुत दिनों का कंठ किया हुआ है।"

"किसी ने कहा था इसे गाने को ?"

"नहीं, केवल अंतःप्रेरणा युवराज !"

"अभी और गाने को कुछ शेष है गीत ?"

"हां।"

'गाओ, गाओ, बड़ा सुंदर है !"

गायिका फिर गाने लगी

प्रिया का तज दो यह भुज-पाश,
राज का अंत:पुर-आकाश।
जन्म के शुद्ध प्रबोध प्रकाश
बुद्ध बन जाओ राजकुमार,
विश्व का हरो वेदना-भार।

"सारा संशय गया ! मैं ही लक्ष्य हूँ !"

"मैं नहीं जानती।"

"मेरे पथ पर और भी आलोक बढ़ा दिया तुम्हारे गीत ने। मेरे मन में अटूट विश्वास उत्पन्न हो गया, मैं सफल होऊँगा उसे प्राप्त करने में। मेरे सारे बंधन छिन्न हो गए, और मैं संसार के इन कोटि-कोटि प्राणियों की वेदना हरण करूँगा, जो बड़ी आशा से मेरी ओर देख रहे हैं।" कहकर युवराज ने अपने गले का रत्नहार निकालकर उस गायिका को उपहार में दे दिया।

गायिका कृतकृत्य होकर चली गई।

सिद्धार्थ को ऐसा विदित होने लगा, जैसे वह दुर्ग उनका प्रवास है। न-जाने किस अज्ञात-अपरिचित शून्य एकांत को वह अपना घर समझने लगे। बहुत दिनों के अंतर पर घर को लौट जाने का जो हर्ष किसी को होता है, वैसा ही वह अनुभव करने लगे।

दिन-भर बड़ी प्रसन्न मुद्रा में वह दुर्ग के एक-एक लता-वृक्ष, एक-एक पशु-पक्षी से मूक बिदा लेने लगे। इष्ट-मित्र, भाई-बंधु, माता-पिता उनके हर्ष और उमंग को देखकर समझने लगे कि सिद्धार्थ के मन में पुत्र का मोह उत्पन्न हो गया।

छंदक के पास जाकर सिद्धार्थ ने कहा — 'छंदक, वह शुभ घड़ी आ गई है आज।"

"कौन-सी ?"

"जब तुम मेरी सहायता करोगे। तुमने वचन दिया है, इसके लिये।"

छंदक उदास होकर मूक हो गया।

"मेरे प्रिय घोड़े कंथक को लेकर तुम दुर्ग के बाहर मेरी प्रतीक्षा करो बंधु ! संशय-भय सब दूर कर दो। बड़े उज्ज्वल भविष्य ने मुझे पुकारा। मैंने उसे सुना और समझा, और आज मैं उसके निकट चला जाऊँगा। प्रत्येक बंधन ने खुलकर मेरे मार्ग पर सूत्र रक्खा है, और प्रत्येक ठोकर मेरे स्पर्श से पुष्पों में परिणत हो गई ! बड़े सुख का दिन है आज का छंदक ! तुम बोलते क्यों नहीं ?"

छंदक ने डबडबाई हुई आँखों से युवराज की ओर देखा।

"मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा। जहाँ जहाँ जाओगे, वहाँ-वहाँ साथ रहूँगा।"

"कुछ दूर तक चलोगे छंदक अवश्य। जाओ, मेरा कहना मानो।" कहकर युवराज ने उसे बिदा किया।

धीरे-धीरे रात्रि उतरी उस उत्सव से मुखरित राजभवन पर। सहस्रों दीप-शिखाओं से प्रासाद उद्भासित हो उठा। नृत्य-गीत और आमोद-प्रमोद की अविराम लहर बहने लगी।

निमित्तों का रोक-टोक कुछ थी नहीं अब। राज्य के समस्त दीन-दुखियों को राज दंपति मुक्त हस्त से अन्न-वस्त्र, रत्न-धन दान कर रहे थे।

भोजन के उपरांत युवराज का कक्ष गायिकाओं से भर गया। वे अपने हाव-भाव, नृत्य-मुद्रा, गीत-वाद्य से नाना प्रकार के रसोद्दीपन की चेष्टाएँ कर रही थीं सिद्धार्थ के मन में। बिदाई के अनुराग में विभक्त सिद्धार्थ अवश्य ही उनके परिश्रम में मनोरंजित हो रहे थे। नर्तकियाँ उन्हें आकृष्ट समझकर उत्साह-पूर्ण हो उठीं।

रात के दूसरे प्रहर के आरंभ होते-न-होते गायिकाओं ने देखा, युवराज गहरी नींद में सो गए।

एक बोली—"जिनका मनोरंजन कर रही थीं, वह तो सो गए! हो गया अब।"

दूसरी ने कहा—"हाँ, अब व्यर्थ के परिश्रम से क्या लाभ? यही गीत-नृत्य अब उनके विश्राम का बाधक हो सकता है। हम भी तो बहुत थक गई हैं।"

अत्यंत विश्रांता थीं वे। सिद्धार्थ की नींद ने तो सहसा विश्राम का जाल डाल दिया उन पर। उन्हीं वस्त्र और अलंकारों में सो गई वे, भूमि पर के बिछावन में। यंत्रों को भी ठीक प्रकार से सँभालकर रखने की सुधि न रही उन्हें। वे गहरी नींद में अचेत हो गईं और नाक-मुख से ऊँचे-नीचे आधारों पर के षड्ज और गांधार बजाने लगीं।

सिद्धार्थ की आँखों में नींद कहाँ? नेत्र मूँदकर मानसिक जगत् में वह अपने निष्क्रमण का मार्ग निकाल रहे थे। आँखें खोलकर उन्होंने देखा, सब गायिकाएँ चेतना खोकर बेसुध पड़ी हैं।

धीरे-धीरे उठे वह। कक्ष पर दृष्टि डाल अपने मन में बोले—"कैसा भयानक दृश्य है। अभी कुछ समय पहले ये अपने अंग-विक्षेप और कटाक्ष-निक्षेप से अपनी रमणीयता बढ़ा रही थीं। पर अब इस समय कोई विवसना है किसी की कबरी ने बिखरकर उसका डरावना रूप बना दिया। किसी के मुख से लार चू रही है, और अनेक पसीने में लथपथ हैं। कैसा बीभत्स दृश्य है! किसी के दाँत कटकटा रहे हैं, और किसी की नाक बज रही है। ओह! क्या इसी शरीर पर हमने मनोहारी रूप की कल्पना की है! नहीं, नहीं। और भी यदि सूक्ष्म दृष्टि से हम देखें, तो क्या यह काया मूत्र-पुरीष, कफ-थूक, रक्त और हड्डियों के समुच्चय का नाम नहीं

है। मानव! तू भूल गया! जीवन के उंतीस वर्ष एक रात के स्वप्न-से काल की तरंगिणी में डूबकर न-जाने कहाँ को बह गए!... अब नहीं! यह कैसी निस्तब्ध रात्रि है! अब जाना ही उचित है मुझे।"

सिद्धार्थ कक्ष के बाहर चले। मार्ग में सोचने लगे—"उसे भी देख लूँ जाते-जाते। न-जाने कब फिर भेंट हो। होगी भी या नहीं? नहीं जानता।"

प्रसूति गृह के निकट जाकर विचारने लगे—"नहीं, कोई जागता होगा। देख तो लूँ।" द्वार खुला था। बाहर ही से झाँका—सो रही है, स्वप्नों में खोई हुई! नहीं जानती, क्या हो रहा है।... हैं, यह क्या! मेरे मन में मोह बढ़ने लगा। शिशु को देख लेने की इच्छा हो गई! यशोधरा से दो बातें कर लेने की कामना उत्पन्न हो गई। नहीं, नहीं, नहीं। मेरा संकल्प दृढ़ है, और इस रात की छाया में मेरे सारे बंधन शिथिल हो गए! तात-मात, सुत-वनिता, बंधु-बांधव, दास-दासी, सबसे बिदा! कपिलवस्तु से बिदा! जन्म-भूमि से बिदा। अब सारी धरती मेरी जन्म-भूमि हो उठेगी, और मेरे प्राण समस्त विश्व में फैल जायँगे।"

चल दिया वह शून्य और अनंत का पथिक। राजभवन के बाहर मार्ग पर आया। उसने पीछे फिरकर फिर नहीं देखा।

"सात द्वारों तक मेरा मार्ग निश्चित है। यह मुद्रिका मुक्त कर देगी उन्हें। उसके पश्चात्?—जिधर कंथक ले जायगा।"

एक-एक कर सातों द्वार खुल पड़े! प्रहरी ऐसे मोह में पड़ गए थे। उन्होंने जानेवाले को नहीं पहचाना, केवल अँगूठी पहचानी।

दुर्ग के बाहर पहुँचते ही कंथक उच्च स्वर से हिनहिना उठा।

"हाँ, मैं आ गया कंथक!"

छंदक बोला—"युवराज!"

"अब कैसा राज और कैसा युवराज छंदक ! इस वेश के लिये कहते होगे। यह भी उतर जायगा। अब कोई क्षण गँवाना नहीं है, चलो।" कहकर सिद्धार्थ ने अश्वारोहण किया। आओ, तुम भी बैठ जाओ।"

छंदक भी घोड़े के पिछले भाग में बैठ गया।

संकेत पाते ही कंथक हवा से बातें करने लगा।

---

१०. अनोमा-तट पर

रात-ही-रात में कंथक शाक्य-राज्य और वैशाली-राज्य को अतिक्रमण कर मल्ल-राज्य की सीमा पर जा पहुँचा। अनोमा-नदी मार्ग में पड़ी। कंथक लाँघकर पार हो गया उसके। अनोमा के उस तट पर पहुँचकर सिद्धार्थ ने घोड़ा रोक दिया, और दोनो उतर गए। वे कपिलवस्तु को लगभग ४१ कोश पीछे छोड़ आए थे।

बालुका-राशि पर खड़े होकर सिद्धार्थ ने कंथक की पीठ थपथपाई—"तुमने अपने प्राणों को तुच्छ समझकर जिस वेग से मुझे यहाँ पहुँचाया, वह स्तुत्य है। बहुत दूर लाकर तुमने मुझे रख दिया। कपिलवस्तु के जो कर्मचारी मुझे ढूँढ़ने यहाँ आवेंगे, उनसे पहले ही मैं उनके परिचय से बाहर होकर किसी एकांत में चला जाऊँगा।"

छंदक की आँखों से तड़ातड़ आँसू गिरने लगे। वह हाथ जोड़कर खड़ा था सिद्धार्थ के सामने।

"क्यों छंदक, इस सुहावनी प्रभात-बेला में तुम क्यों मोह से भर उठे हो? लो, ये मेरे अलंकार। इन्हें लेकर कपिलवस्तु को लौट जाओ, और जाकर मेरे जाने के समाचार दो, सारी राजधानी निस्सीम शोक-सागर में डूबी होगी।"

"मैं आपके ही साथ चलूँगा युवराज!"

"तुम फिर भूले छंदक! युवराज कपिलवस्तु में है।" सिद्धार्थ ने अपने मस्तक का मुकुट निकालकर छंदक को देते हुए कहा—"लो, युवराज बड़ा होकर इस मुकुट को पहनेगा।"

छंदक ने कंपित करों में वह मुकुट सँभाला।

सिद्धार्थ ने कमर से खड्ग निकालकर कहा—"और लो यह खड्ग।" पर रुक गए—"ठहरो, यह केश-पाश किस लिये।" उन्होंने कंधे पर लटकती हुई लटें उस खड्ग से काट डालीं। अब इनसे कैसा शृंगार?" उन्होंने खड्ग भी छंदक को दे दिया, और अपने अंग पर के आभूषण उतारने लगे। छंदक उच्च स्वर से रोकर उस वन की शांति को निनादित करने लगा।

"तुम पागल हो गए क्या छंदक! मैं अकेला ही जाऊँगा। तुम्हें कपिलवस्तु को ही लौट जाना उचित है। जाओ, जाकर महाराज और महारानी को मेरे समाचार दो। उन्हें धीरज बँधाना, कहना सिद्धार्थ कुछ ही समय में, ज्ञान प्राप्त कर उनके दर्शन करेगा। जाओ, ये आभूषण उन्हें दे देना। कंथक को भी वहाँ पहुँचाना है।" कहकर सिद्धार्थ ने छंदक को अपने आभूषण सौंपे।

छंदक सब वस्तुएँ सँभालने लगा।

"तुम बहुत समझदार हो छंदक। तुम सेवक होकर नहीं सदैव ही मेरे सहचर होकर रहे हो। विश्वास रक्खो, मैं जिसकी खोज में जा रहा हूँ, यदि वह मुझे मिल गया, तो उसमें तुम्हारा भी भाग निश्चित है।" कहकर उन्होंने पैर का उपानह भी खोल दिया। छंदक जाने के लिये प्रस्तुत हुआ। उसने सिद्धार्थ के चरणों पर अपना मस्तक रख दिया। वह सिसक-सिसककर रोने लगा।

"सारी कपिलवस्तु इस समय मुझे तुममें ही केंद्रीभूत दिखाई दे रही है। अभी तक तुम्हारे साथ रहने से गृह-त्याग की भावना प्रबल नहीं हुई थी।' कहते-कहते उस वीतराग नवीन संन्यासी का भी गला भर आया। कुछ क्षण तक न बोल सके वह।

छंदक उसी प्रकार उनके चरणों पर पड़ा था।

सिद्धार्थ ने उसको हाथ पकड़कर उठाया, उसे छाती से लगाया.

और बिदा देते हुए कहा—"जाओ, उसी वेग से कंथक पर चढ़कर जाओ, जिस वेग से हम आए हैं। तुम्हें बिदा करते हुए मैं कपिल-वस्तु का अंतिम सिरा छोड़ता हूँ। जाओ, तुम्हारा पथ मंगलमय हो। माता-पिता से कहना मेरी कोई चिंता न करें। यशोधरा! यशोधरा!...नहीं छंदक, कुछ नहीं, वह स्वयं बड़ी समझदार है। जाओ, छंदक!"

छंदक चला गया। पग-पग पर मुख मोड़-मोड़कर वह सिद्धार्थ की ओर देखता ही रहा।

सिद्धार्थ भी एक वृक्ष के सहारे बैठकर उसे जाते हुए देखने लगे। अंत में छंदक दूरी में धूमिल होकर आँखों की ओट हो गया। रात-भर के जागरण और श्रम से पराजित सिद्धार्थ की आँखें लग गईं। वह स्वप्न में देखने लगे. यशोधरा ने आकर उनका हाथ पकड़ लिया।

"छोड़ दो यशोधरा मेरा हाथ। तुम मेरे ही आधे अंग! तुम मेरी बाधा बनोगी?" सोते-सोते ही सिद्धार्थ बोल उठे। अचानक नींद खुल गई! उठकर फिर इधर-उधर पुकारने लगे—"यशोधरे! यशोधरे!" हँस पड़े! "एक स्वप्न, जिसे हम केवल एक माया, एक निस्सारता समझते हैं, कैसा भ्रमित कर देता है।...यहाँ कहाँ है यशोधरा! जाग उठी होगी अब! ढूँढ़ रही होगी मुझे? सारा जगत् कल्पना में सोया हुआ है मेरे ही मन में। क्या छोड़ा और क्या ग्रहण किया मैंने, नहीं जानता। यशोधरे! तुम्हें कहीं नहीं परित्यक्त किया। तुम मेरे ही अंग में हो। यही बड़ी सुखद कल्पना है और आगे को मेरा मार्ग खोलने में मेरी संगिनी और मेरी सहा-यिका है। अब किधर? वह चारो दिशाओं में पैनी दृष्टि कर देखने लगे—"कोई मनुष्य है इधर।" वह दौड़कर उसके पास जा पहुँचे।

वहाँ जाकर देखा, एक मनुष्य बैठा है, बड़ा मैला, काला और कुरूप। कुछ सी रहा था वह। सिद्धार्थ का तेजस्वी रूप देखकर उठ खड़ा हो गया।

सिद्धार्थ ने पूछा—"कौन हो तुम ?"

"मैं एक व्याध हूँ। वह देखो, मैंने भूमि पर जाल फैला रक्खा है। एक स्थान पर वह टूट गया है। इस वस्त्र को जोड़कर मैं उसमें थिगली लगाने का विचार कर रहा हूँ। देखो, अभी चिड़ियाँ फँसती हैं।"

"चिड़ियों को पकड़कर क्या करोगे ?"

"जीविका! सुंदर युवक, यह पेट की ज्वाला शांत करूँगा। कुछ चिड़ियों को बेचूँगा, जो नहीं बिकेंगी, उन्हें भूनकर खाऊँगा और अपने परिवारवालों को खिलाऊँगा।" व्याध ने कहा।

सिद्धार्थ के मुख पर बड़ी अरुचि प्रकट हुई। उन्होंने बड़ी दीनता से कहा—"किसी और उद्योग से जीविका नहीं चला सकते बंधु! कोई और वस्तु खाकर पेट नहीं भर सकते ?"

"बड़ी मर्म वाणी है तुम्हारी। क्या करूँ ? और कोई उद्योग सीखा नहीं। बचपन से ही माता-पिता की यही वृत्ति देखी और सीखी है। तुम्हारी आज्ञा का पालन करने की इच्छा होती है, पर विवश हूँ।"

"मैं भी क्या कहूँ तुमसे। प्राण सबमें एक ही से हैं, पर ये निरीह मूक पक्षी, जिनमें प्रतिकार और सामना कर सकने की कोई क्षमता ही नहीं है, क्या इनकी पीड़ा और भी अधिक नहीं हो जाती ?"

"होगी। पर चिरकाल के अभ्यास से यह हमारा एक साधारण-सा कार्य हो गया है। बड़े मूल्यवान् वस्त्र धारण कर रक्खे हैं तुमने। मुख का सरूप और शरीर का गठन भी कह रहा है, तुम

कोई उच्च और संपन्न कुल-संभूत हो। इस वन में एकाकी विचर रहे हो, क्यों ? तुम अपने सेवक और साथियों से बिछुड़ गए हो ?"

"नहीं, मैंने जान-बूझकर ही यह निःसंगता धारण की है। मैं सद्योजात भिक्षु हूँ। हे व्याध ! तुम मुझे मेरी पहली भिक्षा दोगे ?"

गर्व-स्फीत मुख व्याध ने सिद्धार्थ की ओर देखा—"पहले यह बताओ, तुम्हें कौन-सा दुःख व्यापा जो भिक्षु हो गए।"

"मैंने देखा, मृत्यु के विष-भरे फण के ऊपर बैठकर मनुष्य जीवन का गीत गा रहा है। मैंने उस जगत को निस्सार समझा और उसे छोड़ दिया।"

"क्या भिक्षा चाहते हो तुम ?"

"यह कपड़े का टुकड़ा, जिसे तुम सी रहे हो।"

"इस मलिन और जीर्ण वस्त्र पर क्यों तुम्हारा लालच बढ़ा, तुम्हारे अंग पर तो ऐसा मूल्यवान् और उज्ज्वल कौषेय वस्त्र है। व्याध ने अचरज में भरकर कहा।

"ये वस्त्र मैं तुम्हें दे दूँगा।"

"सचमुच ?"

"तो क्या भिक्षु झूठ बोलता है ?" सिद्धार्थ ने कहा।

"अच्छी बात है। आज के दिन हिंसा स्थगित कर दूँगा मैं। उड़ जाने के लिये छटपटाती हुई चिड़ियों के भार से इन बहु-मूल्य वस्त्रों में सुसज्जित होकर घर लौटना कहीं सुंदर प्रतीत होता है। मुहल्ले के सब व्याध-बालक मुझे घेर लेंगे और मैं शपथ-पूर्वक कहता हूँ युवक, मेरी पत्नी पहचान ही न सकेगी बिना मेरे मुख खोले। पर तुम करोगे क्या इस वस्त्र से ?"

"एक छोटा टुकड़ा फाड़कर मैं उसका अधो वस्त्र बनाऊँगा। शेष कंधे पर डाल लूँगा उत्तरीय के लिये।"

"कुछ देर ठहरो, थोड़ा-सा रह गया है। पी लूँ इसे।" कहकर व्याध जल्दी-जल्दी पीने लगा।

सिद्धार्थ ने ऊपरी अंग के सब वस्त्र खोल दिए।

व्याध ने उन्हें वस्त्र देते हुए कहा—"कुछ देर ठहरो।" उसने निकट से कुछ मूँज उखाड़ी और उसकी एक पतली रस्सी बटकर उन्हें दी—"लो इसे कमर में बाँध लेना, फिर एक छोटी कौपीन से काम चल जायगा और तुम्हारे उत्तरीय के लिये पर्याप्त टुकड़ा बच जायगा।"

सिद्धार्थ को व्याध की बात रुचिकर हुई। वह एक वृक्ष की ओट में जाकर उस कपड़े में से एक टुकड़े की कौपीन धारण कर लाए। उन्होंने शेष धोती भी व्याध को दे दी।

व्याध ने उन राजसी वस्त्रों को पहना और कहा—"तुम्हें सरदी तो न लगेगी? नहीं तो यह अपना रेशमी उत्तरीय रहने दो अपने पास ही। मेरी प्रतिष्ठा बढ़ा देने के लिये तुम्हारे इतने वस्त्र पर्याप्त हैं।

"नहीं, ऐसे बहुमूल्य उत्तरीय को ओढ़ना इष्ट नहीं है मुझे। मैं शीति का दंश सहन करूँगा। क्या निरावृत बदन रहकर कुछ दिन पश्चात् न जीत लूँगा मैं उसे?"

"यह तुम जानो, व्याध ठग ले गया न कहो तुम कहीं फिर। यही समझकर मैंने तुमसे कहा भाई। अच्छा, मैं तो जा रहा हूँ। तुम्हारा ठिकाना क्या है?"

"जिधर ये पैर ले जायँगे, उधर पथ है। जहाँ रात्रि अंधकार कर देगी, वहाँ विश्राम और जो कुछ भिक्षा में मिल जायगा, वह अशन होगा।"

व्याध सिद्धार्थ की नंगी पीठ पर हाथ रखकर बोला—"जाड़ा तो न होगा रात को। आम्र-कानन में चले जाना, वहाँ पद्मा ब्राह्मणी का खरक है। सेंकने को आग और पीने को दूध मिल जायगा।

कहोगे तो अपने घर से रोटी भी पकाकर ला देगी, बड़ी अतिथि-परायणा ब्राह्मणी है वह। उधर ही गया है यह पथ। मैं ही पहुँचा देता तुम्हें, पर मुझे घर जाना है शीघ्र, अच्छा, चला मैं।"

व्याध चला गया। जाते-जाते बिना पीठ घुमाए ही फिर बोला—"यह रेशमी उत्तरीय रख लो नहीं तो।"

"नहीं भाई, जो दे दिया, फिर उसका लालच ही क्या?"

व्याध दौड़कर अदृश्य हो गया!

सिद्धार्थ चले। श्रांत और नंगे बदन। सूर्य की किरणें तीव्र हो चलीं। व्याध अपनी लाठी वहीं भूल गया था, प्रसन्नता के आवेश में। सिद्धार्थ ने सहारे के लिये उसे उठा लेना चाहा। हाथ रोक दिया बीच ही में—"पर इस पर मेरा अधिकार ही क्या। यह कितनी ही तुच्छ वस्तु क्यों न हो, इस पर उस व्याध ने अपना ममत्व स्थापित किया है। उसकी आज्ञा लिए बिना ही इसे ले लेना स्तेय है। वह कल यहाँ आकर अवश्य ही इसकी खोज करेगा।"

उसी प्रकार चले वह। उपानह-विहीन पैर! कभी कोई पग चले न थे वैसे। वन-पथ के कुश-कंटक चुभने लगे उनके सहज-कोमल पगों में। चार अंगुल की एक कौपीन और कंधे पर एक मलिन वस्त्र, जो बड़ी कठिनता से उनकी पीठ और छाती को ढकने में समर्थ था। सूर्य उनके नगे सिर पर चमकने लगे थे। कपिलवस्तु से वह अब तक प्रायः पूर्व दिशा की ओर ही चले जा रहे थे।

अपनी ही प्रेरणा से वह नवीन संन्यासी, सुख-वैभव से भरे हुए घर को छोड़ आया है। न-जाने क्या सोचता हुआ चला जा रहा है। उसके उन्नत मस्तक में विश्वास का बल है, उसकी मुट्ठी में एक दृढ़ निश्चय। वह शीत और उपवास के साथ युद्ध करने जा रहा है नंगे पैर और हाथ!

कुछ समय पश्चात् वह आम्र-कानन में पहुँच गए। भूख

लगने लगी थी अब उन्हें। वह स्थान बड़ा रमणीक ज्ञात हुआ उन्हें। एक आम के पेड़ की छाया में बैठ गए वह। धूप अच्छी न लगी।

निकट ही एक गोशाला में गाएँ रँभा रही थीं, बीच-बीच में। मनुष्य कोई भी नहीं दिखाई दिया वहाँ। दोपहर का समय था। शिशिर के जाल को काटकर वसंत-ऋतु पृथ्वी पर निकस उठने के लिये उतावली हो रही थी। पेड़ों पर पवन की मर्मर-ध्वनि और पवन में मधुभारवाही मक्षिका का गुंजन उस शून्य प्रकृति की उदासी को और भी अधिक बढ़ा रहे थे।

सिद्धार्थ का विचार-क्रम एक केंद्र में परिधि बनाने लगा। वह सोचने लगे—"कैसे स्पष्ट दो विभागों में बँटा हुआ है यह जगत्—सुख-दुख, आलोक-अँधेरा, जन्म-मृत्यु, शीत-ताप, आदि। ये दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। इनमें एक का कारण दूसरा है। इनको अलग अलग समझना, हमारी अशांति का उत्तरदाता है। धूप से त्रस्त होकर मैंने यह छाया खोजी है। इसका स्पष्ट अर्थ है मैंने शीत और ताप में अंतर समझा है। ताप के कष्टकर होने से शीत भी अवश्य सतावेगा।" सिद्धार्थ वहाँ से उठकर धूप में बैठ गए। फिर कुछ सोचने लगे।

कुछ समय के अनंतर एक प्रौढ़ा स्त्री वहाँ आई। वह सिद्धार्थ को वहाँ बैठा देखकर उनके पास गई और बोली—"यह भी कोई बैठने का स्थान है तुम्हारे ?"

"क्यों मा !" मधुरसिक्त वाणी में सिद्धार्थ ने पूछा।

"तुमसे पुत्र कहने की इच्छा होती है। वत्स, मेरा अर्थ है तुम यहाँ पर आकर बैठ गए। मेरे घर आते न। तुमने खाना नहीं खाया जान पड़ता है। मैं तुम्हें भोजन कराती। यहाँ भी यदि प्रातःकाल ही आ जाते, तो मैं घर से पका लाती।"

"कोई चिंता नहीं। कुछ शीतल जल पिला दो।"

"कुछ खाया है क्या ? तुम्हारे पास क्या कुछ भी नहीं है ?"

"नहीं।"

"कौन हो तुम ?"

"मैं एक भिक्षु हूँ।"

"क्या झोली और भिक्षा-पात्र भी नहीं है ?"

"झोली से क्या करना है। मुझे संग्रह इष्ट नहीं। केवल एक समय के लिये भीख माँगूँगा। इस वस्त्र के टुकड़े में।"

"ठहरो, मैं तुम्हारे लिये कुछ खाने के लिये लाती हूँ। पद्मा के खरक में कभी कोई भूखा-प्यासा अतिथि नहीं बैठा है।" कहकर पद्मा अपने घर गई, जो निकट ही गाँव में था। वह शीघ्र ही एक मिट्टी के बरतन में दही और एक पोटली में चिउड़ा ले आई। सिद्धार्थ के सामने रखकर बोली—"मैं पकाकर ले आती खाना, बड़ी देर हो जायगी, यह सोचकर यही ले आई। तुम्हें बड़ी भूख लगी है, ऐसा प्रतीत हुआ मुझे।"

सिद्धार्थ हँसकर बोले—"पर मैंने तो अभी नहाया ही नहीं है।"

"नहा लो, वह तो है कुआँ। रस्सी और कलश हैं वहीं पर। लोटा मैं ला देती हूँ।" पद्मा ब्राह्मणी ने लोटा लाकर दिया सिद्धार्थ को—"बड़ी कोमल और सुरक्षित देह है तुम्हारी भिक्षु। तुम्हारा अंग ऋतु और प्रहर के सामने खुला हुआ है, पर उनके प्रभाव उस पर दृष्टि गोचर नहीं हो रहे हैं। कौन मार्ग है तुम्हारा ?"

"मानसिकता में जानता हूँ। धरती पर नहीं पहचानता।"

पद्मा ने अबूझ-सी होकर फिर पूछा—"गुरु कौन हैं तुम्हारे ?"

"माता-पिता, उपाध्याय, मित्र, सबंधी आदि गुरुओं के अतिरिक्त और किसी को नहीं जानता।"

"दीक्षा नहीं ली किसी से ? मंत्र नहीं सुना ? मार्ग नहीं ज्ञात हुआ ?"

"नहीं।"

"घर पर क्या है ?"

"सब कुछ है। मैं शाक्यों का युवराज था। जन्म और मृत्यु के बंधनों में छटपटा उठा हूँ। मैं उनकी मुक्ति के उपायों की शोध के लिये छोड़ आया हूँ सब।"

"मैं पहले ही समझ गई थी। क्या हुआ ?" सिद्धार्थ के निकट आकर बहुत दबे स्वर में बोली—"क्या युवराज्ञी से कोई विवाद हो गया अथवा महाराज ने कुछ कह-सुन दिया ?"

सिद्धार्थ ने मुसकाते हुए कहा—"नहीं, इन दोनों में से कुछ भी नहीं।"

"फिर तुम्हें और क्या दुख हो गया ?"

"क्या बताऊँ ?"

"देखो युवराज, सुख और दुख ये केवल मन की कल्पनाएँ हैं। मुझे आश्चर्य है, तुम्हारे माता-पिता ने इस प्रकार निराधार और निःसंग भयानक वन में विचरने की आज्ञा कैसे दे दी ? तुम्हारी अर्धांगिनी ने क्यों तुम्हारा पथ नहीं रोक लिया ?"

"मैं रात के समय राजभवन छोड़कर चला आया। उस समय उनके ऊपर रात्रि के मोह की अचेतनता थी।"

"बहुत बुरी बात ! युवराज, माता-पिता की इस अवस्था में क्या तुम्हें ऐसा छल उचित था। हा भगवान् ! तुम्हारी पत्नी किस प्रकार तुम्हारे विरह-बाण को सहन करेगी। तुम लौट जाओ घर को। आज ही मैं तुम्हारी मार्ग-दर्शिका होकर चलूँगी।"

"सिद्धार्थ अब नहीं लौट सकता। प्रभात का उदीयमान रवि, उद्गम से निकली हुई तरंगिणी और वृक्ष से बिछुड़ा हुआ

पत्ता जैसे फिर नहीं लौट सकते, उसी प्रकार मैं सत्य के ज्ञान को प्राप्त करने के लिये घर से निकला हूँ, जब तक उसको साक्षात् न करूँगा, नहीं लौट सकता। मैं अपने निश्चय में अटल हूँ।" सिद्धार्थ ने कहा।

स्नान के अनंतर सिद्धार्थ ने भोजन किया।

पद्मा ने कहा—"अभी कुछ दिन यहीं रहो। फिर मैं तुम्हारे लिये कोई साथी ढूँढ़ दूँगी वैशाली के लिये। वहाँ अराड़कालाम एक बड़े सिद्ध महात्मा हैं। उनके आश्रम में तीन सौ शिष्य उनसे आत्म-तत्त्व की शिक्षा पाते हैं।"

"क्या वह जन्म और मृत्यु का रहस्य जानते हैं?"

"अवश्य ही।"

"क्या वह मुझे भी बता देंगे?"

"यह तुम्हारी लगन और साधना पर निर्भर है।"

"मा, मुझे आज ही जाना चाहिए उनके पास। मुझे अकेले कोई भय नहीं।"

"एक-दो दिन तो रहो यहाँ। मुझे तुम्हारी सेवा करने की बड़ी साध हो गई।"

"कल चला जाऊँगा।"

पद्मा ने गोशाला के भीतर घास फैलाकर उस पर एक कपड़ा बिछाया, एक चादर उन्हें ओढ़ने को दी। उसने वहाँ दीपक और अग्नि का प्रबंध किया। घर जाकर वह सिद्धार्थ के लिये पकवान बनाकर ले आई। आकर उसने देखा सिद्धार्थ भूमि पर पड़े हैं माथा पकड़कर। पद्मा ने पूछा—"क्या सो गए? मैं भोजन लाई हूँ। तुमने यह दीपक भी नहीं जलाया। तुमने धूनी भी चैतन्य नहीं की, जाड़ा लगता होगा।" पद्मा ने अग्नि की सहायता से दीप में शिखा उगाई।

सिर पकड़ते हुए सिद्धार्थ उठे—"मा, मेरे मस्तक में अत्यंत पीड़ा है। कदाचित् यही रोग है। मुझे रोग ने धर दबाया है। मैं तुमसे सच कहता हूँ। उंतीस वर्ष की इस अवस्था में आज ही रोगी हुआ हूँ। अभी कुछ ही दिन तो हुए हैं जब मुझे इसका परिचय हुआ। मैंने उसका रूप देखा और मुझे उसका नाम मिला। रूप अदृश्य हो गया और नाम मेरे मस्तिष्क में बस गया, धीरे-धीरे अंकुरित होने को। अवसर पाकर आज उसने मुझे लपेट लिया। जब तक उसकी कोई कल्पना न थी, वह न था।"

"मैं समझती हूँ खाना न खाने के कारण ही ऐसा हुआ है। कुछ खा लो, शरीर शांत हो जायगा।"

"बिलकुल इच्छा नहीं है।"

पद्मा ने सिद्धार्थ के माथे पर हाथ रक्खा।

"बड़ा हिम-शीतल स्पर्श है तुम्हारा मा।"

पद्मा ने सिर मला कुछ क्षण, उबल रहा था मानो, कहा उसने—"भोजन के सामने बैठो, रुचि जाग जायगी। मुख में ग्रास रक्खोगे, रस तरंगित हो उठेगा। मेरे यहाँ तुम प्रथमबार आए हो। भूखे सो रहोगे। यह मेरे लिये अत्यंत कष्ट की बात है। एक-दो ग्रास तो खाने ही पड़ेंगे। लो, यह लोटे में जल है। हाथ-पैर धोकर जगत् के नियामक और नियंता का स्मरण तो करना ही होगा।"

"ठीक है मा। यह रोग साधना के मार्ग का बड़ा शत्रु जान पड़ता है। मैं जिस वेग से आगे को बढ़ जाना चाहता था, इसने उतनी ही शक्ति से मुझे दबा दिया।" सिद्धार्थ शय्या छोड़कर अग्नि के निकट बैठ गए।

पद्मा इंधन प्रज्वलित करते हुए बोली—"धीरे-धीरे ही एक अभ्यास छोड़कर दूसरा अभ्यास ग्रहण करना उचित होता है।

तत्त्वों को ऐसी नंगी पीठ पर कभी नहीं सहन किया तुमने। उनकी मित्रता ऐसे अधैर्य से नहीं साधी जायगी वत्स।"

"बड़ी सत्य जान पड़ती है तुम्हारी बात। इसे मन में गड़ाकर रख लेने की इच्छा होती है। केवल एक झूठे प्रकाश में ही रख दिया गया मैं इतनी प्रौढ़ अवस्था तक। इसी से प्रकृति के साधारण तत्त्वों से सर्वथा अजान हूँ। प्रकाश और अंधकार के भिन्न-भिन्न अनुपातों से इन अद्भुत रूपों की सृष्टि हुई है। तुमने तत्त्व-चिंतन किया है मा! कौन हो तुम? और कौन-कौन है तुम्हारे?"

"कोई भी नहीं वत्स! पति और पुत्र विसूचिका के प्रकोप में साथ हो चल बसे केवल एक ही दिन के अंतर में। मेरे मन में जगत से बड़ी घृणा हो गई। सब कुछ छोड़कर मैं वैशाली में महात्मा अराड़कालाम की शरण में गई। उन्होंने मुझे एक मंत्र दिया और घर लौट जाने की आज्ञा, मैंने उनका कहना माना। पति के हाथों की उपजाई हुई यह आम्र-वीथी है। मैं इनका संरक्षण करती हूँ। इनके फलों को वितरित कर तृप्ति अनुभव करती हूँ। कुछ गाएँ पाल रक्खी हैं, समय के अतिक्रमण के लिये, इनकी सेवा करती हूँ और ये करती हैं मेरी पालना, मैं गुरु का दिया हुआ मंत्र जपती हूँ और संसार के इस प्रपंच को बड़े कौतूहल से देखती रहती हूँ।"

"तुम धन्य हो मा! कुछ मुझे भी बताओ।"

"मैं क्या बताऊँ। स्वयं ही अंधी हूँ। वैशाली जाओ, गुरु के समीप, अवश्य ही वह मार्ग-निर्देश कर देंगे। उसमें प्रगति प्राप्त करना तो फिर शिष्य की ही साधना से होगा।"

हाथ-पैर धोने को उठे सिद्धार्थ। दुर्बलता से पग अस्थिर थे, गिरते-गिरते सँभल गए। भोजन के लिये बैठे, नहीं खाया गया। बहुत सूक्ष्म ग्रहण किया। पद्मा ने गाय का दूध पीने को दिया।

कुछ देर बीतने पर पन्ना ने कहा—"अब तो मस्तक-पीडा शांत हो गई होगी ?"

"नहीं हुई।" जब कभी मा, तुम्हारी बातों में उसका ध्यान छूट जाता है, तो नहीं जान पडती, स्मरण आते फिर होने लगती है। विचार में ही उसकी जड, उसका स्रोत ज्ञात होता है। क्या कारण होगा।"

"गुरु महाराज कहते थे जब एक द्वंद्व से मनुष्य दूसरे द्वंद्व में कूद जाता है बडी तीव्र गति तब शरीर में स्थित पंचभूत स्थान-विच्युत हो जाते हैं और रोग उत्पन्न हो जाता है।"

"पंचभूत क्या हुए ?"

"पाँच मूल तत्त्व, जिनसे यह सारा प्रपंच उत्सृष्ट हुआ है अर्थात पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, इसलिये धीरे-धीरे, सँभल-सँभलकर चलने की आवश्यकता है। तुमने कपिलवस्तु से यहाँ तक की दूरी बड़े वेग से नष्ट की, तमने इस सुरक्षित शरीर को और भी शीघ्रता के साथ विवसन कर दिया। इसी से रोग प्रबल हो उठा। अंग ढक लो वस्त्र से भले प्रकार। मेरे घर ही पर चलो, वहाँ सुख से रहोगे।"

"कैसा सुख ?"

"शीत से रक्षा होगी।"

"यह भौतिक सुख, इसे जब छोड दिया, तो फिर क्या। यहीं ठीक है।"

"ओढने को कुछ और ला देती हूँ।"

"नहीं। तुम जाओ मा।"

सिद्धार्थ को अच्छी तरह ओढाकर, गोशाला के द्वार ढककर पन्ना अपने घर चली गई। प्रभात-समय जब वह गोशाला में आई, तो उसने युवराज को सोता हुआ ही पाया। वह चिंता के साथ उनके पास गई। वह पड़े-पड़े कराह रहे थे।"

"शरीर कैसा है ?"

"बड़ी पीड़ा है। सारा अंग दुखता है।"

पद्मा ने उनके मस्तक और नाड़ी पर हाथ रक्खा—"तुम्हें तो ज्वर है।"

सिद्धार्थ सहसा उठकर बाहर जाने लगे।

पद्मा ने उनका हाथ पकड़ लिया—"नहीं, ऐसे ही नंगे अंग बाहर ठीक न होगा। अंग ढककर पड़ रहो अभी, यदि ज्वर कुपित हो जायगा, तो बड़ा दुख उठाना पड़ेगा।"

"आज चला जाना चाहिए मुझे।"

"श्रम करोगे, तो रोग वृद्धि पर आ जायगा।"

सिद्धार्थ फिर सो गए। कुछ खाया-पिया नहीं उस दिन। संध्या-समय ज्वर का वेग बहुत बढ़ गया और वह नवीन संन्यासी उसके ताप में प्रायः अचेत हो गया।

और वहाँ कपिलवस्तु में सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण के समय यशोधरा बड़े भयंकर स्वप्न देख रही थी। जब उसकी नींद खुली, तो उसने एक दासी को जगाकर कहा—"दासी, जा युवराज के कक्ष में जाकर देख वह क्या कर रहे हैं।"

दासी ने वहाँ जाकर देखा। वह दौड़ी हुई यशोधरा के पास आई—"युवराज नहीं हैं वहाँ !"

यशोधरा ने विक्षुब्ध होकर कहा—"नहीं हैं ! अच्छी प्रकार देख लिया था !"

दासी फिर जाकर देखने गई। जो दासियाँ वहाँ पड़ी सो रही थीं, पूछा—"युवराज कहाँ हैं ?"

"शय्या में नहीं हैं ?"

"नहीं !"

हमें कुछ ज्ञान नहीं। कहीं छत, आँगन या उपवन में गए होंगे।

आ जावेंगे अभी। घूमते ही तो रहते हैं वह रात-भर चारो ओर।"

"जाओ, देखो उन्हें कहाँ हैं। मैं युवराज्ञी को जाकर सूचित करती हूँ।" वह दौड़कर यशोधरा के पास पहुँची और हाँफती हुई बोली—"नहीं हैं।"

यशोधरा क्रंदन करती हुई उठ गई—"मैंने उन्हें देखा, स्वप्न में, वे राजसी वेश परित्यागकर वन की ओर चले गए। उनके पैर नंगे थे और उनका मस्तक खुला हुआ। जा, जा, दासी महाराज और महारानी से जाकर कह, हमारे सब प्रयत्न विफल हुए और युवराज समस्त बंधनों को छिन्न कर चल दिए। जा चारो ओर अश्वारोहियों को उनकी खोज के लिये भिजवा। अभी वह बहुत दूर नहीं पहुँचे होंगे।"

महाराज-महारानी जागे, दास-दासियाँ जागीं, इष्ट-मित्र जागे, द्वारपाल-प्रहरी जागे, नायक-अधिनायक जागे, दीपावलियाँ जागीं और जाग उठा सारा राजभवन। सब लोग एक-एक कोने में सिद्धार्थ की खोज करने लगे।

महाराज स्वयं इधर-उधर खोज करने लगे, एक कक्ष से दूसरे कक्ष में, अलिंद प्रांगण, द्वारों के कोनों, शय्या के नीचे, भीतर बाहर, उपवन-कुंज में, कहीं सिद्धार्थ का पता नहीं।

एक सेवक दौड़ा हुआ प्रथम प्राचीर के द्वार पर गया। प्रहरी से पूछा—"युवराज भी देखे तुमने ?"

महाराज भी दौड़ते हुए जा पहुँचे वहीं, उन्होंने भी वही प्रश्न किया।

प्रहरी विचार करने लगा।

"शीघ्र उत्तर दो। क्या तुमने युवराज को जाने दिया ?"

"नहीं महाराज।" हाथ जोड़कर प्रहरी बोला।

"सच-सच कहो।"

'नहीं महाराज, मैं क्यों जाने देता उन्हें।'

सातों द्वारों के प्रहरियों के पास गए महाराज ,एक-एक कर। सबने एक-सा ही उत्तर दिया। क्या जाने क्या भगवान् की माया हुई। उनकी बुद्धि पर निद्रा का आवरण पड़ गया!

महाराज फिर दौड़ते-हाँफते राजभवन में पहुँचे। मार्ग में सबसे यही पूछते—"मिले युवराज ?"

सबने एक ही उत्तर दिया – "नहीं महाराज!"

फिर राजभवन में सब खोजने लगे। सारा परिश्रम व्यर्थ!

महाराज को निश्चय हुआ प्रहरियों से छल किया गया या वे झूठ बोल रहे हैं। वह फिर सोचने लगे, अवश्य ही वह चला गया है हमें छोड़कर दूर कहीं। उन्होंने चारो दिशाओं में अश्वारोही पता लगाने के लिये भेजे।

अपने किरण जाल को फैलाते हुए मरीचिमाली प्रकट हुए आकाश पर। पुत्र के विरह से कातर शुद्धोदन और प्रजावती अब भी खोज ही रहे थे राजभवन में। वे आर्त स्वर में पुकार रहे थे—"सिद्धार्थ! पुत्र! तुम कहाँ गए?"

सहसा महाराज को कुछ स्मरण हुआ, उन्होंने चीत्कार छोड़कर कहा—"रानी! महारानी!"

प्रजावती के उनके प्रमुख होते-न-होते महाराज विक्षिप्त मनुष्य की भाँति सुधिहीन होकर बाहर उपवन को दौड़ गए।

गिरते-पड़ते प्रजावती ने भी उनका अनुसरण किया।

शुद्धोदन सरोवर के निकट गए, उसमें देखने लगे। बहुत सूक्ष्म दृष्टि कर।

प्रजावती ने आकर उनका हाथ खींच लिया—"कैसे अमंगल की भावना कर रहे हैं आप युवराज के लिये। क्या हमारा सिद्धार्थ ऐसे हीन-विचार रखता है?"

नंद दौड़ा हुआ आ पहुँचा—"महाराज, छंदक का भी कुछ पता नहीं है। इधर कई दिन से युवराज छंदक के साथ बड़ी गुप्त मंत्रणाएँ भी करते थे। मेरा विश्वास है, वे दोनो किसी प्रकार दुर्ग का अतिक्रमण कर चले गए।"

"बहुत संभव है यह।" महाराज ने कहा।

"मैंने अश्वशाला में जाकर देखा, कंथक का भी पता नहीं है।"

महाराज राजभवन को दौड़े फिर। महारानी और राजकुमार नंद भी उनके साथ-साथ।

मार्ग में महारानी ने पूछा – "तुमसे कुछ भी नहीं कहा?"

"नहीं मा! केवल यही कहते थे, मुझे यहाँ से निष्क्रांत होने में सहायता दो नंद।"

महाराज ने फिर कुछ अश्वारोहियों को पास-पड़ोस की राजसभाओं में भेजा। सिद्धार्थ के कपिलवस्तु-त्याग की सूचना देने को और यदि वह उनके राज्य में आवें, तो उन्हें रोककर शुद्धोदन को शीघ्र यह समाचार भेज देने की प्रार्थना करने को।

युवराज्ञी यशोधरा पर तो दुःख का हिमाचल टूट पड़ा! पति के कक्ष में जाकर उसने देखा, समस्त वस्तुएँ यथास्थान स्थित हैं। शीघ्रता और घबराहट का कोई चिह्न वहाँ वह दूर का यात्री नहीं छोड़ गया था।

यशोधरा ने दासी से कहा—"और तुम्हें ऐसी नींद आ गई! कहती हो, कोई भी आहट नहीं हुई। द्वार मुक्त था, उसके खुलने का भी रव नहीं सुना तुमने?"

दासी मुख लटकाए हुए खड़ी थी चुपचाप।

"हा भगवान्! युवराज! अंत में तुमने प्रसूति-गृह में पड़ी हुई इस अबला से छल करना ही उचित समझा। एक छोटे-से प्राणी के लिये भी जिस हृदय में करुणा का सिंधु लहराता था, वहाँ इस

यशोधरा के लिये कोई बिंदु न रहा ! इसे तुम्हारी कठोरता कहूँ या अपनी भाग्य-हीनता !...नहीं, तुम मुझसे छिपाकर जा नहीं सकते। मैंने तुम्हारे प्रतिज्ञा-पालन में सदा पवित्रता पाई। तुम कहीं छिप गए हो, यह देखने को कि मेरे प्रिय-परिजन मेरे विरह को किस प्रकार सहन करते हैं। पर अब तो बहुत विलंब हो गया ! तुम चले ही गए हो। मेरे स्वप्न सत्य थे, पर मैं सचेत ही न हो सकी !"

पद्मा ने कहा सिद्धार्थ से— "तुम्हें ज्वर है, बड़ी सावधानी बरतनी होगी। यदि रोग बढ़ गया, तो कई दिन लग जायँगे। इसी प्रकार पड़े रहो। हमारे गाँव में एक वैद्य हैं, मैं उन्हें बुला लाती हूँ।"

"मैं ऐसे ही ठीक हो जाऊँगा। एक प्रार्थना है मा !" सिद्धार्थ रुक गए।

"कहो न।"

"मैं कहना भूल गया था, मेरे समाचार किसी को न देना, महाराज ने अवश्य ही मेरी खोज के लिये चारों ओर मनुष्य दौड़ा दिए होंगे। छंदक वहाँ पहुँचकर और भी ठीक-ठीक पता दे देगा। मुझे राजभवन के बंधन शूल-से चुभते हैं। एक बार वहाँ से मुक्ति पाकर फिर उसी जाल में जिससे जकड़ न जाऊँ मा, ऐसा प्रयत्न कर दो।"

"मैं क्या पागल हूँ ? न कहूँगी किसी से। तुम्हारा महान् उद्देश्य है, उसमें बाधा पहुँचाकर क्या पातक लूँगी अपने सिर पर ?"

"फिर वैद्य को सूचित न करो। क्या वैद्य रोग को मिटा देता है ?"

"वह ओषधि देता है उसके उपशम के लिये।"

"क्या वह मृत्यु की भी ओषधि देता है ?"

पद्मा ने हँसकर कहा—"नहीं, मृत्यु की ओषधि कौन दे सकता है ? केवल गुरु को छोड़कर।"

"गुरु दे सकते हैं ?"

"हाँ।"

"महात्मा अराड़कालाम दे सकते हैं ?"

"हाँ, वह मेरे गुरु महाराज हैं। वह दे सकते हैं।"

सिद्धार्थ उठने लगे--"मैं चल देता हूँ मा, उनके पास अभी।" वह उठे। दुर्बलता से सिर में चक्कर आया और शय्या पर गिर पड़े।

"न उठो, कह रही हूँ अभी। चोट तो नहीं लगी ?"

"नहीं।"

पाँच दिन सिद्धार्थ ज्वर से पीड़ित रहे। पद्मा ने उनकी बड़ी सेवा शुश्रूषा की। छठे दिन वह फिर जाने के लिये तत्पर हो गए, पर पद्मा ने बड़ी अनुनय-विनय से उन्हें रोक लिया। सातवें दिन फिर उन्हें कोई न रोक सका।

पद्मा ने उन्हें एक कंबल देते हुए कहा--"सहसा प्रकृति का सामना करना उचित नहीं। क्रमशः उसके अंतर में प्रवेश करने पर वह आक्रमण नहीं करती। आम्र-वन के इस निवास में तुम्हें इसका अनुभव हो चुका है। लो, यह कंबल। शीत से युद्ध करने के लिये।"

"लाओ मा, यह कवच है। माता से विदा की आज्ञा माँगने में मिला यह। महारानी से यदि जाने की आज्ञा माँगता, तो वह भी देतीं।" सिद्धार्थ ने कहा--"उनकी आँखों में प्रेम और आनंद की बूँदें चमक रही थीं।"

पद्मा दक्षिण-पूर्व, आग्नेय दिशा में चली सिद्धार्थ के साथ। बड़ी दूर तक उन्हें पहुँचा आई वैशाली के पथ में।

छंदक जब कपिलवस्तु को लौट रहा था, तो कुछ ही दूर आने पर कंथक पीड़ित हो गया। छंदक के सेवा-उपचार का कोई फल न हुआ, और कंथक ने प्राण त्याग दिए!

छंदक मन में बोला--"कंथक! तुम पुण्य-श्लोक हो। स्वामी के

वियोग में तुमने प्राण त्याग दिए। और, छंदक को यह युवराज के महाभिनिष्क्रमण के समाचार ले जाना जीवन-भार हो गया है।"

अश्व की सद्गति कर छंदक चला राजधानी की ओर। निरंतर इसी चिंतन में था—"क्या कहूँगा महाराज-महारानी से। कैसे युव-राज्ञी का विलाप-क्रंदन सुनूँगा। महाराज निःसंदेह मुझ पर रुष्ट हो जायँगे। युवराज की निष्क्रांति में सहायक होने के लिये यदि उन्होंने मुझे दंड देने को पग बढ़ाए, तो—"वह अपनी यात्रा में यति देकर बैठ गया, पथ में एक किनारे पर।

महाराज की अवज्ञा, युवराज का बिछोह और इस प्रकार सुख-भोग तजकर, विपन्न और असहाय होकर अपरिचित देश में खो जाना, कंथक की मृत्यु, इन सब एकत्रित घटनाओं ने छंदक के मानस में उथल-पुथल कर दी। वह रोगी हो गया, किसी प्रकार अपनी यात्रा आगे नहीं बढ़ा सका।

निकट के ग्रामवासियों ने जब उसे देखा, तो अपने घर ले जाकर उसे शरण दी। शरीर के रोग से छुटकारा पाकर उसने अपने मन में साहस एकत्र किया, और फिर कपिलवस्तु के पथ में कमर कसी।

राजभवन में राजकुटुंब यह समझता था कि युवराज छंदक को साथ लेकर ही गए हैं। पर जब सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण के सातवें दिन महाराज को यह समाचार दिया गया कि छंदक विषएण-मुख लौटा आ रहा है, तो महाराज उधर ही दौड़े।

आँगन में ही आते हुए छंदक को पा लिया उन्होंने। पुत्र-प्रेम के आवेश में बेसुध महाराज ने छंदक को गले से लगा लिया। रुदन से विकृत वाणी में बोले—"छंदक, मेरा सिद्धार्थ कहाँ है?"

छंदक मन में सोच रहा था, महाराज अवश्य ही विश्वासघात के लिये मुझे भयानक दंड देंगे, उनका ऐसा प्रेम-व्यवहार देखकर महाराज के चरणों पर सिर रखकर उन्हें अपने आँसुओं से धोने लगा।

"कहाँ है, सिद्धार्थ कहाँ है !"

प्रजावती भी वहीं आ पहुँची थी, उसने भी रोते हुए पूछा—"छंदक, कहाँ है हमारा युवराज? तुम उत्तर देते नहीं क्यों ?

छंदक ने आँसू पोंछते-काँपते हुए हाथों से हाथों की पोटली महाराज के सामने रक्खी।

"क्या है यह ?"

"युवराज के आभूषण।"

"तो क्या इस प्रकार श्री-विहीन होकर चला गया मेरा सिद्धार्थ ?" माथा पीटकर महाराज ने कहा।

"हाँ महाराज।"

छंदक की बाँह पकड़कर उन्होंने उसे झकझोरते हुए पूछा "कहाँ को ?"

"यह नहीं जानता महाराज, मैंने उन्हीं के साथ रहने के लिये बार-बार अनुनय-विनय की पर वह माने ही नहीं।"

"हे भगवान्! कुछ भी नहीं बताया उन्होंने कि वह कहाँ जायँगे ?" प्रजावती ने पूछा।

"नहीं, कुछ भी नहीं।" छंदक ने उत्तर दिया।

"क्या कहा उन्होंने हमारे लिये ?" शुद्धोदन ने पूछा।

"यही कहा कि मेरे लिये शोक वृथा है। मैं अनति काल में सत्य की प्राप्ति कर आऊँगा।"

यशोधरा अभी तक ओट से सुन रही थी न रह सकी, वहीं पर आकर खड़ी हो गई।

महाराज पोटली खोलकर एक-एक आभूषण को अपने मस्तक पर लगाकर प्यार करने लगे—"इनमें अभी तक सिद्धार्थ के शरीर पर लगे हुए अंगराग की सुगंधि आ रही है !"

यशोधरा ने बड़ी तीक्ष्ण और क्षुब्ध दृष्टि से वे आभूषण देखे

और पहचाने। उसके शोक का वेग उमड़ पड़ा। वह वहाँ से चली गई, और एक एकांत कक्ष में जाकर रोने लगी।

महाराज और महारानी अत्यंत करुणा-भरे स्वर मे विलाप करने लगे—"हमारी इस चौथी अवस्था मे हमें घोर अंधकार में छोड़कर कहाँ चले गए तुम सिद्धार्थ? हमारी नेत्रों की ज्योति।"

छंदक बोला—"महाराज, युवराज के लिये शोक करना वृथा है। ज्योतिषियों की वाणी सत्य होकर रही। भगवान् युवराज के रक्षक हैं। और यह उन्हीं की इच्छा की पूर्ति है। युवराज शीघ्र ही ज्ञान प्राप्त कर कपिलवस्तु लौट आवेंगे।"

यशोधरा अपने समस्त आभूषणों को खोलकर ले आई, उन्हें महाराज और महारानी के समीप रक्खा।

महारानी घबराकर बोलीं—"हैं! यह क्या किया तुमने? सौभाग्य के प्रतीक उतार दिए क्यों?"

"जिसके स्वामी भिक्षु के वेश में वन और पर्वतों में विचर रहे हैं, उस स्त्री को रत्नाभरणों में कोई शांति नहीं। उसका शृंगार ही क्या? किसके लिये?" यशोधरा ने कहा।

११. गुरु की खोज

यात्रा में माँगते-खाते, पथ पूछते-पूछते सिद्धार्थ आगे बढ़ते गए वैशाली की दिशा में। राजमार्ग छोड़ दिया उन्होंने। जन और जनपदों को बचाकर निर्जन से होकर चले, केवल दिशा का ध्यान रखकर। जब कभी श्रम बढ़ जाता, तो रुक जाते, किसी ग्वाले, लकड़हारे या पथिक से मार्ग पूछते और फिर अपनी प्रगति आरंभ करते।

उस रूपवान् सहज कोमल भिक्षु को, उस कष्ट के पथ में पहले पैर रक्खे हुए त्यागी को, जो भी देखता, बातें करने के लिये ठहर जाता। उससे अनेक प्रश्न पूछता। स्वभाव से ही सत्य में प्रतिष्ठित सिद्धार्थ कुछ भी न छिपाते।

रात हो जाने पर वहाँ जले प्रकाश की सहायता से किसी गाँव की सीमा पर पहुँचते, चुपचाप कहीं से भिक्षा माँगते, क्षुधा में आहुति देकर किसी प्रकार रात काटते, और सूर्योदय से कई घड़ी पूर्व चल देते।

जो षट्रस भोजन करता था, उसे भिक्षा में बहुत साधारण खाना मिलता। कभी-कभी सिद्धार्थ को उससे वमन करने की इच्छा होती। फिर वह सोचते—"जिह्वा को मन के अधीन करना चाहिए। जिस प्रकार शीत का दंश अभ्यास से सहन करने लगा, ऐसे ही इसे भी पराजित कर लूँगा। सारे संसार में अधिक दीन और दुखी लोग हैं। वे जिस साधारण अन्न को खाकर कठिन परिश्रम करते हैं, मैं भी उसमें स्वाद का अनुसंधान करूँगा। ये इंद्रियों के आकर्षण एक मनःकल्पित उपादान हैं। इनकी कभी तृप्ति नहीं होती। अतः

इनके सूत्र मन के हाथों में सौंपने उचित हैं, न कि मन इनसे खिंचता चला जाय।"

अनभ्यस्त भोजन से जब उबकाई आने लगती, तो वह मन को दृढ कर उसे निगल जाते और कहते—"भिक्षा के अन्न में स्वाद ढूँढना मूर्खता है। उसका सबसे बडा स्वाद तो यही है कि वह भिक्षा का अन्न है।"

अनोमा-नदी का सूत्र पकड़ रक्खा था उन्होंने। जब कभी वह छूट जाता, तो सिद्धार्थ ढूँढ लेते उसे। मार्ग की कठिनाइयों को अपना अभ्यास बनाते हुए वह वैशाली जा पहुँचे।

नगर से बाहर महात्मा अराड़कालाम का आश्रम था। जहाँ वह अपने प्रायः तीन शतक शिष्यों के साथ शोभायमान थे। आश्रम के आस-पास शिष्यों ने कुछ खेती भी कर रक्खी थी, और दान-प्राप्त सैकड़ों गाएँ भी वहाँ पली हुई थीं।

सिद्धार्थ ने आश्रम में प्रवेश किया। पूछने पर एक शिष्य ने उन्हें एक विशाल यज्ञशाला दिखाई और कहा—"वहीं हैं महात्मा अराड़कालाम। चलो, मैं तुम्हारे साथ चलता हूँ।"

जिसने उन्हें देखा, वही मोहित हुआ। महात्मा अराड़कालाम उस युवा संन्यासी की तेजस्विता देखकर अपने को बड़ा छोटा समझने लगे।

सिद्धार्थ ने कहा—"मैं गुरु की खोज में हूँ, जो मुझे सत्य का प्रकाश दिखा दे। आप दिखा सकते हैं?"

अराड़कालाम भूमि पर देखने लगे। उन्होंने बड़ी नम्र वाणी से कहा—"सत्य तो यह है, मैं स्वयं ही उसकी खोज में हूँ।"

"आपने इन तीन सौ शिष्यों की गुरुता धारण कर रक्खी है।"

"ये ऐसे ही शिष्य हैं। किसी की खेती बह गई। किसी के कोई रहा नहीं। कोई पिता से, कोई माता से और कोई भाई से

लड़कर निकला है घर से। कोई राजा के दंड से छिपा हुआ है यहाँ, कोई महाजनों के ऋण से। कोई सिद्धि पाकर बिना हाथ-पैर हिलाए ही वसुधा का चक्रवर्तित्व प्राप्त करना चाहता है, कोई अनंत लक्ष्मी का सुख-भोग, कोई शत्रु पर विजय और कोई स्त्री के वशीकरण के लिये मेरे निकट वेश बनाकर बैठा है। इनकी इंद्रियाँ स्थूल जगत् में भ्रमण कर रही हैं। योग सूक्ष्म जगत की वस्तु है।" अराड-कालाम बोले।

"हाँ, उसी सूक्ष्म जगत् में मेरा प्रवेश करा सकते हैं आप?"

अराड़कालाम के पूछने पर सिद्धार्थ ने अपना परिचय दिया।

महात्मा ने इसके अनंतर कहा—"तुम्हारा त्याग स्तुत्य है।" महात्मा के जो शिष्य वहाँ पर जमा हो गए थे, उनमें से प्रत्येक को उन्होंने किसी-न-किसी काम से अन्यत्र भेज दिया।

उस एकांत में अराड़कालाम ने धीरे-धीरे पूछा—"हे शाक्य-वंश के अवतंस! सच-सच कहो, तुमने किस कारण राजभवन का त्याग किया?"

"शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति के लिये।"

"केवल?"

"हाँ केवल।"

"तुम्हारा एक-एक भाव, एक-एक मुद्रा और एक-एक शब्द तुम्हारी सत्यता को प्रकट कर रहा है। तुम्हें इंद्रियों के भोगों ने नहीं, तुमने उन्हें छोड़ा है। तुम निःसंदेह ज्ञान प्राप्त करोगे। तुम इस आश्रम में बड़ी प्रसन्नता के साथ रहो। जो कुछ मुझसे हो सकेगा, मैं बताऊँगा तुम्हें सृष्टि का रहस्य।" अराड़कालाम ने कहा।

सिद्धार्थ वहाँ रहने लगे। महात्मा अराड़कालाम ने अनेक सुने और समझे हुए तत्त्व सिद्धार्थ को बताए। उनकी बहुत-सी बातें

सिद्धार्थ को सहजगम्य हुईं, पर अनेक उनको केवल आडंबर-सी ज्ञात हुईं।

एक दिन महात्मा ने एकांत में सिद्धार्थ से कहा —"मुख्य सूत्र जो हमें पकड़ना है, वह मन के वशीकरण का है। मन में से पाँच शाखाएँ फूटी हैं पाँच इंद्रियों की। मन जब पाँचों इंद्रियों में खोकर कर्म करता है, तो वह कर्म उसे बाधते हैं।"

"कैसा बाँधन ?"

"कर्म-बंधन, जन्म और मृत्यु का चक्र। उत्पन्न होने के पहले भी कई बार हमारा मरण हो चुका है, और मरने के पश्चात् भी कई बार हमारा जन्म होगा। उस जन्म को समाप्त कर देना ही मुक्ति है।"

"वह जन्म कैसे समाप्त होगा ?"

"अविचल विश्वास और अटूट साधना से। सुनो, मन के अधीन होकर जब इंद्रियाँ कर्मरत होती हैं, तो फिर वे कर्म नहीं बाँधते। अतः पहला कर्तव्य है इंद्रियों की अधीनता से मन को मुक्त करना। हमारा शरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पाँच तत्त्वों से बना है। हमारी पाँचों इंद्रियाँ इन पाँचों तत्त्वों के गुणों से प्रभावित हैं। वे गुण हैं, रस, रूप, गंध, स्पर्श और शब्द। यह सारा भौतिक प्रपंच सूक्ष्म होकर मन में सोया है। उसको जगाना ही ध्यान-योग का उद्देश्य है।"

"उसका जागना कैसा हुआ ?"

"इंद्रियों पर अपनी सत्ता की स्थापना ही उसका जागरण है। कामना की जन्मभूमि मन है। कामनाएँ जब मन में उदित होकर, वहीं तृप्त होकर वहीं शेष हो जाती हैं, इसे भी मन का जागरण कह सकते हैं।"

'मैं' क्या यह मन ही है ?"

"नहीं, न यह मन है, न पाँचों इंद्रियाँ, न पाँचों भूत।"

"फिर ?"

"मन की गति की संचालिका है बुद्धि। बुद्धि 'अस्ति' और 'नास्ति' की जननी है। द्वंद्व का विभ्रम यहीं उत्पन्न होता है। द्वंद्व के भेद को मिटाकर समता पाना ही बुद्धि का स्थिर होना है। स्थिर-बुद्धि मनुष्य ही सत्य के साक्षात्कार के योग्य होता है।"

"तो क्या मैं बुद्धि हूँ ?"

"नहीं। तुम बुद्धि से भी परे हो।"

"फिर मैं कौन हूँ ?"

"मैं नहीं जानता 'मैं' कौन है ? यही तो पहेली है। वर्षों से मैं अपने स्वरूप का अनुसंधान कर रहा हूँ। इस तिल-तिल में व्यापक माया के प्रपंच में भूल-भूल जाता हूँ। यह भी तो स्मरण नहीं रहता कि मैं क्या खोज रहा हूँ। जब मैं स्वयं अपने को ही नहीं जानता, तो कैसे बता दूँ तुम कौन हो। मैं हूँ, यह मेरा अहंकार है, पर यही नहीं हूँ मैं। जो मैं हूँ, वही तुम भी हो।"

"क्या मैं अहंकार हूँ ?"

"नहीं, वह होने पर हम अपनी स्थिति से पतित हो जाते हैं। हमारी ही आत्मा समस्त विश्व में व्याप्त है।"

"क्या मैं आत्मा हूँ ?"

"संभव है।"

"परमात्मा क्या है ?"

"बिंदु और सिंधु का संबंध। आत्मा परमात्मा के ही विस्तार का एक कण है।"

"आत्मा अहंकार नहीं है ?"

"नहीं।"

"कहा जा सकता है यह दृढ़ता-पूर्वक ?"

"हाँ, हाँ।" अराड़कालाम ने स्थिरता से कहा।

"मेरे नहीं गड़ती यह बात।"

"बात ऐसी है। बुद्धि के स्तर तक तर्क काम देता है। उससे अतीत लोकों में भाषा और संकेतों से काम नहीं चलता। वहाँ तो फिर टटोलना ही है। उतावली से काम न होगा राजकुमार! बड़े धैर्य के साथ ही पैर बढ़ेगा इस मार्ग में। स्वाध्याय सहायक वस्तु है। उपनिषदों का अध्ययन करो यहाँ एकांत में। मैं ध्यान-योग की शिक्षा दूँगा। केवल पुस्तक-पाठ से ही कुछ न होगा। ध्यान से मन की शीघ्र वश्यता प्राप्त होती है। ध्यान मन को बाँधने के लिये खूँटा है। रस्सी है मंत्र।"

"मंत्र क्या हुआ?"

"यह अत्यंत गोपनीय वस्तु है, इस रहस्य को फिर बताऊँगा, जब तुम्हारा पात्र उसे ग्रहण करने योग्य हो जायगा।"

"पात्र है मेरे पास। भिक्षा आहरण करने के लिये दिया है मुझे पद्मा ब्राह्मणी ने। मैंने इसे माँज कर विशेष उजला बना रक्खा है।" सिद्धार्थ ने वह पात्र महात्मा अराड़कालाम के सामने बढ़ाया।

मंद हास्य के साथ महात्मा बोले—"इस पात्र से मेरा अर्थ नहीं है। मेरा अर्थ है इस देह-रूपी पात्र से। इसी में कर्म का संचय, भोग और क्षय होता है।"

"मैंने जगत् के समस्त भोगों का त्याग कर दिया। क्या मेरा यह पात्र अभी ज्ञान के ग्रहण के लिये उपयुक्त नहीं हुआ? फिर और क्या छोड़ना शेष रहा?"

"इसमें संदेह नहीं, तुमने भोगों को परित्यक्त कर दिया है। पर अभी उनका एक ही अंश टूटा है। दूसरा कामना-रूप से तुम्हारे मन में है। जब कामना में से भी वे समूल नष्ट हो जायँगे, तभी तो राजकुमार!"

"क्या ज्ञान की इच्छा कामना नहीं है ?"

"नहीं है। क्योंकि यह भागों से छुटकारा पाने की इच्छा है।"

"जब आत्मा परमात्मा का ही एक अंश है, तो उसकी प्रवृत्ति बंधन की ओर क्यों है ?"

"अहंकार के अज्ञान-वश।"

"नहीं समझा।"

"धीरे-धीरे समझोगे। विश्वास बढ़ाओ।"

"विश्वास क्या हुआ ?"

"निश्चयात्मिका बुद्धि का नाम विश्वास है। जहाँ ध्यान विकास को प्राप्त हुआ तुम्हारा, वहाँ समस्त बाधाएँ स्वतः ही मार्गदर्शिकाएँ हो जायँगी, भ्रम प्रकाश बन जायगा, और उलझनों के बीच में मार्ग ऋजु और स्पष्ट प्रतिफलित होगा।"

"ध्यान किसका किया जायगा ?"

"अक्षर और अव्यय ब्रह्म का।"

"अक्षर ब्रह्म क्या है ?"

"अज-अक्षर, न जो उपजता है, न जिसका नाश होता है।"

"स्वयं कैसे उपजता है ?"

"यह नहीं जानता। कदाचित वह बुद्धि का विषय नहीं है।"

"जब वह बुद्धिगम्य नहीं, तब उसका ध्यान कैसा ?"

"उसकी छाया का तो स्पर्श किया जा सकता है ? उसका आभास तो मिलता है ? इस सृष्टि का सृजन करनेवाला तो कोई है न ? एक निश्चित नियम दिखाई देता है न ?"

"हाँ, दिखाई देता है। उस नियम का ही ध्यान क्यों न किया जाय ?"

"हो सकता है।"

"किस प्रकार ?"

"इसीलिये तो नियामक की आवश्यकता है। उसके रूप की कल्पना चाहिए। उसका आकार बनाना होगा।"

"कैसा है उसका आकार ?"

"कमल के फूल में से उपजे हुए ब्रह्मा। ज्ञान के भंडार चारों वेदों को चारों हाथों में लिए हुए।"

"चार हाथों में, एक असंभव कल्पना। सारी सृष्टि का नियामक एक तुच्छ मनुष्य के रूप में। मुझे ग्राह्य नहीं है यह रूप।"

"केवल आरंभ करने के लिये। ध्यान को सबल और चिरस्थायी कर धारणा में बदलने के हेतु। समाधि-प्राप्ति होने पर फिर ध्याता, ध्यान और ध्येय का सब अंतर समाप्त हो जाता है।"

सिद्धार्थ उस आश्रम में रहकर साधन-ध्यान में लगे। पर उनका मन वहाँ स्थिर न हुआ। अभिसंबोधि के लिये उन्होंने उस स्थान को अनुपयुक्त पाया।

वहाँ से बिदा हुए वह। आचार्य रुद्रक नामक एक दूसरे ऋषि के आश्रम में गए। वहाँ भी बड़े आदर-पूर्वक उनका स्वागत हुआ। आचार्य रुद्रक के सैकड़ों शिष्य थे। कुछ दिन वहाँ रहने पर सिद्धार्थ ने निश्चय किया, जिसके लिये गृह और राज्य का त्याग किया, वह यहाँ भी न मिलेगा।

उस आश्रम में सिद्धार्थ के सरल जीवन, तत्त्व-चिंतन, सत्य, त्याग और तितिक्षा से पाँच भद्रवर्गीय ब्रह्मचारी उनके बड़े भक्त हो गए।

सिद्धार्थ ने जब आचार्य रुद्रक से बिदा ली, तो वे पाँचों साधक भी उनके साथ हो लिए। वे सिद्धार्थ की गुरुवत् पूजा करने लगे। इन पाँचों शिष्यों के साथ उस बोधिमार्ग के पथिक ने मगध की राजधानी राजगृह की ओर चरण बढ़ाए।

राजगृह में मगध का युवराज अजातशत्रु, शाक्य-राजकुमार

देवदत्त की मुट्ठी में बस गया था। देवदत्त जिधर चाहता, उसको रास घुमा देता।

उसने अजातशत्रु को रस-लोलुप और रूप का उन्मादी बना दिया। विद्वानों और वीरों का सभाओं का त्याग कर वे समय-असमय कुसंगति और कुचक्रों में सम्मिलित दिखाई देते।

देवदत्त ने कहा—"युवराज ! जीवन का उद्देश्य केवल रस-तृप्ति है। प्रवृत्त होने ही के लिये हमारा जन्म है। निवृत्ति मूर्ख और अशक्तों का शस्त्र है। ये राजमुकुट, सिंहासन, सभा, सेना और युद्ध भोग-तृष्णा को शांत करने के उपकरण हैं।"

"हाँ-हाँ, ऐसा ही है राजकुमार। पर तुमने फिर वह आसव-भांड कहाँ छिपा दिया ?"

रात्रि का शून्य प्रहर था। दोनों मगधपति महाराज बिंबिसार के निवास से दूर, राजधानी राजगृह से दूर विंध्यगिरि की एक गुफा में थे। गुफा सब प्रकार से सुसज्जित थी। दो नर्तकियाँ नृत्य-गीतों से कुछ समय के लिये अवकाश लेकर विश्राम कर रही थीं, निकट ही।

"नहीं युवराज ! तुम बहुत पान कर चुके हो !"

अजातशत्रु ने लड़खड़ाते हुए बड़े प्रेम से देवदत्त के दोनो कंधों पर हाथ रखकर कहा—"तुम संसार में सबसे बड़े मित्र हो मेरे। मैं तुम्हें हृदय से प्यार करता हूँ। यह विशाल मगध का साम्राज्य ! मुझे कुछ भी लोभ नहीं है इसका। क्या समझता हूँ मैं इसे। ठीकरे के समान ठोकर मारकर फेक सकता हूँ। पर मित्र, एक-दो घूँट अभी और—"अजातशत्रु के मुख से लार की एक छोटी-सी धार भूमि पर प्रकाश में चमकती हुई टूट पड़ी।

नर्तकियाँ खिलखिलाकर हँस पड़ीं दोनो।

अजातशत्रु क्रुद्ध होकर नर्तकियों के निकट आया। उनमें से

एक का हाथ पकड़कर बोला—"पर तुम क्यों हँसीं ? क्या मैं सुधि-हीन हूँ ?" वह मद के प्रवाह में गिरने लगा।

दूसरी नर्तकी ने सँभाल लिया।

अजात ने उसके कंधों पर अपना परिरंभ-पूर्ण हाथ रख दिया—"तु-म ब-ड़ी सुं-द-र हो !" वह फिर दूसरी की ओर सम्मुख हुआ—"पर तुम क्यों हँसीं ?"

"हँस पड़ी ! अधर हैं, इसलिये !" मुसकाते हुए नर्तकी बोली।

"क्यों, उसका कारण ? मुझे मद से प्रभावित न समझना। क्यों हँसीं तुम ?"

"मुझे दिखाई दे रहा है युवराज, सुरा-भांड कहाँ पर छिपा है।" नर्तकी ने तिरछी दृष्टि गुफा के एक कोने में तीर की भाँति फेंकी—"पर तुम नहीं देख पा रहे हो।"

देवदत्त ने नर्तकी को रिस में भरकर देखा, और सुरा-भांड के निकट जाकर खड़ा हो गया।

अजातशत्रु उन दोनों नर्तकियों को छोड़कर देवदत्त के पास चला गया, और छिन्न-भिन्न वाणी में कहने लगा—"भाई देवदत्त, तुमसे बढ़कर मेरा हिताकांक्षी दूसरा नहीं है कोई संसार में।"

देवदत्त चुपचाप हँसने लगा।

"नहीं, यह तिलार्द्ध भी हँसने की बात नहीं है। तुम्हें 'हाँ' कहना पड़ेगा।" अजात ने उसकी बाँह पकड़कर कहा।

"किस बात के लिये कहूँ 'हाँ।'"

"यही कि तुमसे बढ़कर मेरा हित चाहनेवाला दूसरा कोई नहीं।"

"हाँ।"

"नहीं, पूरा वाक्य कहो ।"

"तुम्हारा सबसे बड़ा हितैषी हूँ मैं, इसीलिये मैं अब तुम्हें आसव की एक भी बूँद न दूँगा। अभी उजाला होने से बहुत पहले ही हमें राजभवन में पहुँच जाना है न, यहाँ का यह सब खेल मिटाकर यदि तुम अचेत हो गए, तो फिर बड़ी कठिनाई में पड़ जायँगे, उस दिन की भाँति ।"

"फिर मुझे कहना पड़ेगा तुम नहीं हो मेरे मित्र !" अजात ने सुरा-भांड की ओर बढ़ते हुए कहा—"केवल एक ही अंजलि तात ! आम्रपाली का गीत बड़ा उखड़ा-उखड़ा ज्ञात हो रहा है। वह मेरे अंतरतम मानस तक नहीं बिंध रहा है ।"

"यह इसी का दोष है। यह स्थिर होकर नहीं गा रही है ।"

"अधिक दोष मेरा है बंधु ! जब तक मैं रस के सागर में डूब नहीं जाता, तब तक गा नहीं सकती यह आम्रपाली। जब तक मैं विमुग्ध होकर इसके नेत्रों की गहराई में खो नहीं जाता, तब तक न तो इसका स्वर खुलता है, न खिलती है कल्पना, तुम्हारे हाथ जोड़ता हूँ। इतना परिश्रम, इतना व्यय और इतना कष्ट उठाया है, क्या इस सब पर हरताल फेर दोगे ? इस रस-जागरण को सफल होने दो बंधु, कुछ ही बूँदों से ।"

"अच्छा, मैं अपने ही हाथों से दूँगा ।"

"बड़े विशाल हृदय हो तुम, दो। भविष्य के लिये क्यों चिंतित होते हो ? इसी रात का वह भाग जो दिया हुआ है, वही तो भविष्य है। गंगा की मुक्तधारा के समान देवदत्त कल को किस जल को लेकर बहूँगी ? यह चिंता नहीं है उसे, तभी तो उसकी धारा अविच्छिन्न है ।"

देवदत्त आसव उँड़लने लगा।

"भरकर प्रिय मित्र, भरकर ।" अजात बोला।

"हाँ, देखते नहीं छलकने लगा है पात्र।" देवदत्त ने उत्तर दिया।

अजात पान करने लगा चषक लेकर। सहसा उसे स्मरण हुआ "तुम भी तो।"

"नहीं, मेरी इच्छा नहीं।"

"लेना पड़ेगा, नहीं तो मैं फेंक देता हूँ इसे।"

देवदत्त को भी पान करना पड़ा।

अजात आधा चषक रिक्त कर आधा नर्तकी के पास ले गया—"लो आम्रपाली, यह आधा तुम्हारे लिये है। देवदत्त, यह दूसरी नर्तकी—यह चंद्ररेखा, यह तुम्हारी ओर देख रही है, शुष्क अधर और तृषित नयनों से, अपने स्वार्थ के आवेश में इसे विस्मृत कर देना।"

अपने-अपने हाथों से उन दोनों ने नर्तकियों को भी पान कराया।

अजात बोला—"अब क्या है। अब आहुती पड़ गई। आरंभ करो न।

चंद्ररेखा वीणा के तार मिलाने लगी, देवदत्त मृदंग के स्वर। आम्रपाली अँगड़ाई लेती हुई उठी और ठुमककर चरणों में बँधे हुए मंजीरों को छमछमाने लगी।

"हाथ, अधर और नेत्रों में भी तो गति दो।" अजात ने कहा। आम्रपाली मुसकाई। दोनो हाथ कमर पर रक्खे हुए वह अपने चरणों की ठुमक में काल को बाँधने लगी। देवदत्त की उँगलियाँ चल पड़ीं मृदंग पर और चंद्ररेखा की तार और मुंदरियों पर।

आम्रपाली ने हाथ कमर पर से ऊँचे उठा लिए और गाने लगी।

उसी समय दौड़ा हुआ एक मनुष्य वहाँ पर आया। उसके हाथ में एक भाला था और कमर पर लटकती हुई ढाल। उसने

हाँफती साँस और काँपती हुई वाणी में कहा—"मैंने एक-एक कर गिनीं—"

अजात ने उठकर उसका मुँह बंद कर दिया अपने हाथों से—"चुप रहो, कहाँ से आ धमके तुम! रत्नकांता ने कितनी उज्ज्वल तारिका पर अपने स्वर का फंदा डाल दिया. तुमने उसे छुड़ा दिया आकर। उसने स्वर की अविराम धारा तोड़ दी है. वह मूक और उद्विग्न होकर धरती पर बैठ गई। जाओ, चले जाओ, इस बार मैंने तुम्हारा अपराध क्षमा कर दिया। यदि फिर आए, तो यह मेरी कमर से खुला हुआ खड्ग तुम्हारे मस्तक और कंधों के बीच से मार्ग निकालने के लिये मेरे हाथों में आ जायगा। जाओ।"

देवदत्त ने उठकर, अजातशत्रु के हाथ पकड़कर कहा—"क्या हो गया तुम्हें अजात। यह प्रहरी है, जिसे दिशाओं पर दृष्टि रखने के लिये हमने नियुक्त कर रक्खा है। कहने क्यों नहीं देते उसे।' उसने उस आगंतुक को अभय देते हुए कहा—"क्या गिने तुमने?"

प्रहरी बोला—"मशालें, पाँच हैं। मैं नहीं जानता, मनुष्य कितने हैं उनके साथ। वे इसी दिशा की ओर आ रहे हैं।"

"कितनी दूर पर हैं?" देवदत्त ने घबराकर पूछा।

"अभी तो बहुत दूरी पर हैं।"

"अच्छा, जाओ अब तुम। जो कहना था, कह चुके।" अजात बोला।

"अभी ठहरो।" देवदत्त ने कहा प्रहरी से। वह युवराज को संबोधित कर कहने लगा—"मेरी समझ में—"

"बड़े भयभीत हो गए। नहीं, नृत्य किसी प्रकार बंद न किया जायगा।"

"तुम तो युवराज हो, शूली पर लटका दिया जायगा यह विचारा पर-राज्य का निवासी ।"

"युवराज हूँ, तभी तो कह रहा हूँ । मैं मगध का भावी सम्राट् हूँ । यदि कोई महाराज से जाकर उपालंभ करेगा, राज्य के सूत्र हाथ में लेते ही मैं उसे शूली पर लटका दूँगा ।"

"यह भविष्य के अंधकार में ढका हुआ है । अभी तो इस देवदत्त को अपने मस्तक की चिंता है । बंधु, इसे असत्य न समझो, तुम्हारी और मेरी मित्रता जितनी अधिक बढ़ती जा रही है, उससे कहीं अधिक मुझे मगध राज्य में अपने शत्रुओं का भय वृद्धि पर दिखाई देने लगा है । उन्होंने शत-शत गुप्तचर नियुक्त कर रक्खे हैं, देवदत्त के अपराध ढूँढ़ने के लिये । तुम जानते ही हो, कितनी बार महाराज के कानों तक ये मेरी छोटी-छोटी बातें ले गए हैं ।"

"तुम भूलो नहीं उन्हें । मैं उचित दंड दूँगा उन्हें । महाराज और प्रजा के विरुद्ध हम कोई षड्यंत्र नहीं कर रहे हैं यहाँ । अपनी निद्रा को खोकर रसानुसंधान कर रहे हैं यहाँ । राजभवन के निवासियों की निद्रा में कोई विघ्न न पड़े, इसलिये आए हैं इतनी दूर ।"

"नहीं अजात, मेरा हृदय नहीं मानता । मैं समझता हूँ वह गुप्त-चरों की ही तोलिका है । उन्हें अवश्य कहीं-न-कहीं से हमारे इस उद्योग का सूत्र मिल गया है । और इसमें भी कोई संशय नहीं, वे महाराज को लेकर ही न आ रहे हों । मुझे बचाओ अजात !" देवदत्त ने अजात शत्रु से विनय की ।

"क्या करें फिर अब ?" अजात ने कहा ।

आम्रपाली और चंद्ररेखा दोनो हँसने लगीं, देवदत्त की उलझन को देखकर ।

"हँस क्या रही हो ? तुम्हारी भी सारी संपत्ति छीनकर देश निकाला दे दिया जायगा ।"

अजात भी कुछ घबराने लगा, उसने प्रहरी से कहा—"जाओ, देखो, प्रकाश कहाँ तक आ गया।"

प्रहरी चला गया। देवदत्त विचार-निमग्न खड़ा था।

युवराज अजातशत्रु ने फिर कहा—"चलो, फिर भाग चलें।"

"कैसे इस अँधेरी रात में ?"

"फिर क्या होगा ?"

"गुफा के समस्त प्रकाश बुझाकर विजन की निस्तब्धता में अपनी निस्तब्धता मिला दें।"

प्रहरी आकर कहने लगा—"कुछ और निकट आ गए!"

"इसी ओर ?" देवदत्त ने पूछा।

"हाँ।"

"ये सब प्रकाश बुझा दो।" कहकर देवदत्त स्वयं भी एक दीपक की ओर बढ़ा, उसे बुझा दिया।

शेष दीपक प्रहरी ने निर्वापित कर दिए!

गुफा के घने अंधकार में अजात ने पुकारा—"आम्रपाली!"

हँसती हुई वह बोली—"हाँ युवराज!"

"भय तो नहीं लग रहा है ?"

"नहीं, मगध के भावी सम्राट् के साथ किसका भय!"

"वह सम्राट् जब होगा, तब। इस समय तो अब साँस रोककर पड़ी रहो चुपचाप।"

"क्या चोरी कर रही हैं ?"

"और नहीं तो क्या ? मगध के युवराज को अपने रूप और स्वर के जाल में बाँधकर तुमने कुमार्ग पर रख दिया है, यदि पकड़ ली गई, तो फिर श्रावस्ती का मार्ग भूल जाओगी।"

"बस, अब कृपाकर मौन व्रत धारण करो युवराज। यदि आम्रपाली और देवदत्त को खो देना नहीं चाहते हो, तो।"

प्रहरी उस अंधकार में बोला—"मेरे लिये क्या आज्ञा है ?"

"तुम अपने स्थान पर जाकर सजग रहो। जब वे लोग निकट आने लगें, तो हमें सूचित करो।" देवदत्त ने कहा।

"जो आज्ञा।" कहकर प्रहरी चला गया।

"मेरा खड्ग कहाँ है देवदत्त ! लाओ, मुझे दो। मैं उसे सिरहाने रक्खूँगा।"

देवदत्त ने ढूँढ़कर खड्ग दिया—'अब चुपचाप रहो मित्र !"

"केवल एक बात देवदत्त।"

"कह डालो उसे भी।"

"मैं सोचता हूँ, क्या कोई ऐसा उपाय नहीं है, जिससे महाराज बिंबसार के जीते-जी राजसिंहासन हमारे अधिकार में आ जावे।" अजात ने पूछा।

"विचारकर दूँगा इसका उत्तर अजात !"

सब कुछ देर में निद्रा के वश हो गए, पर देवदत्त की आँखों में नींद कहाँ ! वह बाहर आया। प्रहरी को पुकारा।

प्रहरी आकर उपस्थित हुआ।

"कहाँ पर है प्रकाश ? मैं तो कुछ भी नहीं देख रहा हूँ।"

"उधर, सामने नगर की दिशा में, अभी-अभी छिप गए हैं, महाराज के स्निग्धाराम की अमराई में। देखिए, अभी प्रकट हो जायँगे।" प्रहरी बोला।

देवदत्त ने बड़ी देर प्रतीक्षा की। प्रकाश प्रकट न हुआ, देवदत्त कहने लगा—"तुम मूर्ख हो प्रहरी। जान पड़ता है, तुम्हें धोका हुआ है।"

"नहीं राजकुमार, मैं युवराज की बहुत वर्षों से सेवा कर रहा हूँ। यदि ऐसी ही दशा होती, तो कभी का खिसका दिया गया होता।"

देवदत्त फिर देखता रहा। फिर कुछ भी दृष्टिगोचर न हुआ। उसने प्रहरी का हाथ पकड़कर कहा—"अपने भाले से ठीक दिशा को संकेत करो।"

प्रहरी ने आज्ञा का पालन किया।

क्षीण प्रकाश में देवदत्त ने भाले की नोक से उस स्थान का अनुमान किया। उसने घृणा की हँसी हँसकर कहा—"वहाँ स्निग्धाराम कहाँ है, वहाँ पर तो कपिंजल-नामक जनपद है! जान पड़ता है, गाँव में कोई उत्सव होगा।"

"नहीं राजकुमार, कपिंजल में कोई उत्सव नहीं है। मैं संध्या-समय उसी पथ से तो आया था, वाद्य न सुनाई देता क्या?"

"किसी का कोई पशु खो गया होगा। उसी को ढूँढ रहे होंगे।"

"यह भगवान् जानें। सचमुच में अब न-जाने कहाँ चला गया प्रकाश।"

तुमने युवराज का रस-जागरण विनष्ट किया। उन्हें एक संतोष होगा, गहरी नींद में सो तो रहे हैं। मेरी निद्रा भी भंग कर दी तुमने।"

"क्षमा कीजिए। यदि वे सचमुच में गुप्तचर होते और मैं उन्हें कुछ और समझता तो भी तो कठिनाई में पड़ जाता।"

"समय कितना बीत गया होगा?" पूछा देवदत्त ने।

"अभी डेढ प्रहर रात्रि शेष होगी।"

"जाकर मैं भी धरती पर सिर रखता हूँ। देखूँ, कदाचित् नींद आ जाय। 'प्रहरी! भूलना नहीं, चार घड़ी रात रहते उठा देना हम सबको कि प्रकाश होने के पूर्व अपने-अपने स्थानों में पहुँच जायँ।

ऐसे ही चोरी-छिपाव से देवदत्त युवराज अजातशत्रु को नैश-सभाओं में नियुक्त रखता। कभी-कभी दिन में भी वे मृगया के

बहाने से विंध्याचल की उपत्यकाओं को चले जाते और निर्भय होकर मनमाने विलास में निमग्न रहते।

सेवक-सेविकाएँ क्या, बड़े-बड़े सचिव और अधिनायकों का भी युवराज के विरुद्ध महाराज से कुछ कहने का साहस न होता था। वे सोचते—"कुछ समय पश्चात् अजातशत्रु के ही हाथों में राज्य-सूत्र आ जायँगे, क्यों व्यर्थ ही में इनकी शत्रुता की जाय। स्वयं ठीक हो जायँगे, वह समय आने पर। यौवन वेग में है इनके कुछ दिन में शांत हो जायगी यह आँधी!"

महाराज बिंबसार इस बात से अनवगत नहीं थे कि देवदत्त की संगति का अजात पर क्या प्रभाव पड़ रहा है। उन्होंने देवदत्त को युवराज से दूर करने की चेष्टाएँ कीं, वह विफल ही रहे। मगधराज्य में बड़े दृढ़ होकर देवदत्त के पैर जम गए थे। मगध के युवराज के हृदय में एक विशेष स्थान अधिकृत कर लिया था उसने।

एक युक्ति सूझी महाराज को। काशी का एक बहुत बड़ा ग्राम कोसलराज से उन्हें यौतुक में मिला हुआ था। बिंबसार ने देवदत्त को वहाँ का प्रबंधक नियुक्त कर भेज देने की ठानी। पर युवराज अजातशत्रु किसी प्रकार सम्मत न हुआ। उसने स्पष्ट शब्दों में महाराज से कहा—"देवदत्त मेरा परम मित्र है। मैं उसके बिना नहीं जीवित रह सकता। यदि मगध के राजकोष पर वह भार-रूप हुआ है, तो वह मेरे व्यय पर रहेगा यहाँ।"

महाराज चुप होकर रह गए।

उस दिन कपिलवस्तु से महाराज शुद्धोदन का भेजा हुआ दूत आ पहुँचा राजगृह में। देवदत्त ने जब यह समाचार सुना, तो रह न सका। युवराज अजातशत्रु के साथ उसने भी राजसभा में प्रवेश किया।

दूत सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण के समाचार लेकर आया।

था। उसने हाथ जोड़कर महाराज बिंबसार के सामने निवेदन किया—"महाराज, मैं कपिलवस्तु से आया हूँ। महाराज शुद्धोदन ने मुझे भेजा है। युवराज सिद्धार्थ, लगभग एक मास व्यतीत हुआ राजभवन से बिना किसी से कुछ कहे-सुने न-जाने कहाँ को निकल गए हैं। बहुत खोज करने पर भी अभी तक उनका कोई पता नहीं लगा है।"

"कारण?" बिंबसार ने चकित होकर पूछा।

देवदत्त के मुख पर बड़ी विजय अंकित हुई? उसने अजात का हाथ पकड़कर धीरे-धीरे कुछ कहा उससे।

दूत ने उत्तर दिया—"बाल्यावस्था से ही युवराज के मन में संसार के सुखों में अनासक्ति उत्पन्न हो गई थी। अनुमान यही लगाया जा रहा है कि वह संन्यासी हो गए।"

देवदत्त अपने आसन से उठा—"धृष्टता क्षमा हो महाराज! मैं बताऊँगा कारण। मैंने युवराज की संगति में अपना बचपन बिताया है। मैं जानता हूँ प्रकृत कारण।"

"कहो।" महाराज बोले।

"कारण है, युवराज को जन्म से ही कारागार में डाल दिया गया था महाराज। जगत छिपा दिया गया उनसे। सत्य पर आवरण डाल दिए गए। सात प्रचीरों के बंधन में उनकी इंद्रियाँ छटपटा उठीं और वह बँधे हुए जल के वेग से बाँध को तोड़कर निकल गए संसार में।"

"कुछ भी हो, संसार के बंधन तोड़ डालना क्या सरल बात है? हमें युवराज के वैराग्य की स्तुति करनी चाहिए।"

"वैराग्य संन्यास कुछ भी नहीं है यह महाराज, यह एक दूसरा ही राग है। मुझे ज्ञात हैं वे अंतःपुर के चक्र।"

कौतूहल के साथ महाराज बिंबसार ने पूछा—"क्या ज्ञात है तुम्हें?"

"यह विमाता का राग है महाराज! उसके अपना लड़का है राजकुमार नंद। उसी को वह कपिलवस्तु का राजमुकुट पहनाना चाहती है।"

दूत ने विरोध किया—"नहीं महाराज, ऐसी बात नहीं है। महारानी प्रजावती ने युवराज सिद्धार्थ के समीप कभी किसी छोटी-से-छोटी बात में भी राजकुमार नंद को श्रेय नहीं दिया। सात दिन का ही उन्हें माता छोड़ गई थी, तभी से महारानी ने दिन-रात न देखे, ग्रीष्म-शिशिर का विचार न किया। अपने सुख-दुख, भूख-प्यास न समझे, उस मातृ-हीन शिशु का लालन-पालन ही अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य बनाया। आज उनके अभाव में सबसे कातर वही हैं।"

देवदत्त बोला—"कभी रनिवास की देहली का अतिक्रमण भी किया तुमने? बाहर-ही-बाहर क्या जान सकते हो तुम कूट नीति की चालों को। मुझसे पूछो, मैं जानता हूँ इन सब बातों को।"

"हम नहीं मान सकते राजकुमार देवदत्त! तुम्हारा राज्याधिकारी शाक्य-वंशजों से कुछ जन्मजात द्वेष है, यही कई बार प्रकट हुआ है तुम्हारे मुख से। इसी द्वेष के कारण है तुम्हारी दृष्टि में उनका गुण भी अवगुण ही प्रतीत होता है।" बिंबसार ने कहा।

देवदत्त फिर न बोला।

दूत ने कहा—"महाराज ने आपकी सेवा में यह विनय की है, यदि युवराज का कभी आपके राज्य की सीमा में पदार्पण हो, तो उन्हें स्वराज्य और स्वगृह को लौटा देने की कृपा की जाय। जिसके लिये कपिलवस्तु की प्रजा और राजा आपके सदैव ही उपकृत रहेंगे।"

अनेक प्रकार से महाराज शुद्धोदन के लिये आश्वासन-संदेश भेजकर मगधपति ने दूत को बिदा किया।

देवदत्त ने सभा-भवन से निष्क्रांत होते हुए मार्ग में अजातशत्रु से कहा—"असहाय, मातृ-हीन युवराज सिद्धार्थ, यदि आज उसकी माता जीवित होती, तो उसके यह गृह-त्याग की घड़ी न आती। मुझे रह-रहकर उसी की इस विपन्न अवस्था का ध्यान हो रहा है।"

"पर मेरे विचार में तो वही आम्रपाली नाच रही है। उसका अप्रतिम रूप लावण्य, अद्वितीय गीत-नृत्य, अनुपम भाव-गति मेरे हृदय में घर कर गए हैं। भुलाए से भूले जाते नहीं। देवदत्त मित्र, तुमने उसे भगा दिया।"

"मैंने नहीं भगाया बंधु। आर्यावर्त के प्रमुख धनाधिप उसकी अभ्यर्थना करते हैं। बड़े-बड़े सम्राट् उसकी उपासना के लिये लालायित रहते हैं। श्रावस्ती में सुना है उसकी विशाल अट्टालिका, दास-दासी और सुख-भोग को देखकर बड़े-बड़े महाराजों का विभव मलिन पड़ जाता है। वह फिर आने की प्रतिज्ञा तो कर गई है अगले वसंतोत्सव पर।"

"बहुत दिन हैं अभी।"

"अन्यत्र कहीं मन की स्थापना करो मित्र।"

"नहीं देवदत्त। क्या हमारे आदर और धन से वह संतुष्ट नहीं होती?"

"तुम पर प्रेम करती तो है वह। केवल यहाँ उसे चोरी-छिपकर रहना रुचिकर नहीं है।"

अजातशत्रु ने कहा—"इसी से तो मैंने तुमसे कहा था राज्य के सूत्र अभी मेरे हाथों में आने की आवश्यकता है। चलो, एक दिन वहीं श्रावस्ती को, कोई बहाना बना लिया जायगा।"

"यदि वहाँ उपस्थित न हुई तो?"

---

१२. आप ही गुरु हैं

सिद्धार्थ विंध्याटवी की शैलमालाओं में सुशोभित मगध की राजधानी राजगृह पहुँचे। उस वीर त्यागी के अंग में आभूषण क्या, वस्त्र भी तो नहीं थे। पर उसके देह की यष्टि और कांति, उसकी भाव और गति, उसके संकेत और वाणी उसके रहस्य को छिपाकर नहीं रख रहे थे।

जिसने उस प्रभा-प्रदीप्त मुख-मंडल को देखा, देखता ही रहा। गोप ने गाय को छोड़कर उसे देखा, गाय ने चरना छोड़कर उस पर दृष्टि की। श्रमी ने भार भूमि पर रखकर उसे देखा, श्रांत ने जागकर उसे निहारा। रमणी ने अवगुंठन उठाकर उसके दर्शन किए, पुत्र ने माता का स्तन छोड़कर उसका अवलोकन किया।

शिविका, रथ और वाहन के आरोहियों ने रुककर उस परम तेजस्वी श्रमण के दर्शन किए। जो उन्हें न देख सके थे, वे दौड़कर आए उन्हें प्रणाम करने। सब यही कहने लगे—"कौन है यह स्वर्गीय कांति और शांति से समन्वित पुरुष? यह देवता, यक्ष, गंधर्व है या मनुष्य?"

सिद्धार्थ राजगृह के द्वार-द्वार पर जाकर भिक्षा आहरण करने लगे। प्रत्येक उनके भिक्षा-पात्र को परिपूर्ण कर देने के लिये आकुल हो उठा। पर उन्होंने एक मनुष्य से केवल एक ही ग्रास की भीख माँगी। भिक्षा-पात्र जब भर गया, तो सिद्धार्थ नगर के बाहर चले। पांडव-शैल पर पहुँचकर, एक निर्झरिणी के समीप बैठकर वह भोजन करने लगे।

वनाग्नि की भाँति सिद्धार्थ के आगमन का समाचार समस्त नगर में फैल गया। राजभवन में महाराज के समीप यह समाचार सुनाया एक सेवक ने—"महाराज, एक अनुपम तेज और लावण्य-युक्त मनुष्य आपकी राजधानी में आया है।"

"युवराज सिद्धार्थ तो नहीं हैं?" सहसा महाराज के मुख से यह वाणी निःसृत हुई।

महाराज का कौतूहल यहाँ तक बढ़ा कि वह उसी समय सिद्धार्थ से भेंट करने के लिये व्यग्र हो उठे। उन्होंने यान और अनुचरों की भी प्रतीक्षा नहीं की। एक साधारण प्रजा की भाँति वह एक प्रहरी को साथ लेकर पूछते-पूछते उसी क्षण चल दिए वन की ओर।

पांडव-शैल पर आकर देखा, एक वृक्ष के नीचे, एक कांति-समन्वित, रम्याकार मनुष्य ध्यानस्थ होकर बैठा है। प्रहरी को कुछ दूर पर ही छोड़कर उनके निकट मगधपति बढ़े।

महाराज बिंबसार की चालों से सिद्धार्थ की आँखें खुल पड़ीं। वह स्मित हो उठे, मानों बहुत दिनों का उनका परिचय है। उन्होंने मूक भाषा में मगध के प्रतापशाली सम्राट् का स्वागत किया, उनकी अभ्यर्थना की और भूमि की ओर बैठ जाने का संकेत किया।

महाराज बिंबसार ने देखा, उस तेजस्वी महापुरुष के समीप उसकी सारी प्रभुता, दुर्ग और राजनगरियाँ, सेनायुध और दिग्विजय सब-के-सब अत्यंत तुच्छ हैं। महाराज दर्प और अभिमान को भूलकर उस तृण-सैकत से भरी भूमि पर बैठ गए। उन्होंने प्रश्न किया—"तुम सिद्धार्थ हो?"

सिद्धार्थ ने मुख खोला—"हाँ, मैं सिद्धार्थ हूँ।"

"तुम्हें प्रणति है हे शाक्यवंश के नक्षत्र! तुमने एक तुच्छ मिट्टी

के टुकड़े की भाँति राज-सुख छोड़ दिया और हम इस लोलुप, आकांक्षाओं के क्रीत, तुच्छ कीटकों के तुल्य उसी में चिमटे हुए हैं।"

"आप क्या इस राज्य के—"

"हाँ, मैं बिंबसार हूँ।"

"आपकी प्रजा में से किसी ने भी मेरा नाम नहीं पूछा। आपने कैसे जान लिया मैं सिद्धार्थ हूँ? कपिलवस्तु के राज-दूत यहाँ तक आ पहुँचे हैं, जान पड़ता है।" सिद्धार्थ ने मुसकान के साथ कहा।

"हे सुंदर युवक! तुम्हारे ये सुकोमल हाथ-पैर इस मृत्तिका के पात्र और इस कर्कर पथ के योग्य नहीं हैं। क्या राजभवन में तुम्हारी किसी से कुछ कहा-सुनी हुई? कोई चिंता की बात नहीं है। मेरे साथ चलो, मैं अपने राज्य के बहुत बड़े भाग का तुम्हें अधीश्वर बना दूँगा। यह कंटकाकीर्ण पथ तुम्हें अभ्यस्त नहीं है। तुम्हें नानाप्रकार के कष्ट उठाने पड़ेंगे।"

"हे सम्राट्! मैं कष्ट को ही सहचर बनाकर घर से निकला हूँ। कुछ दिन उसका सहवास होने पर फिर वह अभ्यस्त हो जायगा।"

"राज्य और सुख का संसार भी तो पराक्रम से उपलब्ध करने की वस्तु है। उसकी उपेक्षा उचित नहीं है। उसमें रहकर भी तो मनुष्य सत्य और ज्ञान का अनुसंधान कर सकता है। कमल-पत्र के समान उसमें निर्लिप्त होकर भी तो उसमें वास किया जा सकता है।"

"नहीं महाराज, एक बार जिसे तुच्छ समझकर व्यक्त कर दिया, फिर उसी का अंचल पकड़ लेना, मेरी सबसे बड़ी पराजय का कारण होगा। यह मेरा मन ही मेरा राज्य-क्षेत्र है। इसमें निवास करनेवाली सत् और असत् दोनो प्रकार की इच्छाएँ ही मेरी

प्रजा हैं। बुद्धि और विवेक मेरे अमात्य हैं। मुझे इन्हीं के साथ संधि और विग्रह के लिये रहने दो।"

महाराज बिंबसार मन-ही-मन सिद्धार्थ के त्याग की प्रशंसा करने लगे।

सिद्धार्थ फिर बोले—"सत्य के साक्षात्कार का दृढ़ संकल्प कर मैं घर से निकला हूँ। सघन अंधकार में सारी वसुंधरा परिच्छिन्न है। वह असीम वेदना में पड़ी कराह रही है। मैंने उसका अविराम रुदन सुना है। मैं उसी के कष्ट की औषधि ढूँढने जा रहा हूँ। मुझे अपनी शक्ति का भरोसा हुआ है, और मैं अपने उद्योग में अचल रहूँगा। मैं उस शाश्वत सत्य का अनुसंधान कर ही रहूँगा।"

"तथास्तु, ऐसा ही हो! मेरी मंगल-कामना यही है, तुम्हें तुम्हारा इष्ट प्राप्त हो। यह मेरा समस्त मगध-साम्राज्य एक छोटे-से पुष्प की भाँति तुम्हारे चरणों में समर्पित है। तुम्हें जिस सहायता की आवश्यकता है, इस मगधपति को अपना तुच्छ सेवक समझो, वह सब तुम्हारी इच्छानुसार उपलब्ध कर सकता है।" हाथ जोड़कर महाराज बिंबसार ने कहा।

"हे महाराज! मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।"

"धन्य है, तुम्हारे त्याग ने तुम्हें सारे जगत् के सम्राटों का भी सम्राट् बना दिया है।"

"अभी अनेक बंधन हैं महाराज, जिन्होंने मेरे मन को इस भौतिक जाल में जकड़ रक्खा है। सेना और शस्त्रों से वे उच्छिन्न हो नहीं सकते। श्री और संपत्ति के वश में वे हो नहीं सकते। फिर मैं आपसे क्या सहायता माँगूँ।" सिद्धार्थ ने कहा।

"भगवान् कृपालु हुए हैं तुम पर। महाराज शुद्धोदन को व्यर्थ का मोह हुआ है। मैं उनके पास संदेश भेजूँगा कि उनका सत्य के अन्वेषक की खोज करना उसे उसके गुरु प्रयत्न से विरत करना है।"

सिद्धार्थ के मुख पर सुमधुर हास्य झलकने लगा। उन्होंने ध्यान के आकर्षण में नेत्र बंद कर लिए।"

"यह मगध का प्रतापान्वित सम्राट् तुम्हें कुछ दे नहीं सकता, हे शुद्ध साधक! उसका सारा विभव तुम्हारी अनावश्यकता के आगे तुच्छ तृणवत् हो उठा है। मैं भिखारी होकर तुम्हारे चरणों पर विनत हूँ। मैं तुमसे माँगता हूँ।" बिंबसार ने सिद्धार्थ के चरणों पर गिरकर कहा।

"तुम्हें क्या चाहिए महाराज!"

"एक भिक्षा।"

"सम्राट् को यह भिखारी क्या देगा?"

"जिस सत्य के तुम अन्वेषक हो, उसे प्राप्त कर लेने पर मैं चाहता हूँ उस सत्य की भीख।"

"तुम्हें मिलेगी वह राजन्!"

"भूलोगे नहीं?"

"नहीं, सिद्धार्थ न भूलेगा।"

महाराज बिंबसार एक जीर्ण कौपीन और एक मिट्टी के पात्रधारी के पास से लौट गए स्वयं एक भिखारी होकर।

देवदत्त ने जब राजगृह में सिद्धार्थ का आगमन सुना, तो कभी वह शून्य विजन में गृहहीन नंगे और भूखे सिद्धार्थ की कल्पना कर प्रतिहिंसा की सुमधुर तृप्ति अनुभव करने लगता और कभी सिद्धार्थ को ज्ञान के आदित्य से उद्भासित देख द्वेष से जल उठता।

उसी दिन, रात की स्तब्धता में देवदत्त और अजात छद्मवेश में दुर्ग के बाहर राजमार्ग पर आकर खड़े थे।

देवदत्त ने कहा—"चंद्ररेखा को भी साथ ही ले चलेंगे। पांडव-शैल निकट ही तो है। उस त्यागी के त्याग की परीक्षा करनी है अवश्य।"

अजातशत्रु को सम्मत कर लिया देवदत्त ने। चंद्ररेखा को बुलाकर उसे भी साथ ले गए वह। एक सेवक मशाल लिए आगे चलकर उनका मार्ग-दर्शक बना हुआ था।

पांडव-शैल के निकट जाकर उन्होंने देखा, एक वृक्ष के नीचे आग जलाकर कोई बैठा हुआ है।

सेवक बोला—"वही हैं। मैंने दिन में भी इन्हें यहीं देखा था।"

"अच्छा, तुम यहीं रहो, हमारे लौट आने तक।" देवदत्त ने कहा।

अजात, देवदत्त और चंद्ररेखा आगे बढ़े।

मार्ग में देवदत्त ने कहा—"चंद्ररेखा, तुम्हारे रूप का सारा गर्व आज विध्वस्त होगा।"

कुंठित होकर चंद्ररेखा बोली—"इसीलिये ऐसी अंधकार-भरी निशा में तुम मुझे इस विजन में लाए हो, रूप की पराजय देखने?"

"नहीं तुम्हारी शक्ति देखने आए हैं। वह वृक्ष के नीचे जो भिक्षु बैठा है, उसे बिद्ध कर सकती हो अपने कटाक्ष के बाणों से?"

"लाभ इससे?"

"देखना चाहते हैं हम, उसमें धार्मिक पाखंड अधिक है या तुममें रूप-जन्य गर्व।" अजातशत्रु ने कहा।

चंद्ररेखा कपोल पर हाथ रखकर कुछ विचारने लगी।

देवदत्त बोला—"बात ऐसी है, युवराज आम्रपाली के सौंदर्य के आगे तुम्हारे रूप और यौवन को नगण्य समझते हैं।"

चंद्ररेखा तमककर फिर गई अपने गृह की दिशा को—"देखो राजकुमार, मैं कभी तुम्हारे प्रेम की भीख माँगने नहीं आई तुम्हारे राजभवनों में।"

देवदत्त ने उसका हाथ पकड़कर उसे रोक लिया—"सुनो तो सही, अकारण ही क्रुद्ध हो गईं तुम। बात तो सुन लो पूरी।"

"कहो न ?"

"परंतु मैं तुम्हें समस्त जंबूद्वीप में सर्वश्रेष्ठ रूपसी समझता हूँ।" देवदत्त ने कहा।

चंद्ररेखा के भाव कुछ कोमल पड़े।

"हमारे इस विचार का अंत होगा। इस भिक्षु का निर्णय हम दोनो को मान्य है। जाओ, साहस रखकर जाओ, और अपनी प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण स्थापित करो। तुम इंद्र-कुबेर-जैसे देवताओं का मन हरण कर सकती हो। इस श्रमण का अस्तित्व ही क्या है तुम्हारे इस स्वर्गीय रूप के जाल के समीप।"

चंद्ररेखा ने भूमि पर पैर पटका, मंजीर-पायल की छुमक से नीड़-शायी पक्षी चौंक उठे। वह बोली—"अच्छी बात है, तुम दोनो में से कोई भी न आने पावेगा वहाँ।"

"हम यहीं छिपे रहेंगे।"

चंद्ररेखा आगे बढ़ी सिद्धार्थ के समीप, अत्यंत संयत, धीर और नीरव चापों से। आगे जाकर देखा, एक परम दिव्य पुरुष ध्यानस्थ बैठा है। अपने में ही विलीन देखकर वह नर्तकी देखती ही रही उन्हें। न समझ सकी कि मनुष्य के सामने खड़ी है या एक प्रतिमा के। वह विचारने लगी—"नगर में जो आज एक श्रमण के आने का समाचार था, यही जान पड़ते हैं। इस निष्पाप प्राणी को छेड़ने से मुझे लाभ ही क्या ? मेरा क्या बिगाड़ किया है इन्होंने ?" वह लौट जाना चाहती थी, उसे याद आया फिर—"मेरे समीप आम्रपाली ! मेरे चरणों की धोवन, मेरे पदत्राण की धूल !" वह सिद्धार्थ के निकट बैठ गई। उसने उनकी जंघा पर अपना रत्नाभरणों से भारी हाथ रक्खा।

सिद्धार्थ ने आँखें खोलकर कहा—'कौन हो तुम ?"

"तुम्हारे इस अप्रतिम रूप की उन्मादिनी हो उठी हूँ।"

"नहीं-नहीं, रूप और यौवन दोनो अस्थिर और असार वस्तु हैं। तुम मार्ग भूलकर आ पहुँची हो यहाँ ?"

"भूलकर नहीं, जान-बूझकर ही आई हूँ। मैं तुम्हारे रूप की तृषित चातकी हूँ। मैं तुमसे तुम्हारे प्रेम की भीख माँगने आई हूँ। उठो श्रमण, तुम्हारा यह रूप और यौवन इस विजन में नग्न और उपोषित रहने के हेतु नहीं रचा गया है। मेरे साथ मेरी सुविशाल अट्टालिका में चलो। मैं मगध की परम वैभवशालिनी और रूपगर्विता वारांगना हूँ। बड़े-बड़े प्रतापी और विजयी सम्राट्, बड़े बड़े धनपति कुबेर मेरी छाया, मेरे दर्शन और मेरे स्पर्श के लिये आकुल रहते हैं। चलो, मैं इन सबका परित्याग कर केवल तुमसे प्रेम करूँगी। मैं तुमसे तुम्हारे प्रेम की भिक्षा चाहती हूँ, मुझे निराश न करो।"

"मैं तुम्हें क्या भिक्षा दूँ, मैं तो स्वयं भिखारी हूँ। तुम्हीं दो मुझे एक भीख।"

"कहो, क्या चाहते हो ? तुम्हारे लिये मेरे पास कुछ भी अदेय नहीं है।"

"जगत् को अपने ध्यान का बाधक समझकर मैं छोड़ आया हूँ। मेरे इस सुखद एकांत में तुम बाधा पहुँचा रही हो। मैं यही भीख तुमसे चाहता हूँ, तुम जहाँ से आई हो, वहीं चली जाओ।"

"नहीं।"

"तो मुझे ही जाना, पड़ेगा।" कहकर सिद्धार्थ उठ गए "सारा जगत् चल रहा है। विकास विनाश की ओर, यौवन जरा की ओर, उदय अस्त की ओर, जन्म मृत्यु की ओर। सिद्धार्थ भी चल रहा है, मृत्यु नहीं, अमरत्व की दिशा में; छाया नहीं, सत्य की

दिशा में; निद्रा नहीं, जागृति की दिशा में; भ्रम नहीं, ज्ञान की दिशा में। उसे जाना ही चाहिए—तुम केवल एक निमित्त हो।" सिद्धार्थ उठकर चल दिए।

"इस अंधकार में सचमुच तुम चल दिए। मैं समझती थी, परिहास कर रहे हो। लौटो, इन उपत्यकाओं में मार्ग नहीं है। इनके गहरे विवरों में अनेक सर्प और हिंसक पशु रहते हैं।"

"वे हमारे मन में रहनेवाले काम, क्रोध और लोभ से कहीं अधिक सुंदर और शुद्ध हैं। मैं अपने मन में उनके लिये कोई हिंसा का भाव न रक्खूँगा। वे मुझे कुछ नहीं कर सकते। यह निशा में छिपी हुई निर्जन प्रकृति माता से अधिक दयावती है मेरे लिये।" सिद्धार्थ उन अंधकार-भरी गिरि-कंदराओं में न-जाने कहाँ को चल दिए।

चंद्ररेखा घबरा उठी। सिद्धार्थ का अनुसरण करने का साहस न हुआ उसे। उसने पुकारकर कहा—"ठहरो, ठहरो, मुझे छोड़कर कहाँ चले गए तुम? मुझे अकेले भय लग रहा है।"

सिद्धार्थ जाते-जाते ही बोले—"तुम अकेली ही आई थीं मेरे पास, अब भय कैसा? मैं भी अकेले ही आया था, मुझे भी कोई भय नहीं।"

"सुनो तो सही।" चंद्ररेखा ने कहा।

सिद्धार्थ उसकी ध्वनि की परिधि के बाहर चले गए थे। उन्होंने कुछ उत्तर न दिया।

निकट ही किसी पशु की चीत्कार सुनाई दी।

चंद्ररेखा भयभीत हो उठी। उसने राजकुमारों को पुकारा।

देवदत्त और अजातशत्रु निकट ही ओट से, छिपे हुए वह दृश्य देख रहे थे।

अजात ने देवदत्त की बाँह में उँगलियाँ गड़ाकर धीरे-धीरे

कहा—"कुछ क्षण ठहरो। उत्तर देना नहीं। देखें, करती क्या है?"

दोनो नीरव और अचल रहे।

चंद्ररेखा भय से आकुल होकर चिल्लाई—"युवराज! राजकुमार! कहाँ हो तुम? मुझे डर लग रहा है!"

अजात ने देवदत्त के ओष्ठाधरों पर अपना हाथ रख दिया।

"यह परिहास उचित नहीं है। मैं भविष्य में अब कभी तुम्हारी कोई आज्ञा मानने की शपथ खा लूँगी। युवराज! युवराज! राजकुमार! राजकुमार! देवदत्त!"

पास-पड़ोस में कहीं वृक्षों की चोटियों में बंदरों के परिवार डेरा डाले हुए थे। चंद्ररेखा की चीत्कार सुनकर वे भाँति-भाँति की बोली बोलने लगे। उसे सुनकर वह नर्तकी और भी घबरा गई। सचमुच रोने लगी।

देवदत्त बोला—"परिहास की सीमा होनी चाहिए बंधु अजात! कहीं भय से यह अचेत हो गई, तो बड़ी कठिनता में पड़ जायँगे।"

"इस गायिका के गीत से इसका रुदन बड़ा प्रीतिकर प्रतीत हो रहा है।"

देवदत्त ने कहा वहीं पर से—"चंद्ररेखा! चंद्ररेखा! धीरज रक्खो। हम यहीं पर हैं। अभी आ पहुँचे। मार्ग-भ्रष्ट हो गए थे।"

दौड़ते हुए दोनो उसके समीप पहुँच गए।

चंद्ररेखा का चिल्लाना बंद हुआ, पर वह सिसक रही थी।

देवदत्त ने भी हाँफते हुए पूछा—"भिक्षु कहाँ गया?" ज्ञात था उसे सब कुछ।

"मैं क्या जानूँ, कहाँ गया?" अत्यंत रिस में भरकर वह बोली—"बड़े दुष्ट हो तुम!"

अजातशत्रु ने पूछा—"कहाँ भगा दिया तुमने उस श्रमण को ?"

"मैंने कहाँ भगा दिया उसे ?" तनककर चंद्ररेखा ने उत्तर दिया।

"नहीं नहीं, हम कुछ न पूछेंगे उस भिक्षु के संबंध में।" देवदत्त ने आश्वासन दिया उसे।

"नहीं जानती मैं कुछ, मुझे अभी मेरे घर पहुँचाओ" नर्तकी ने तीव्र शासन के स्वर में कहा।

उसी क्षण वे नगर को लौट चले।

देवदत्त के यह घटना बड़ी गहरी चुभ गई थी। उस अंधकार में अग्नि के प्रकाश में उसने सिद्धार्थ को भले प्रकार पहचान लिया था। सिद्धार्थ की उस त्याग और वैराग्य की दशा से उसकी प्रतिहिंसा तृप्त न हुई, वह और भी प्रज्वलित हो उठी। वह सिद्धार्थ को परम पवित्र मार्ग में स्वर्गीय ज्योति की ओर बढ़ते हुए देखने लगा।

यद्यपि देवदत्त विषय-रत था, तथापि था वह मेधावी। उसके मन में उन्नति करने की महती आकांक्षा भी थी, वह अपने संकल्प में भी दृढ़ था, और कठिन-से-कठिन परिश्रम उठा लेने की क्षमता भी उसमें थी।

मार्ग में चलते-चलते उसने कहा—"अजात, इस भिक्षु को मैंने पहचाना। यह मेरा बाल-सखा सिद्धार्थ है।"

"होगा।" बड़ी उदासीनता से अजात ने उत्तर दिया।

"इसे देखकर मेरे मन में कुछ दूसरी ही वृत्ति का उदय हो गया।"

"कैसा ?"

"जिन विषयों का हम सेवन कर रहे हैं, वे तुच्छ प्रतीत होने लगे हैं। विषयों से डरकर भाग जाना ठीक नहीं, उनका सामना कर उन्हें पराजित करना श्रेयस्कर है। अब बहुत हो चुका।"

"क्या अर्थ है तुम्हारा ? क्या ऐसे ही भिक्षु हो जाने का विचार है ?"

"नहीं, बिलकुल ऐसा तो नहीं, पर हमें अपनी ज्ञान की शक्ति को उन्नत करने की चेष्टा में लगना चाहिए। वही सर्वोपरि है।"

नगर का द्वार आ पहुँचा था। प्रहरी बोला—"कौन ?"

अजात ने तीव्र स्वर में डाँटकर कहा—"मैं हूँ।"

स्वर पहचानकर प्रहरी ने हाथ जोड़े—"युवराज की जय हो !"

सिद्धार्थ रात-भर चलते ही रहे, धैर्य और निर्भीक पदों से। दूसरे दिन वह आचार्य रुद्रक के आश्रम में पहुँच गए, जहाँ सैकड़ों साधक उनके आश्रय में साधना कर रहे थे।

इस आश्रम में भी सिद्धार्थ का बड़ा अच्छा स्वागत हुआ। आचार्य के सहित सारी शिष्य-मंडली उस नवागत भिक्षु के आगमन से प्रभावित हो उठी।

आचार्य रुद्रक के आश्रम में सिद्धार्थ ने शास्त्र और योग का ज्ञान प्राप्त किया, और साधना की। वहाँ उन्होंने लक्ष्य प्राप्त होने पर मन की अकिंचनता, संदेहातीत आनंद, तितिक्षा, पार्थिव नियमों से छूटकर विषय-मुक्ति, आत्मा का अनंत भाव, भौतिक प्रपंच और उसकी अनित्यता एवं देश-काल की व्यापकता, इन सात प्रकार के ध्यानों की शिक्षा प्राप्त की। परंतु समाधि के उच्चतम स्तरों पर पहुँचने की शक्ति आचार्य में न थी। उन्होंने सिद्धार्थ से स्पष्ट ही कह दिया।

सिद्धार्थ ने देखा, आचार्य इंद्रियों को विषयों के संसर्ग से दूर रख सकने में समर्थ हुए थे, पर मन में विषयों का सुदृढ़ दुर्ग बना हुआ ही था अब तक, वे किसी समय भी मन की सहायता से इंद्रियों को विचलित कर देंगे। सिद्धार्थ ने सोचा, कामनाओं की जड़ मन ही में अंकुरित होती है। वहीं से उनका उच्छेदन करना

पहला कर्तव्य है। जब तक मन में कामनाएँ हैं, तब तक उसे स्थैर्य नहीं। वही चपल है, तो फिर कैसा ध्यान, कैसी धारणा और कैसी समाधि !

सिद्धार्थ ने उस आश्रम से विदा हो सम्यक्संबोधि के लिये और कहीं जाने का निश्चय किया। कौंडिन्य, अश्वजित, भद्रक, वप्र और महानाग-नामक पाँच सत्कुलजात ब्रह्मचारी उनके साथ हो लिए।

सिद्धार्थ के वस्त्रों को बेचता हुआ वह व्याध पकड़ लिया गया और कपिलवस्तु में लाया गया। उसने जो कुछ कहा, उस पर किसी ने विश्वास नहीं किया। सबने यही समझा कि यह व्याध युवराज को लूट-मारकर उनके वस्त्र ले आया है। व्याध कारागार में डाल दिया गया।

यशोधरा ने उस व्याध की बात का विश्वास किया। जब उसने सुना, उसके पति-देवता ने बहुमूल्य वस्त्रों का भी त्याग कर दिया है, तो उसने भी एक साधारण वस्त्र पहनना आरंभ किया। रत्नालंकारों से वह पहले ही अनावृता हो चुकी थी।

उसने भूमि पर तृण-शय्या चुनी अपने लिये। उसने मृत्तिका के पात्र में साधारण भोजन करना स्वीकार किया। सब प्रकार के विलासों की सामग्री परित्याग कर वियोगिनी यशोधरा योगिनी का-सा जीवन बिताने लगी।

उसने किसी की बात नहीं सुनी। केवल एक ही उत्तर देती थी वह—"जिन्हें मैंने जगत् में अपना सर्वस्व समझा है, उन्होंने अब प्रत्येक काम्य पदार्थ से विराग लिया है, तो उन्हीं वस्तुओं में रस लेना मेरे लिये स्वप्न में भी अशोभनीय है। इससे लोग मेरा नाम धरेंगे, और मेरे स्वामी की लक्ष्य-प्राप्ति में विलंब होगा।"

महाराज शुद्धोदन और प्रजावती की दशा बड़ी दयनीय हो गई थी। चिंता और जीवन की अव्यवस्था से वह कुछ ही दिनों में जरा-जर्जरित हो गए।

समयांतर में राजगृह से महाराज शुद्धोदन का दूत आया। राजपरिवार को युवराज के कुशल-समाचारों के मिलने से बड़ा आश्वासन मिला।

दूत ने मगधपति का संदेश सुनाया—"युवराज सिद्धार्थ की तपश्चर्या, तेजस्विता और दृढ़ संकल्प देखकर मुझे पक्का विश्वास हो गया कि वह निःसंदेह आत्मसाक्षात्कार करेंगे। ऐसी अवस्था में उनसे कपिलवस्तु को लौट जाने का अनुरोध एक पातक की बात होती। आप धन्य हैं—ऐसे महापुरुष के जनक होने का श्रेय आपको मिला है। उनके संबंध में कुछ भी चिंता न कीजिए। देवगण उनके रक्षक हैं।"

शुद्धोदन को बड़ा धैर्य हुआ। उन्होंने दूत से पूछा—"मेरा सिद्धार्थ लौटेगा ? कब आवेगा वह ?"

"ज्ञान प्राप्त कर लेने के अनंतर।" दूत ने कहा।

"कब ? तब तक उसके वियोग में अश्रुपात करते हुए ये नेत्र ज्योति-विहीन तो न हो जायँगे ? उनकी रट लगाते हुए यह शरीर समाप्त तो न हो जायगा ?"

"नहीं महाराज, यह अन्यथा विचार-पोषण करना :योग्य नहीं।"

वह व्याध उसी समय कारागार से मुक्त कर दिया गया। महाराज ने दीनता पूर्वक उससे अपराध की क्षमा माँगी, अनेक प्रकार से उसका सम्मान कर वह विदा किया गया।

उन पाँचों ब्रह्मचारियों को सिद्धार्थ की ज्ञान के लिये सच्ची श्रद्धा, कष्टसहिष्णुता और त्याग ने आकृष्ट कर लिया। सिद्धार्थ भी उनके पाखंड-रहित धर्म-भाव को देखकर प्रभावित हो गए।

उन पाँचों ब्रह्मचारियों ने सिद्धार्थ को अपना गुरु बना लिया। उन्होंने कहा—"हे परम पूज्य श्रमण! आपकी तेजस्विता से हमें विश्वास होता है, आप निश्चय ही ज्ञान-लाभ करेंगे। हमें आप अपनी शरण में लें। हम आपकी सेवा और आपके उपदेशों का पालन करेंगे।"

सिद्धार्थ ने विहँसकर कहा—"मैं गुरु की खोज कर रहा था, और तुमने मुझे ही गुरु बना दिया!"

कौंडिन्य ने कहा—"आप ही गुरु हैं। आपके समस्त लक्षण, भाव, विचार और वाणी, सभी इस बात के साक्षी हैं। इसमें न कोई अतिशयोक्ति है, न चाटुकारी। आपने अहंकार को जीत लिया है, इसीलिये आप सच्चे गुरु हैं। आप संबोधि के मार्ग में क्षण-क्षण प्रगतिशील महापुरुष हैं, आप ही बोधिसत्त्व हैं, आपकी जय हो!"

वे राजगृह से नैऋत्य दिशा की ओर चले। शैल-शैल में भ्रमण करते हुए तपस्या के उपयुक्त स्थान ढूँढ़ने लगे।

जाते-जाते एक स्थान पर उन्हें किसी मनुष्य की मर्मांतक क्रंदन-ध्वनि सुनाई पड़ी। उधर जाने पर उन्होंने देखा, एक गुफा के भीतर कोई चिल्ला रहा था।

सिद्धार्थ अकेले ही, कारण जानने के लिये, उसके भीतर चले गए। पाँचों शिष्यों ने भी अनुसरण किया। वह अंधकार से भरी हुई गुफा अग्नि से प्रकाशित हो रही थी।

भीतर जाकर उन्होंने देखा, यूप से बँधा हुआ एक युवक रुदन कर रहा था। उसके मुख और आँखों पर भी पट्टी बँधी हुई थी। उसके समीप ही अग्नि-कुंड के पार्श्व में, एक भयावना मनुष्य एक नंगे खड्ग के ऊपर जल छिड़ककर उसका अभिषेक कर रहा था। बड़े अद्भुत स्वर, अबोध भाषा और अनोखी मुद्रा में उसका कार्य-क्रम चल रहा था।

छ मनुष्यों के सहसा उस गुफा प्रवेश पर वह भयानक मनुष्य तिल-भर भी विकृत न हुआ। अबाध रूप से उसके मंत्र गूँज रहे थे।

उन प्रवेशकों ने देखा, रक्त, मांस और हड्डियों से वह गुफा भरी हुई, बड़ी दुर्गंधि दे रही थी। धुएँ से और भी साँस घुट रही थी। शीघ्र ही मंत्र-पाठ पूर्ण कर वह मनुष्य हाथ में खड्ग घुमाते हुए उठा। अग्नि की शिखाओं में चमचमाने लगा वह शस्त्र !

सिद्धार्थ सबसे आगे खड़े थे, तने हुए वक्षःस्थल और निर्भय दृष्टि से। उन्होंने पूछा—"कौन हो तुम ? क्या कर रहे हो यहाँ ?"

अट्टहास कर वह मनुष्य बोला—"आ गए तुम ? मेरे ही मंत्र-बल से खिंचे हुए हो तुम यहाँ। पूरे एक सौ आठ नर मुंडों की आवश्यकता है मुझे। तुम्हें भी उसी गिनती में सम्मिलित होना है। अभी तो इसकी बारी है, यह जो बँधा हुआ पड़ा है।"

"कौन हो तुम इस महाघृणित पापाचार में रत मनुष्य ? तुम्हें राजा के दंड की चिंता नहीं, तुम्हें भगवान् का भय नहीं ?"

"इस मुंडमाला में सुमेरु राजा के ही मुंड का बनाऊँगा, और भगवान् को तृप्त करूँगा।" बड़ी भयानक गर्जना से वह मनुष्य बोला—"तुम्हें जानना चाहिए, मैं आर्यावर्त का सुप्रसिद्ध दस्यु कालदंड हूँ !"

"तुमने भगवान् की तृप्ति का जो उपाय सोचा है, वह ठीक नहीं जान पड़ता। मुझे तुम पर और तुम्हारी बुद्धि पर दया आती है कालदंड ! तुम्हारा नाम, रूप और कर्म कितना ही भयंकर क्यों न हो, तुम मेरी प्रीति के पात्र हुए हो। मैं तुम्हें इस हिंसा के महान् पातक से अवश्य छुड़ाऊँगा।" सिद्धार्थ ने कहा।

"हः हः हः !" कालदंड बोला—"तुम्हारी उज्ज्वल कांति और मधुर वाणी मुझे भी प्रिय हो उठी है। इसलिये हे मेरे पंजे में फँसे

हुए मेरे आखेट ! मैं तुझ पर दया करता हूँ। तू अपने साथियों-सहित लौट जा इस अँधेरी गुफा से। भोले पथिक ! तू मेरी पूजा में विघ्न न डाल, नहीं तो पछतायगा।"

"हमें अपने प्राणों का कुछ भी मोह नहीं।" सिद्धार्थ ने कहा।

पाँचों शिष्यों ने बहुत आकुल होकर सिद्धार्थ के हाथ पकड़ लिए।

सिद्धार्थ ने हँसकर अपने हाथ छुड़ा लिए। वह बोले—"हे कालदंड ! मेरे कुछ प्रश्नों का उत्तर दोगे ?"

"हाँ।" कालदंड बोला असि को नचाते हुए—"क्यों नहीं ?"

"हम सबको किसने बनाया है ?"

"भगवान् ने।"

"बड़ा सुंदर और सत्य उत्तर दिया तुमने। ठीक है। जिनकी शेष हड्डियाँ यहाँ पर पड़ी हैं, उन्हें भी तो न ?"

"हाँ।"

"और जिसको मुंड छिन्न करने के लिये तुमने यहाँ बाँधकर रक्खा है, विवश और असहाय कर, उसे भी तो न ?"

"हाँ, उसे भी।"

"भगवान् हम सबका पिता हुआ न ?"

"नहीं।" फिर कुछ सोचकर कालदंड बोला—"हुआ, तो फिर इससे क्या ?"

"तुम्हारे कोई संतान है ?"

"नहीं।"

"यही कारण है तुम्हारी कठोरता का। फिर भी कोई चिंता नहीं। तुम अपने पिता का ध्यान करो। विचारो, क्या तुम्हारे रक्त से उनकी तृप्ति होगी कालदंड !"

"नहीं।" निश्चय-पूर्वक कहा कालदंड ने।

"फिर इनके रक्त से ही, जिनको तुम मारना चाहते हो, कैसे वह परमपिता तृप्त होगा ?"

"तुम अपने तर्क में अपने को विजयी समझकर चले जाओ। मैं तुम्हें जीवित ही जाने दूँगा यहाँ से। पर मेरा अहेर, उसके निश्चय से विरत नहीं कर सकते तुम मुझे।"

वह बँधा हुआ मनुष्य सिद्धार्थ और उनके साथियों के आगमन से बड़ा आश्वासित हो गया था, फिर कालदंड के वचन सुनकर चिल्लाने लगा, मुँह बँधा होने पर भी।
उसकी चीत्कार का अर्थ था—"बचा दो, बचा दो मुझे।"

"बचाऊँगा, अवश्य बचाऊँगा, धीरज रक्खो हे बंदी प्राणी!" सिद्धार्थ ने कहा उसकी ओर देखकर।

भद्रजित ने अचानक कुछ देखा, कालदंड के पैरों के निकट कुंडली खोलते हुए। वह परवश चिल्ला उठा—"नाग! नाग!" वह भागने लगा था गुफा के बाहर।

"सिद्धार्थ ने उसका हाथ पकड़कर उसे रोक लिया—"घबराओ नहीं! जब तक हमारा भाव उसके लिये शुद्ध है, वह हमें कुछ कर नहीं सकता।"

शेष चारों शिष्य भी उस काले विषधर को देखकर काँपने लगे, जो कालदंड के चरणों पर सरक रहा था।

भयभीत शिष्यों को देखकर कालदंड हँसने लगा—"यह मेरा पालतू जीव है। इसी के कारण तो राजधानी के इतने निकट निर्भय होकर यह काली-साधना कर रहा हूँ।"

"क्या यह तुम्हें काटता नहीं?" अश्वजित ने विकृत स्वर में पूछा।

कालदंड के विकट अट्टहास से सारी गुफा प्रतिध्वनित हो उठी—"क्यों काटेगा?" उसने सिद्धार्थ की ओर देखा—"पर तुम इस विषदंत को देखकर भी विचलित नहीं हुए हो?"

"मैं इसके भय का कारण नहीं हूँ, फिर स्वयं ही क्यों इससे डरूँगा ?"

"सच ?" कालदंड ने पूछा।

"हाँ सच।"

"लो, यह तुम्हारी ओर को आया।" कालदंड ने पैर से सर्प को सिद्धार्थ की दिशा में लथेड़ा।

सर्प सिद्धार्थ की ओर को नहीं बढ़ा, लौट-लौट आया। शिष्यगण भय-त्रस्त होकर दीवार की ओर सिमट गए, पर सिद्धार्थ स्थान-च्युत न हुए, और भी निर्भीकता से उन्होंने कालदंड को आँखों पर देखा, बड़े प्रेम और करुणा की दृष्टि से।

"मंत्र सिद्ध किया है क्या तुमने कोई ?" कालदंड ने फिर सर्प को उकसाया।

सर्प ने फिर फुंकार छोड़ी।

कालदंड ने उत्तेजना के साथ फिर सर्प पर पैरों से प्रहार किया।

सर्प ने झपटकर कालदंड की एड़ी में गहरे दाँत गड़ा दिए, और बिजली की चमक में वह गुफा के भीतरी अंधकार में न-जाने कहाँ को सरक गया।

बड़ी वेदना-जनक चीत्कार छोड़कर कालदंड एड़ी पकड़कर बैठ गया, और सिद्धार्थ से कहने लगा—"जानते हो तुम कोई मंत्र ? बचा दो मुझे, तुम्हारे पैर पड़ता हूँ। मैं यह हिंसावृत्ति छोड़ दूँगा। जैसे कहोगे, मैं वही वृत्ति धारण करने को प्रस्तुत हूँ।"

"नहीं कालदंड ! मैं नहीं जानता कोई मंत्र, काल का निश्चित दंश है एक-न-एक दिन, एक-न-एक घड़ी, उसका कोई मंत्र नहीं है।"

"है कैसे नहीं ?"

"यदि होता, तो आज धरती पर सभी जीवित होते।"

"मैं जानता था, पर मुझे न-जाने क्या हो गया ! मंत्र का सिरा

हाथ ही नहीं आ रहा है, बड़ी बुरी घड़ी में तुमने इस गुफा में प्रवेश किया।"

'नहीं कालदंड! यह न समझो। मुझे तुमसे कोई भी शत्रुता नहीं है।"

कालदंड धरती पर पड़ा-पड़ा छटपटाने लगा—"अरे कृतघ्न! क्या इसी दिन के लिये तुझे पाला था। मुझे ही डसना था क्या तुझे। मैं मर जाऊँगा। मुझे भयानक काल के दूत दिखाई दे रहे हैं। कोई नहीं बचा सकते तुम मुझे?"

बंदी फिर चिल्ला उठा।

"कोई नहीं, किसी को नहीं। तुम्हारे भयानक कर्मों ने कदाचित् तुम्हारी मृत्यु को समय से पहले बुला दिया।"

"हाँ, तुम्हारी मुक्ति की घड़ी आ पहुँची। ब्रह्मचारियो! डरते क्या हो अब भी। इस गुफा का कालदंड अब जी नहीं सकता, हमारा अनुशासन चलेगा अब यहाँ। खोल दो इस दीन मनुष्य के बंधन।" सिद्धार्थ ने कहा।

बंदी ने मुक्त होकर अनेक प्रकार से उन लोगों का गुणानुवाद किया, और अपने घर चला गया।

सर्प के विष से कालदंड कुछ समय में ही पंचत्व को प्राप्त हो गया।

शिष्यों को साथ लेकर फिर सिद्धार्थ तपस्या के लिये कोई उपयुक्त स्थान ढूँढते हुए वन-वन विचरने लगे।

१३. उरुवेला

जाते-जाते उन्हें अनेक प्रकार के साधक-तपस्वी मिले। कुछ अपने परिश्रम में पथ पर थे। अनेक दंभ, पाखंड और धूर्तता के भरे हुए, इंद्रियों के सुख में फँसे हुए थे।

एक मनुष्य दिन-भर अपने चारों ओर अग्नि प्रज्वलित कर ऊपर से सूर्य का ताप अपने ऊपर लेकर पंचाग्नि में तप रहा था।

सिद्धार्थ उसकी कष्ट-सहिष्णुता से आकर्षित हुए, और उन्होंने उस रात को वहीं विश्राम निश्चित किया।

तपश्चर्या से निवृत्त होने पर संध्या समय सिद्धार्थ ने देखा, उस साधक के शिष्यों ने नाना प्रकार के स्वादिष्ठ और पुष्ट भोजन के पदार्थ उनके भोजन के निमित्त उनके समीप रक्खे।

सिद्धार्थ बोले—"हे साधक! बुरा मानने की बात नहीं है। तुम जिसे तप-साधना समझ रहे हो, मैं उसे भानमती का खेल कहता हूँ।"

"भानमती का खेल?" दिन-भर का संगृहीत ताप मानो उसके नेत्रों से निकलने लगा। उसने सिद्धार्थ की ओर बड़ी वक्र दृष्टि से देखा—"क्या अर्थ है तुम्हारा?"

"यही कि तमने लोगों को विस्मय-मूढ़ बनाने के लिये एक अभ्यास बढ़ाया है, न कि प्रकृति के किसी रहस्य में प्रवेश प्राप्त किया है। मैं समझता हूँ, इससे तुम्हें कोई तत्त्व नहीं मिला। तुम्हारा मन अब भी भोगों का दास है, इंद्रियाँ चपल-चंचल।"

"क्या विना मन वश में किए ही यह उग्र ताप सहन कर रहा हूँ मैं? तुम कर सकते हो?"

"अभ्यास से कर सकता हूँ। केवल शीत और उष्ण के द्वंद्व

को सहन कर लेना कोई बात नहीं है। तुम अभी मान-अपमान की भावना से अतीत नहीं हो सके हो साधक !"

"कैसे कहते हो ?"

"मेरी सहज और शुद्ध भाव से की गई बात जैसे तुम्हें चुभ गई। पर मैं केवल तुम्हारे ही कल्याण के लिये प्रेरित हुआ हूँ। सुनो, इंद्रियों में रसना को विजित करना बड़ा कठिन है। यह एक ही इंद्रिय हमारी समस्त साधना को भूमिसात् कर देने में सदा सफल होती है। शेष चारों ज्ञानेंद्रियाँ इसी से बल पाकर हमें पराजित करती रहती हैं।"

"मैं नहीं समझता, मैं रसना-लोलुप हूँ। यह जो भोजन तुम देख रहे हो, यह रसना की तृप्ति के लिये नहीं है, यह शरीर के पोषण के लिये है।"

"जो मधुर गंध इस भोजन से पवन में फैल रही है, वह कुछ और कहती है। शरीर के पोषण के लिये बहुत सूक्ष्म और सरल भोजन पर्याप्त है। मैं समझता हूँ, शरीर के पोषक तत्त्व हम केवल पवन में से भी खींच सकते हैं।"

"तो क्या तुम केवल पवनाहारी हो ?"

"नहीं।"

"फिर चुप रहो। जहाँ गति नहीं, उसकी चर्चा ज्ञानी को शोभा नहीं देती।"

सिद्धार्थ निरुत्तर रहकर उस तपस्वी की बात पर विचार करने लगे।

तपस्वी बोला—"तुम मेरे अतिथि हो, बिना तुमसे भोजन करने का अनुरोध किए मैं खा नहीं सकता। खाना खा लो।"

सिद्धार्थ ने उन पाचों ब्रह्मचारियों की ओर देखा और विचार किया—"हम भिक्षु हैं। स्वादिष्ट भोजन की ओर हमारी प्रवृत्ति न

होनी चाहिए। भिक्षा में जैसा भी मिल जाय, उससे घृणा भी तो उचित नहीं।"

महानाग ने कहा—"जैसी आज्ञा हो गुरुदेव की।"

सबने भोजन किया। दूसरे दिन जब सिद्धार्थ ताप-साधक के पास से बिदा होने लगे, तो ताप-साधक उनके चरणों पर पड़कर गिड़-गिड़ाने लगा—"तुम कोई महात्मा हो, इसमें कोई संदेह नहीं। मैंने ताप को साधा है, शीत स्वयं ही सध गया है। मैं शिशिर की सारी-सारी दीर्घ निशा गले तक पानी में डूबकर बिता सकता हूँ। लोग मेरे इन कर्मों को बड़े आदर के भाव से देखते हैं। वे मेरी पूजा करते हैं, और मुझे बड़ा भारी सिद्ध समझते हैं। केवल एक तुमने ही प्रथम बार मेरी इस साधना पर साधारण दृष्टि निक्षेप की।"

सिद्धार्थ के मुख पर करुणा-भरी मुसकान उदित हुई!

ताप-साधक कहता जा रहा था—"पर मेरे हाथ कुछ भी आया नहीं है। सोचता हूँ, तुम्हारा यह कहना कि यह केवल एक भानमती का खेल है, ठीक ही है। तुम मुझे तत्त्वज्ञानी जान पड़ते हो, मुझे भी मार्ग-प्रदर्शन करो। मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा।"

सिद्धार्थ ने कहा—"सच पूछो तो भाई, मैं एक अंधा ही हूँ। अंधा दूसरे अंधे को क्या मार्ग बतावेगा?"

सिद्धार्थ के पैर पकड़ लिए उसने—"नहीं, तुम जानते हो। प्रकट है मार्ग तुम पर। तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा मैं।"

सिद्धार्थ ने कहा—"सुनो साधक, तुम्हारे मन में जो सत्य को जानने के लिये श्रद्धा प्रकट हुई है, यह बड़ा शुभ लक्षण है। अपमान की जो ज्वाला है, वह अग्नि की लपट से कहीं अधिक तापदायिनी है। उसे सहन करना सीखो, हँसते हुए मुख और प्रसन्न हृदय से। यह बात तुम पर खुल चुकी है कि एक द्वंद्व को जीत

लेने पर दूसरा द्वंद्व स्वयं आत्मसमर्पण कर देता है। जब तुमने ताप को वश में किया, तो शीत अपने आप तुम्हारे अधिकार में आ गया। ऐसे ही जब तुम अपमान करनेवालों को आशीर्वाद देना आरंभ करोगे, तो फिर तुम्हें मान की कोई इच्छा ही नहीं रह जायगी। तुमने समझा न ?"

साधक बोला—"हाँ, समझ रहा हूँ।"

"मैं सत्य की ही खोज में जा रहा हूँ। मैं अवश्य प्राप्त करूँगा उसे। अपने लिये नहीं, जगत् के कल्याण के लिये उस शाश्वत सत्य को लोक-संपत्ति बनाते हुए मैं वितरण करूँगा। मैं उस सत्य को सहज और सरल बनाऊँगा, तभी तुमसे इस विषय में और अधिक कह सकूँगा।" सिद्धार्थ ने कहा।

साधक ने सिद्धार्थ का गुणानुवाद किया। सिद्धार्थ उन पाँचों ब्रह्मचारियों के साथ आगे बढ़े।

जाते-जाते उन्होंने मार्ग छोड़ दिया। वे एक सघन वन में पहुँच गए, एकांत की खोज में। वहाँ जाकर उन्होंने एक वृक्ष के नीचे बैठा हुआ एक अद्भुत मनुष्य देखा।

नंगा ही था वह। जो वस्त्र उसके शरीर पर था, उसका अधिक भाग भूमि पर बिखरा हुआ था। शत-शत छिद्र थे उसमें, और महामलिन था वह। उसके बाल और अंग पर मैल की परत के ऊपर परत जमी हुई थी। उसने अपने बढ़े हुए हाथ के नखों से शरीर खुजा रक्खा था, जो नख-क्षत स्थान-स्थान पर भस्म-रेखाओं के समान उसके अंग-प्रत्यंग में सुशोभित हो रहे थे।

नेत्रों में एक स्थिर अभेद्य भाव लिए हुए वह बैठा था वहाँ पर। उतने मनुष्यों के सहसा वहाँ पर आ जाने से कोई भी विकृति न पहुँची उसे। वह चुप ही रहा।

सिद्धार्थ ने उसका असाधारण ढंग देखकर पूछा उससे—"क्या कर रहे हो तुम यहाँ पर ?"

"कुछ नहीं।" उसने उदासीन होकर कहा।

सिद्धार्थ पाँचों ब्रह्मचारियें के साथ बैठ गए वहाँ पर।

एक ब्रह्मचारी बोला—"कुछ तो अवश्य कर रहे हो ?"

उन लोगों को भी अपने ही समान असंसारी समझकर वह बोला—"तुमसे न छिपाऊँगा कुछ। मैं एक साधना कर रहा हूँ इस वन में।"

सिद्धार्थ अधिक आकृष्ट हुए उसकी ओर—"क्या साधना कर रहे हो ? हम पर प्रकट करने में कोई हानि न होगी। हम भी तो उसी मार्ग के पथिक हैं। संभव है, विचार-विनिमय से हम सबको ही कुछ-न-कुछ लाभ हो जाय।"

"हाँ।" कहकर वह चुप हो गया।

कुछ देर तक सबने उसके मुख खोलने की प्रतीक्षा की, पर वह फिर कुछ न बोला।

अंत में सिद्धार्थ ने कहा—"साधक ! तुम्हारे पास कोई भिक्षा-पात्र नहीं दिखाई दे रहा है, और न कहीं कोई भोजन की सामग्री। जनपद यहाँ से दूर है, तुम खाते क्या हो ? कंद-मूल ?"

"नहीं।"

"फिर ?"

"मैंने रसना को विजित किया है।" साधक बोला।

"रसना की जय एक बात है, बुभुक्षा की विजय दूसरी। क्या तुम्हें अन्न-जल की भी आवश्यकता नहीं ?"

"है क्यों नहीं।"

"फिर ?" सिद्धार्थ ने जिज्ञासा की।

"और यह पशु-पक्षी मेरे ही लिये तो खाते हैं।"

श्रोतागण अद्भुत कौतूहल के साथ एक दूसरे का मुख ताकने लगे।

"कोई आश्चर्य की बात नहीं। गेहूँ का वृक्ष जिस प्रकार तुम्हारे लिये खाता है, उसी प्रकार।" साधक बोला—"मैं उनका खाया हुआ खाता हूँ और कभी-कभी अपना खाया हुआ ही।"

पाँचों ब्रह्मचारी बड़ी घृणा के साथ उनसे दूर हटने लगे। एक ने कहा—"क्या तुम अघोरी हो?"

"हाँ, अघोरी हूँ।" उत्तेजित हो उठा वह "तुमसे लाखगुना अच्छा हूँ। जिसका नाम तुमने पवित्रता रक्खा है, मैं नहीं मानता उसको पवित्रता। क्या शरीर, भोजन और वस्त्र की शुद्धता निबाहते हुए तुम्हारे मन में कभी कोई अशुद्ध भाव उदित नहीं होता?"

"हम कुछ क्षण के लिये तुम्हारे मार्ग को बुरा न कहेंगे। तुमने क्या पाया इससे? क्या तुम्हारा मन अशुद्ध विचारों की जन्मभूमि नहीं है?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"मैं निर्द्वंद्व हो गया हूँ। पवित्रता और अपवित्रता का भेद नहीं रहा है मेरे मन में।" अघोरी बोला।

"यह तुम्हारा अहंकार है। मनुष्य का सबसे बड़ा वैरी, इसी ने हमारी प्रगति में रोड़े रक्खे हैं। तुम द्वंद्वों से परे नहीं हुए हो। तुम्हारे मन में उनके बीच का भेद वर्तमान है, तभी तो तुम हमारी पवित्रता को कोस रहे हो। सुनो, मनुष्य का मन ही विस्तार पाकर यह जगत् बन जाता है। जगत् में द्वंद्व के बने रहने का अर्थ है अभी तुम्हारा मन निर्द्वंद्व नहीं हुआ है। यह अघोर मार्ग क्यों ग्रहण किया तुमने? सृष्टि स्वभाव से ही प्रकाश की ओर खिंचती है। अंधकार पतन का सूचक है। यह मलिन और घृणित जीवन क्यों रुचिकर हुआ तुम्हें?"

"यह सबसे सरल और छोटा मार्ग है।" अघोरी बोला—"दक्षिण

और वाम, इन दोनो सिरों में सारी सृष्टि का एक-एक सूक्ष्म कण बँटा हुआ है। जो दक्षिण है, वही वाम है। फिर तुम क्यों मेरे इस अघोर पंथ को बुरा समझ रहे हो?"

"तुमने एक ही उक्ति में विरोधाभास दिया। तुमने दक्षिण और वाम दोनो को समान भी कहा और वाम मार्ग को सरल भी कहा है। तुमने दो वस्तुओं को एक ही समय में तुल्यता भी दी है और एक की विशेषता भी। यह असंभव तर्क है।"

अघोरी पंडित था। विचार में डूब गया। सिद्धार्थ ने मानो उसके सारे मस्तिष्क को आंदोलित कर दिया था।

पाँचों ब्रह्मचारी सिद्धार्थ के तर्क से अत्यंत प्रसन्न हुए। अघोरी के प्रति उनका तिरस्कार और भी बढ़ गया!

"अंधकार से हमें घृणा न करनी चाहिए। देखो, समस्त जड़-चेतनता सूर्य की ओर बढ़ती है, रात हो जाने पर वे सब-के-सब स्थिर और निद्रा के क्रोड़ में मृतप्राय हो जाते हैं।" सिद्धार्थ ने कहा।

"कुछ तो जागते ही हैं।" अघोरी बोला।

"तस्कर, हिंसक और उल्लू! क्या यही संज्ञा तुम भी चाहते हो?" सिद्धार्थ ने पूछा—"जिस प्रकार बिना अधिक परिश्रम किए ही चोर लोगों की श्री-संपत्ति का हरण कर ले जाता है, क्या उसी प्रकार तुम भी सृष्टि के भांडार में से ज्ञान की चोरी करना चाहते हो?"

"फिर क्या करूँ मैं?" अघोरी ने पूछा।

"क्रिया से नहीं, ज्ञान से मन को वश में करो, तभी तुम्हें निश्चित और स्थायी वश्यता मिलेगी।"

"पर मुझे मन को वश में करना इष्ट नहीं है।"

"कुछ भी हो, साधना का पहला और मुख्य अंग मन को वश में करना ही है।"

"मैं तो एक यक्ष को वशवर्ती करना चाहता हूँ।"

"किसलिये ?"

"मनचाहे संसार के भोग उपलब्ध कर देगा वह मेरे लिये।" अघोरी बोला।

हँसकर सिद्धार्थ ने कहा—"तब भी तो तुम्हें वश करना मन ही को है।"

"क्यों ? कैसे ?"

"इसी मन ने तो तुम्हें एक झूठा स्वप्न दिखाया है। यह भोगों से तृप्त होना चाहता है। कोई हुआ भोगों से तृप्त इस संसार में ? जिस प्रकार आहुतियाँ अग्नि की शिखाओं को बढ़ाती ही जाती हैं, ऐसे ही ये भोग हैं, इनकी कामना उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त होती रहती है। अचानक एक दिन मृत्यु आकर जब द्वार खटखटाने लगती है, तो फिर कोई भी उपाय काम नहीं देता। इसलिये इस मन को वश में करो। जब यह इंद्रियों के सुख की ओर धावमान होता है, तो उसे बुद्धि के बंधन से रोको, उससे कहो, यह क्षणिक है, केवल छाया है—एक कल्पना है।" सिद्धार्थ ने कहा।

"बात तो तुम्हारी ठीक जान पड़ रही है। पर मेरा मन न लगेगा उसमें।" अघोरी बोला।

"इच्छा रखने से ही कुछ होता है। एकत्र की हुई इच्छा का नाम ही विश्वास है। प्रकाश की ओर चलने की इच्छा रक्खो, उस इच्छा का पालन करो। जब वह इच्छा विश्वास में परिणत हो जायगी, तो तुम देखोगे कि तुम प्रकाश की संधि-भूमि पर आ गए हो। इसके आगे अभी नहीं जानता मैं, क्या है।"

"अच्छा, मैं तुम्हारी इच्छा का पालन करूँगा।"

"मेरी इच्छा का पालन क्या, अपने भीतर ही इच्छा उत्पन्न करो। सुनो, मलिनता रोग की अग्रदूती है, रोग जड़ता का और जड़ता मृत्यु का संदेशवाहक है।"

"समझ गया, मैं सब समझ गया।"

"चलो हमारे साथ फिर कुछ दूर तक। सरिता है कोई यहाँ पर ?"

"है, निकट ही निरंजना-नदी।"

सिद्धार्थ पाँचों ब्रह्मचारियों के साथ उसे निरंजना-नदी के किनारे ले गए। उन सबने मिलकर उसे नहलाया। उसके समस्त अंग में बालू रगड़-रगड़कर उसे चमकाया। कौंडिन्य ने अपना उत्तरीय देकर उसको पहना दिया।

नहा-धोकर स्वच्छ हो अघोरी ने बड़े संतोष की साँस ली— "हाँ, अच्छा तो ज्ञान हो रहा है, पर भूख लग गई है बड़ी। अब क्या होगा ? मैं देखता हूँ, वन में कहीं कुछ फल-फूल मिलते हैं तो, नहीं तो किसी ग्राम-जनपद तक भिक्षा के लिये यात्रा करनी पड़ेगी, क्योंकि अब जठराग्नि में पके हुए भोजन को छोड़कर मुझे अग्नि-पक्व भोजन खाना पड़ेगा। तुम लोगों ने मुझे स्नान कराने में बड़ा कष्ट किया। देखा जायगा फिर।" कहकर वह अघोरी भोजन की खोज में चला गया।

सिद्धार्थ अपने साथियों के साथ नदी के किनारे-किनारे चलने लगे।

कुछ दूर चलने पर उन्हें फिर एक मनुष्य मिला। वह आग पर कुछ पका रहा था, और उसके निकट ही हाथ में माला लेकर जप कर रहा था। उन आगंतुकों को देखकर वह और भी उच्च स्वर से जप करने लगा।

वप्र के भिक्षा-पात्र में कुछ चावल थे। उसने सिद्धार्थ से कहा—

"गुरुदेव ! यहाँ पर अग्नि और जल दोनो का सुबीता है। क्षुधा लग रही है। इन चावलों को पकाकर खाना खा लें, तो कैसा हो ?"

"ठीक ही है।" कहा सिद्धार्थ ने।

महानाग अग्नि के निकट जाकर देखने लगा, वह क्या पका रहा है। उस मनुष्य ने महानाग के इस कृत्य का अनुमोदन नहीं किया। हाथों के संकेत से उसे निवारण करने लगा, जिससे यह भी प्रकट हुआ कि वह मौनी है।

महानाग अपने साथियों के निकट चला गया—"जाने क्या पका रहा है, भोजन तो नहीं ज्ञात होता।"

एक माला पूर्ण हो जाने पर वह कुछ जल उस बर्तन में डाल रहा था, और एक छोटा-सा कंकड़ एक ढेर में जमा कर रहा था—जो कदाचित् उसकी मालाओं की गिनती थी।

शिष्यों में से किसी ने चूल्हा बनाया। एक ने चावल बीनकर धोए, एक लकड़ी ले आया। कौंडिन्य अग्नि लेने के लिये फिर उस मनुष्य के निकट गया। उसने बड़ी नम्रता से कुछ घास की पत्तियों में दो-चार कोयले ले जाने का संकेत किया।

उस मनुष्य ने हाथ से संकेत कर कुछ देर ठहर जाने को कहा। उसने अपनी माला पूरी की। एक हाथ के संपुट में जल लेकर आग पर रक्खे हुए बर्तन में छोड़ा। एक कंकड़ माला की गिनती का जमा किया और फिर बोला--"कहाँ से आ रहे हो तुम ?"

"राजगृह से।"

"अग्नि चाहिए ?"

"हाँ।"

उन दोनो को बातें करते सुनकर सिद्धार्थ भी वहाँ पर आ पहुँचे । पूछा उन्होंने—"क्या कर रहे हो तुम यहाँ पर ?"

"हिरण्यगर्भ बना रहा हूँ, और क्या कर रहा हूँ ।"

"क्या हुआ हिरण्यगर्भ ?" सिद्धार्थ ने पूछा ।

"हिरण्यगर्भ नहीं जानते ? कितने दिन की तपस्या है तुम्हारी ? आयु तो हिरण्यगर्भ को पहचानने की कभी की हो गई तुम्हारी । हिरण्यगर्भ वह झलकता हुआ गोलक है, सारी सृष्टि जिसकी परिक्रमा कर रही है । ब्रह्मा उसी में से उत्पन्न हुए हैं, और उसी से उत्पन्न हुए हैं चौदहों मनु । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चारों सूत्र उसी पर बँधे हुए हैं । संसार के समस्त नेह और नाते उसी से आरंभ हैं । स्त्री-पुरुष, गृही-संन्यासी, धनी-निर्धन, बालक-वृद्ध, सब उसी के चारों ओर नृत्य कर रहे हैं ।" उसने कहा ।

सिद्धार्थ हँसने लगे—"इस बर्तन में यह लौहखंड-सा क्या पका रहे हो ?"

"लौहखंड ही है । वही तो हिरण्य में बदल दिया जायगा ।" मनुष्य बोला ।

"तुम लौहवेधी हो ?"

"हाँ ।"

"क्या तुम्हें विश्वास है, यह लौह का टुकड़ा तुम्हारी इन पुटों के पाक से अपना स्वाभाविक गुण छोड़कर सुवर्ण में बदल जायगा ?" सिद्धार्थ ने पूछा ।

"बदलेगा कैसे नहीं । परिश्रम कम कर रहा हूँ मैं ! गुरु से विधि सीख रक्खी है । आठों प्रहर मंत्र-जप कर रहा हूँ ।"

"अद्भुत तर्क है तुम्हारा ! क्या मंत्र के जप से गर्दभ ऐरावत में, शूकरी कामधेनु में बदल सकती है ?"

"बदल सकती कैसे नहीं ? सिद्ध मंत्र चाहिए, शुद्ध साधना चाहिए, सच्ची लगन चाहिए।" लौहवेधी बोला।

"अच्छा, मान लो, कुछ क्षण के लिये बदल भी गया, तो इस लौह को सुवर्ण बनाकर क्या करोगे ?"

"क्या करूँगा ? तुम कैसे अबोध हो ! संसार के सब सुखों का स्रोत यही हिरण्यगर्भ तो है न ? मैं लौह के पर्वतों-के-पर्वत सुवर्ण में परिणत कर दूँगा। सारा जगत् मेरी परिक्रमा आरंभ करेगा। मैं नवीन राजवंश की नींव डालूँगा, नया राज्य स्थापित करूँगा, नए देश विजित करूँगा।"

"हे इंद्रिय-सुख में डूबे हुए प्राणी ! फिर क्या होगा ?"

"फिर क्या होगा ? धन से धर्म का भी तो संचय होता है। मैं दान करूँगा, दक्षिणा दूँगा, अन्न-सत्र खोलूँगा।" लौहवेधी ने कहा।

"यदि इसी को तुमने धर्म का प्रकृत रूप मान रक्खा है, तो यह भी न हो सकेगा। हे कंचन के पुजारी ! जब तक तुम्हारी इंद्रियों में बल रहेगा, तब तक तुम सदैव उन्हीं की तृप्ति के साधन जुटाते रहोगे। जब वे दुर्बल-रक्तहीन हो जायँगी, तब तुम धर्म की ओर प्रवृत्त होओगे, इस हेतु नहीं कि आत्मा का विकास हो, पर इसलिये कि शरीर का बल बढ़े, और तुम्हारी इंद्रिय-लिप्सा पूर्ण हो। परंतु निग्रह से ही इद्रियों की तृप्ति होती है, संग्रह से नहीं। मैं तुमसे पूछता हूँ। जब महाकाल अपना सुदृढ़ पाश लेकर तुम्हारे समीप खड़ा होकर तुम्हारे प्राणों को बाँध ले चलेगा, तो क्या यह तुम्हारा स्वर्ण-संग्रह उसे लौटा दे सकेगा ?"

लौहवेधी ने कहा—"मैं महामृत्युंजय का जप कराऊँगा।"

"सृष्टि के अनादि काल से अब तक तुमसे भी अधिक प्रताप-शाली इस धरती पर उत्पन्न हुए हैं। उनमें से एक भी तो कहीं पर

जप से, तप से, दान से, यज्ञ से, कल्प से. ओषधि से जीवित नहीं दिखाई देता। जो मृत्यु की साधारण अवस्था है, वहाँ तक भी तो कोई विरला ही पहुँच पाता है।"

लौहबेधी बोला—"बात तो तुम्हारी ठीक है। पर मैं तो ग्यारह वर्ष से इस साधना में लगा हुआ हूँ। बारहवें वर्ष में यह लौह ताम्र का रंग बदलेगा।"

"हे साधक, जीवन के इतने बहुमूल्य वर्ष यदि तुम इस मन के संस्कार में लगाए होते, तो तुम्हारी समस्त तृष्णाएँ उसी में विलीन हो गई होतीं। तुम्हें यह रहस्य मिल जाता कि सुवर्ण और पत्थर दोनो समान हैं।"

"नहीं-नहीं, केवल एक वर्ष की ही तो बात है; इतने अल्प समय के लिये मैं अपनी अधूरी तपस्या नहीं छोड़ सकता।"

"तुमने इसका नाम तपस्या रक्खा है। नहीं, आत्मिक उन्नति के लिये जो कष्ट साधा जाता है, केवल उसी का नाम तपस्या है। भौतिक सुखों के पीछे लगे रहने के श्रम को तपस्या नाम देना अज्ञान है। जिस प्रकार पत्थर की दीवार में सेंध लगाकर तस्कर सुवर्ण को चुराता है, ऐसे ही इस लौह का बेधन कर तुम हिरण्य प्राप्त करना चाहते हो, जो एक कवि की कोरी कल्पना है। प्रकृत लौहबेध का तुम अर्थ ही नहीं समझे हो।"

"तुम बता सकते हो?"

"हाँ, कामना ही वह लौह का शृंखल है, जिसने हमारी इंद्रियों के मार्ग से हमारे मन को संसार के भोगों से जकड़ रक्खा है। उसका बेधन करना है मन को पार्थिव भोगों से हटाकर आत्मा में लीन करना।"

"क्या वह एक कामना नहीं हुई?"

"नहीं, उसका नाम साधना है। जिस सुवर्ण के स्वप्न तुम देख

रहे हो, वह केवल एक मरीचिका है। उसके जितने निकट जाओगे, उतनी ही दूर वह चली जायगी। नित्य ही नवीन तृष्णा से आकुल रहोगे, और एक दिन जब मृत्यु आकर तुम्हारी चोटी पकड़ लेगी, तब तुम्हारा यह हिरण्यगर्भ तुम्हें बचा न सकेगा।"

"श्री की शक्ति कभी व्यवहार में भी आई है, या ये सब सुनी-सुनाई बातें ही कह रहे हो? कभी किसी श्रीमंत का भवन देखा भी है तुमने ?"

"जन्म ही वहाँ हुआ है मेरा।" अत्यंत साधारण भाव से कहा सिद्धार्थ ने।

लोहवेधी ने विचलित होकर पूछा—"जन्म ही वहाँ हुआ है ? कहाँ ?"

कौंडिन्य ने कहा—"कपिलवस्तु के युवराज हैं यह, इन्हें क्या तुम कोई साधारण भिक्षु समझ रहे हो ?"

"तुमने राजभवन का त्यागकर यह वेश धारण कर लिया क्यों ?" लोहवेधी ने पूछा।

"आत्मा की प्राप्ति के लिये।" सिद्धार्थ ने उत्तर दिया।

"कुछ प्राप्त कर त्याग करना ही तो प्रकृत त्याग है युवराज! यह सुवर्ण प्राप्त कर लेने दो मुझे। उस कनक के जगत् में विचरण करूँगा मैं एक बार। यदि उस वातावरण में आत्म-चिंतन की बाधा मिली, तो छोड़ दूँगा उसे।" फिर संकल्प लेकर वह लोहवेधी जप करने लगा।

सिद्धार्थ लौट गए उसके पास से।

चूल्हा जलाकर भोजन तैयार हुआ। पत्तों में परोस ही रहे थे वे कि एक ऊर्ध्वबाहु उनके समीप आकर खड़ा हो गया।

सिद्धार्थ ने देखा, उसकी एक बाहु सूख गई थी काष्ठ के समान, कदाचित् वह उसे हिला-डुला भी नहीं सकता था। उस हाथ की

उँगलियाँ बड़े-बड़े नखों के उग आने से बड़ी विकराल हो गई थीं। अँगूठे का नख हथेली को छेदकर हाथ की पीठ पर निकल आया था।

भोजन परोसा ही रह गया सिद्धार्थ के सामने। शिष्यों के भी हाथ रुके रह गए।

सिद्धार्थ ने कहा—"तुम्हारा यह हाथ कैसा निर्जीव हो गया। या कैसा रोग लग गया? कोई औषधि नहीं की तुमने? बड़ी असुविधा उत्पन्न हो गई होगी इससे तुम्हारे जीवन में?"

"यह रोग नहीं है। जान-बूझकर सुखा दिया मैंने इस इंद्रिय को।"

"किसी राजदंड के कारण?"

"नहीं, स्वेच्छा से।"

"क्यों?"

"लोग समझते हैं, यह हाथ मैंने भगवान् को समर्पित कर दिया। परंतु मेरा उद्देश्य है, यह मैंने पेट के लिये किया।" ऊर्ध्वबाहु ने कहा।

"पेट के लिये? बहुत ही लघु उद्देश्य के लिये तुमने बहुत बड़ा समर्पण किया। मैं तो समझता हूँ, इससे मन की चपलता किसी अंश में कम हुई होगी।"

"नहीं हुई! तुमसे झूठ बोलकर क्या करना है मुझे।" ऊर्ध्वबाहु ने अपना जीवित हाथ अपने पेट पर रक्खा।

"भूख लगी है तुम्हें? भोजन करोगे?"

"हाँ।" ऊर्ध्वबाहु ने आप्यायित होकर कहा।

सिद्धार्थ ने अपना आसन ऊर्ध्वबाहु के लिये छोड़ दिया। कौंडिन्य ने कहा—"गुरुदेव, एक मनुष्य के लिये पर्याप्त भोजन बचाकर रक्खा है हमने।"

"कोई चिंता नहीं, मैं उसमें से ले लूँगा।" सिद्धार्थ ने

कहा। उन्होंने अपने आसन पर उस सूखे हुए हाथ के अतिथि को बैठा दिया।

सबसे भोजन करने को कहकर सिद्धार्थ ने कौर उठाकर मुँह में डाला। ऊर्ध्वबाहु के निकट ही उन्होंने अपना आसन लगाया था। उन्होंने कहा—"ऊर्ध्वबाहु, तुम्हारा त्याग स्तुति के योग्य है। तुमने उस पर किसी अहंकार की स्थापना नहीं की है, इससे उसका और भी महत्त्व बढ़ा है। हमको भ्रमित कर देनेवाली इन समस्त इंद्रियों की जड़ें हमारे मन में हैं। यदि वहाँ हम इनका मूलोच्छेदन कर दें, तो बाहर से ये हरी रहकर भी हमारा कुछ बिगाड़ नहीं कर सकतीं। तुम्हें कुछ पीड़ा तो नहीं होती?"

"आरंभ के कुछ दिनों में अनुभव की थी, फिर स्वभाव हो जाने से अब कुछ प्रतीत नहीं होती।"

"इस त्याग से क्या लाभ हुआ तुम्हें?"

"लाभ? क्या बताऊँ? भिक्षा के लिये अधिक देर ठहरना नहीं पड़ता। इस सूखे हुए हाथ को देखकर लोगों की करुणा आपातत: उमड़ पड़ती है।"

सिद्धार्थ हँस पड़े—"यह तो कुछ भी नहीं हुआ। इस त्याग ने तो तुम्हारे ग्रहण को ही पुष्ट किया।

ऊर्ध्वबाहु ने विनम्रता-पूर्वक कहा—"हाँ महाराज!"

"कर्म के साथ ज्ञान की संधि हुए विना हम मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकते। उस लौहवेधी को देखो। वह बड़ी कठिन तपस्या कर रहा है, पर ज्ञान उसके साथ नहीं है। माया में डूबा हुआ, बंधन पर बंधन बढ़ा रहा है अपने। तुम उससे कहीं बढ़कर हो ऊर्ध्वबाहु! अपने स्वरूप को पहचानो। इस विचार में न रहो कि भिक्षा के लिये तुमने यह हाथ सुखाया है, वरन् यह समझो कि मन पर प्रभुता स्थापन करना तुम्हारा उद्देश्य है।"

"यही समझूँगा गुरुदेव ! मुझे भी कोई मंत्र दे दीजिए। बड़ा अनुग्रह होगा इस सेवक पर।"

"मैं स्वयं कोई मंत्र नहीं जानता। मुख्य वस्तु तो भाव है। भाव मंत्र से इतना नहीं जागता, जितना ध्यान से।"

"कोई ध्यान ही बता दीजिए।"

"क्या बताऊँ? उसी को साधने के लिये उपयुक्त स्थान खोज रहा हूँ। जब कुछ मिल जायगा, मुझे उसमें तुम्हारा भाग तुम्हें दे देने में कोई आपत्ति न होगी।" सिद्धार्थ ने कहा।

"इस निरंजना-नदी के किनारे आगे चलकर बड़ा अच्छा एकांत है।" ऊर्ध्वबाहु ने कहा।

खा-पीकर सिद्धार्थ शिष्यों के साथ नदी के किनारे-किनारे आगे बढ़े। ऊर्ध्वबाहु ने अपना मार्ग लिया। लौहबेधी अत्यंत उच्च स्वर में अपने मंत्र की आवृत्तियाँ कर रहा था।

कुछ दूर आगे चलकर एक स्थान पर धुएँ के बादल देख पड़े, और निकट जाने पर देखा, गगन-चुंबी शिखाओं में नदी के तट पर प्रचंड अग्नि जला रक्खी थी किसी ने।

सिद्धार्थ ने पूछा—"यह आग क्यों जला रक्खी होगी?"

कौंडिन्य ने कहा—"जान पड़ता है, किसी ने यह चिता जला रक्खी है किसी मृतक के दाह के लिये। अनेक मनुष्य भी एकत्र हैं वहाँ पर।"

सिद्धार्थ बोले—"ठीक है, यही स्थान उपयुक्त जान पड़ता है। मृत्यु के इस अंतिम पड़ाव पर कदाचित् जन्म का रहस्य अपनी कथा सुनावेगा।"

मृदु मर्मर-ध्वनि से निरंजना बह रही थी। लहरों से भरा हुआ उसका वक्षः-स्थल आकाश की नीलिमा और तट पर की हरियाली से प्रतिफलित हो रहा था। शाखा-पत्रों की आड़ से पक्षियों की सुमधुर

ध्वनि सुनाई दे रही थी और वीचि-प्रवाह के बीच से मछलियाँ उछल रही थीं हवा के समुद्र में ।

वे चिता के निकट आ गए। वहाँ पहुँचकर ज्ञात हुआ, निकट ही उरुबेला-नामक एक ग्राम था । मृतक वहीं का एक मनुष्य था ।

सिद्धार्थ चिता के निकट जाकर बड़े मनोयोग से देखने लगे । अग्नि की कराल लपटों में वह शव चटचटा रहा था । सिद्धार्थ विचारने लगे—" अभी कुछ समय पहले तक यह मनुष्य शीत और ताप से अपने शरीर को बचाता होगा, अब कुछ भी नहीं ! मित्र-संबंधी जब इसकी साँस चलती होगी, तब तक इसकी रक्षा करते होंगे । अब उन्होंने ही इसे चिता में रखकर उसमें अग्नि उत्पन्न की है । वह दया, वह माया, वह यत्न, वह उपचार सबका त्याग कर दिया गया । हाय रे जीवन के अंत ! जब यह मनुष्य अपना शृंगार करता होगा, स्नान और उबटन से अपने इस शरीर को उज्ज्वल और कोमल बनाता होगा, तब क्या इसने कभी समझा होगा यह दिन । स्निग्ध और स्वादु भोजन से जब यह अपना उदर भरता होगा, तब क्या इस घड़ी की कल्पना की होगी इसने कभी ?"

शव बहुत कुछ जल चुका था । सिद्धार्थ ने उस कुरूप, काले पंजर को देखा । वह अत्यंत अधीर हो उठे, उनके नेत्रों से आँसू बहने लगे । उन्होंने कहा—"कौंडिन्य ! एक दिन हम भी ऐसे ही हो जावेंगे । एक छोटे-से काँटे से बचने के लिये बड़ी सावधानी बर्तते हैं, उस दिन फिर इस कठोर और उत्तप्त शय्या में हमारा भी सिरहाना होगा ।" कौंडिन्य ने हाथ जोड़कर दीर्घ श्वास ली ।

एक मनुष्य एक बाँस से उस शव की कपाल-क्रिया करने लगा था ।

सिद्धार्थ ने कहा—"देखो कौंडिन्य ! यह मस्तक एक दिन अनुराग, घृणा, प्रत्युपकार और प्रतिहिंसा की शत-शत भावनाओं का केंद्र बना होगा । बड़ी शीघ्रता से अग्नि इसके तत्त्वों को विभाजित कर रही है ।

इस शव के अंतिम साथी इसकी खोपड़ी को तोड़, समग्र को छोटा कर शीघ्र ही इससे विदा हो जाने को अधीर हैं।"

"हाँ गुरुदेव ! ऐसा ही विचित्र संसार का चक्र है।"

चिता निर्वापित कर शव-यात्री चल दिए उरुवेला के ग्राम को।

सिद्धार्थ कहने लगे—"मनुष्य के जीवन का ऐसा भीषण अंत देखकर भी ये सब लोग चले गए, जगत् के रंगों में अपने मन को भुला देने के लिये। सिद्धार्थ न जावेगा अब कहीं। बड़ा रमणीक स्थान है यह। इस भयानक श्मशान में एक अद्भुत आकर्षण है। जीवन का अंत यहाँ बड़े स्पष्ट रूप में परिलक्षित है। यहाँ के रजः-कण में नर-देह की भस्म मिली हुई है, शिलाओं के साथ अस्थियाँ खेल रही हैं। वृक्षों के शाखा-पत्र चिता की धूम तथा लपटों से धूमिल और झुलसी हुई हैं। इस श्मशान का एक-एक क्षण मृत्यु के सार्वभौमिक अट्टहास्य पर विजय की ताल दे रहा है। कौंडिन्य, मैं न जाऊँगा यहाँ से अब कहीं। यहाँ पर मृत्यु ने अपने को अच्छेद्य आवरण में ढक लिया है। जब तक मैं उस आवरण को उलट न दूँगा, तब तक यहीं रहूँगा।"

"हम गुरुदेव के अनुचर हैं, हम भी आपकी ही सेवा में यहाँ रहेंगे। आप निश्चित होकर तपश्चर्या करें। जनपद निकट ही है। हम नित्य भिक्षा-आचरण कर ले आवेंगे।" कौंडिन्य ने उत्तर दिया।

मंद मुसकान के साथ सिद्धार्थ ने कहा—"उसकी भी आवश्यकता न रहेगी कौंडिन्य !"

चौंककर कौंडिन्य ने कहा—"गुरुदेव !"

"हाँ कौंडिन्य ! आचार्य रुद्रक ने पंचभूतों का कुछ रहस्य समझाया है मुझे। मैंने उस पर विश्वास किया है और मैं उस पर प्रयोग करूँगा। ध्यान के उच्च स्वरों में जब रेचक और पूरक दोनों एक-दूसरे में मिलकर कुंभक में विलीन हो जाते हैं, तब भोजन आवश्यक नहीं रहता।

सबसे आवश्यक हमारे लिये पवन है, जब उसका ही प्रयोजन न रहेगा, तो फिर अन्न का दाना क्या चाहिए।"

"गुरुदेव!" पाँचों शिष्यों के मुख पर एक शंका अंकित हुई—"यह संभव है? बिना अन्न ...के?"

"हाँ, बिना अन्न के। अन्न में तम का, आलस्य का बीज है। इंद्रियाँ उसी से बल पाकर मन की दिशा-विदिशाओं में घसीटती हैं। ध्यान में बाधा पड़ती है, और समाधि प्राप्त नहीं होती।"

कौंडिन्य बोला—"आचार्य रुद्रक को हमने कभी दीर्घ उपवास करते हुए नहीं देखा। आप कब तक निरन्न और निराधार रहेंगे?"

"जब तक असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त न होगी, तब तक सत्य का साक्षात्कार न होगा।"

"यदि इस उग्र तपस्या में आपकी प्राण-हानि हो गई तो?"

"मृत्यु अटल और अवश्यंभावी है। इस हेतु मैं उसका भय छोड़ चुका हूँ। इस शून्य श्मशान के संसर्ग से मैं और भी अधिक निर्भय हो जाऊँगा।"

"जब आप निरशन ही रहेंगे, तो पेट की ज्वाला क्या आपके ध्यान को अविचल रहने देगी?"

"शनैः शनैः कौंडिन्य। मैं एक-एक ग्रास घटाता जाऊँगा प्रति दिन, फिर कुछ दिन पश्चात् एक-एक दाना कम करता जाऊँगा। इससे शारीरिक दुर्बलता मुझे पराजित न कर सकेगी। उस ताप-साधक और ऊर्ध्वबाहु को नहीं देखा तुमने। उनकी साधना से यही रहस्य मैंने सीखा। धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा।"

कौंडिन्य ने कहा—"भगवान् आपकी इस कठिन साधना में आपके सहायक हों। हम रात-दिन यही कामना करेंगे।"

इंद्रिय-जय और पाप-चिंता के क्षय के लिये सिद्धार्थ महान् कठिन

व्रत में व्रती हुए। प्रथमतः भूमि पर आसन लगाकर आस्फानक-नामक महा ध्यान में प्रवृत्त हुए।

बड़ा सुंदर एकांत था। मृत्यु के भय से भागा हुआ बहुत दिन में भी वहाँ आता न था। शौच-स्नान, भोजन-विश्राम से बचा हुआ सारा समय सिद्धार्थ ध्यानासन में ही बिताते। शिष्यगण भिक्षा माँगकर लाते और उनकी सेवा करते।

धीरे-धीरे सिद्धार्थ ने भोजन का एक-एक ग्रास प्रति पूर्णिमा को कम करना आरंभ किया, उनकी निद्रा भी क्रमशः घटती गई। उनके ध्यान की एकाग्रता बढ़ती गई। अब बड़ी देर तक वह एक आसन, एक मुद्रा और एक भाव में बाहरी जगत् को भूल जाने लगे। अब उनका शरीर उतना थककर विश्राम न माँगता, अब उनका मन संकल्प से घबराकर उड़ न जाता दूर-दूर की दिशाओं में।

शिष्यगण भी उनके साथ नियम-पूर्वक ध्यान में बैठते, उनकी चिंताएँ शीघ्र ही उनके मन की एकाकारता को जमने न देतीं। वे उठ जाते और सिद्धार्थ की तन्मयता को अत्यंत आश्चर्य और कौतुक के साथ निहारते।

धीरे-धीरे सिद्धार्थ के रात की नींद भी तिरोहित हो चली। शिष्यगण सोते-सोते रात को जब उठते, तो वे सिद्धार्थ को वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित ही देखते।

एक के पश्चात् दूसरा वर्ष बीत चला और सिद्धार्थ की तपस्या अत्यंत कठिन हो चली। वह अग्निपक्व भोजन छोड़कर तिल और चावल ही खाने लगे कच्चे। उसमें से एक-एक दाना भी नित्य कम करने लगे।

एक दिन की बात है। शिष्यगण निकट के जनपदों में भिक्षार्थ गए हुए थे। सिद्धार्थ पूरे रंग और रेखाओं के जाल में अपने ध्यान को पकड़े हुए थे। अचानक उनके ध्यान में एक कमल का

फूल मानो बल-पूर्वक धस आया। उसकी पँखुरियाँ अनावृत हो उठीं और उसमें से एक नारी-मूर्ति सजीव हो उठी। सिद्धार्थ ने उसे अपने मनोबल से ध्यानांतरित कर देना चाहा, पर वह टस-से-मस नहीं हुई। सिद्धार्थ के आश्चर्य की सीमा न रही, जब उन्होंने उसे पहचाना। उन्होंने पुकारा—"कौन चित्रा !"

"हाँ, चित्रा ही हूँ।"

स्पष्ट सुना सिद्धार्थ ने। वह फिर बोले—"तुम मेरे मन के भीतर यहाँ कहाँ आ गई हो ?"

"यहीं तो हमारा वास्तविक घर है।"

"तुम चली जाओ चित्रा, मुझे भय लगता है।"

"नहीं राजकुमार, हम तुम्हारा मनोरंजन करेंगी।"

"मुझे मनोरंजन नहीं चाहिए। मैं उसे सुखा देना चाहता हूँ।"

"नहीं, सूख नहीं सकता वह। हम सूखने न देंगी उसे।"

"क्यों, मैंने क्या अपराध किया है तुम्हारा ?"

"हमारा ही दोष क्या है ? क्यों घृणा करने लगे तुम हमसे ? हमने तुम्हें प्रेम करना सिखाया है।"

सिद्धार्थ ने आँखें खोल दीं। आसन से उठकर वह उस श्मशान में धीरे-धीरे टहलने लगे। कुछ क्षण के अनंतर उन्होंने बैठकर फिर ध्यान जमाया। इस बार फिर उनकी कल्पना के विरुद्ध उन्होंने एक भयंकर और डरावनी मूर्ति देखी। उन्होंने उससे पूछा 'कौन हो तुम ?"

"मैं कामनाओं का अधिपति मार हूँ।"

"मार ! तुम्हें मेरे ध्यान में आने का प्रयोजन क्या है ?'

"युवराज ! मैं तुम्हारे हित की बात कहने आया हूँ तुमसे। यहाँ श्मशान की अपवित्रता में क्यों अपना समय नष्ट कर रहे हो ? क्यों यह देह सुखा रहे हो। इस प्रकार कुछ न होगा। चलो,

अपनी राजधानी को लौट चलो। मैं तुम्हें चक्रवर्ती राज्य दूँगा।

"दूर हो, दूर हो, हे मार ! मुझे कुछ नहीं चाहिए।"

"देखो, मेरे साथ शत्रुता न साधो। इससे तुम्हारा कल्याण न होगा।"

"हे मार ! तू मेरे ही मन की कल्पना है, तू मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।"

"यह तेरा अज्ञान है भोले राजकुमार ! मैं तेरे मन की कल्पना नहीं हूँ, तेरा मन मेरी रचना है। मैं तुझे अभी कुछ समय देता हूँ, तू विचारकर ठीक ठीक निश्चय पर पहुँच।" कहकर वह कामदेव अदृश्य हो गया।

सिद्धार्थ ने आँखें मूँदकर ही विचार किया—"क्या सचमुच मेरा मन कामनाओं की ही उपज है?... नहीं, नहीं। यह उसका दर्प है। मेरे पास विवेक है। वह उसे धूमिल कर मेरे मन का स्वामी बनना चाहता है। मैं बिलकुल भिन्न हूँ, मन से भी सर्वथा परे। मन की समस्त धाराएँ मेरे ही पास हैं। मेरे साथ विग्रह कर काम सफल-काम हो नहीं सकता।"

वह फिर मार को सर्वथा मन से भुलाकर ध्यान करने लगे। अचानक तीन सुंदर और सुकुमार रमणियाँ उनको दिखाई दीं। बहुत स्पष्ट, मानो धरती पर प्रकाश में। "कौन हो तुम ?'

एक ने उत्तर दिया—'हम काम-दुहिताएँ हैं। मेरा नाम तृष्णा है।"

"तृष्णे ! मैं तो तुझे कभी का छोड़ चुका हूँ। फिर तुम क्यों आई हो ?'

"युवराज ! तुम्हारे ऊपर हमें दया आई है। तुमने शरीर की ऐसी दशा कर दी। इस प्रकार कितने दिन जीवित रहोगे ? जब जीवन ही न रहेगा, तो फिर साधना कैसे होगी ?"

"तुम मेरे लिये यह एक भ्रम लेकर आई हो, मैं इसमें न पड़ूँगा। आधी मुट्ठी तिल-तंदुलों में मेरे जीवन की तृष्णा अटकी हुई है। तुम उसे भी ले लेने के लिये आई हो तृष्णा! अच्छी बात है, मैं इनका भी त्याग कर दूँगा।"

"नहीं-नहीं, राजकुमार! हम तुम्हारे लिये नित्य षट्रस भोजन ला सकती हैं, केवल तुम्हारे संकेत की आवश्यकता है।"

"और तुम किसलिये आई हो?" सिद्धार्थ ने दूसरी सुंदरी से पूछा।

"मेरा नाम रति है। तृष्णा के बताए हुए मार्ग में मैं पथ की प्रदर्शिका हूँ।"

"जब तृष्णा का मार्ग ही मेरा नहीं है, तो उसकी प्रदर्शिका ही से क्या प्रयोजन है फिर? और तुम्हारा नाम क्या है?" सिद्धार्थ ने तीसरी से पूछा।

"अरति है मेरा नाम।" उसने उत्तर दिया।

"अरति?" सिद्धार्थ ने आश्चर्य-भरी जिज्ञासा की।

"हम दोनो में आकाश-पाताल का अंतर केवल नाम-मात्र का ही है राजकुमार! वैसे हम दोनो सहोदरा हैं। तृष्णा का कार्य-साधन जैसा रति करती है, वैसा ही यह अरति भी। जहाँ रति होगी, वहाँ अरति भी।"

"और वहाँ क्या सबसे पहले तृष्णा न होगी?" तृष्णा ने कहा।

"और जहाँ तृष्णा ही न होगी, वहाँ तुम दोनो?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"जहाँ मन होगा, वहाँ तृष्णा होगी ही। सच कहो राजकुमार! क्या तुम विना किसी तृष्णा के ही इस श्मशान में आए हो? माना, तुमने कुछ त्याग किया है, क्या कुछ पाने की पिपासा नहीं रखते हो मन में?" तृष्णा बोली।

"जिस शक्ति से आकर्षित हो रहे हो, वह मैं हूँ।" रति बोली;
"और जिस शक्ति से परित्याग कर रहे हो, वह मैं हूँ।"

"तुमने आकर मुझे भ्रम से बाँध दिया।" असहाय-से होकर सिद्धार्थ ने कहा।

"हाँ।" कहता हुआ एक बड़ा विकराल दैत्य प्रकट हुआ वहाँ पर—"मैं ही भ्रम हूँ। मार के सेनापतियों में से एक।"

"देखा जायगा भ्रम! तुम मुझे कुछ भी बाधा न पहुँचा सकोगे। जिस प्रकार मैं अंधकार में से अपना मार्ग निकालता आ रहा हूँ, भ्रम में से भी सत्य की चिनगारियाँ ढूँढ़ लूँगा। बाहर के समस्त शत्रु मेरे मन ही में आकर प्रकट हो गए तुम! तुम मेरे अहंकार से बढ़कर नहीं हो। जब तक मेरा यह ज्ञान जागरूक है, सत्य के मुझे दर्शन हों या नहीं, कम-से-कम तुम मुझे पराजित नहीं कर सकते। मेरी इच्छाओं पर प्रभुता करनेवाले! मेरी कामनाओं को अपनी डोर में बाँधनेवाले हे मार! मैंने तेरे आधार को देख लिया है। तू दाने पर ठहरा हुआ है, और मैं स्थित हो जाऊँगा पवन पर—मैं प्राण में ही प्राण की प्रतिष्ठा कर दूँगा।" कहते हुए सिद्धार्थ आसन पर से उठ गए।

शिष्यों से सिद्धार्थ ने कहा—"धीरे-धीरे जीवन के कई बहुमूल्य वर्ष बीत गए हैं। मार्ग के मित्र और शत्रुओं की पहचान में ही इतना समय अतिवाहित हुआ है। अब मेरा स्पष्ट रूप से शत्रु से सामना हुआ है।"

"गुरुदेव, हमें भी यदि शत्रु का परिचय दिया जाय।" सिद्धार्थ का प्रिय शिष्य कौंडिन्य बोला।

"कामना ही तो शत्रु है कौंडिन्य! यह अनेक बार हमने निश्चित किया है।"

"उसका शमन कैसे हो?"

"उसका शमन इतना कठिन है कि असंभव कहा जा सकता है।"

"फिर ?"

"उसे उत्पन्न ही न होने देना उसका शमन है। संपुट में के तिल और अक्षत बीत चले हैं, जैसे इस जीवन के शत-शत कृष्ण और शुक्र पक्ष ! अब इनको यहीं समाप्त कर मैं आज से केवल एक बदरीफल खाऊँगा।" सिद्धार्थ ने कहा।

कौंडिन्य उनके चरण पकड़कर चिल्लाया—"नहीं, गुरुदेव !"

"शिष्य गुरु पर कोई अनुरोध नहीं करता। यही उसका शील है कौंडिन्य। मैं उदर के अधिक भाग को जल से भर लूँगा। उसमें भी पोषक तत्त्वों की कमी नहीं है।"

सिद्धार्थ केवल एक बदरी का दाना और जल पीकर ही रहने लगे। मार के साथ उनका भयानक संघर्ष चला। अब वह एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय को ध्यान के आसन पर ही बैठे-बैठे बिता देते। आँखें निमीलित ही रहतीं। उन्होंने अधर भी सी लिए। शिष्यगण नियत समय पर एक बेर का दाना उनके मुख में रख देते और मिट्टी के पात्र से उन्हें जल पिला देते।

— — —

१७. युद्ध और विजय

इस प्रकार कठोर तपस्या करते-करते उरुवेला में सिद्धार्थ को ६ वर्ष बीत गए। कभी रंग और रस के जगत् की रचना कर काम-दुहिताएँ उनके मन को प्रेम से आकृष्ट कर लेने के लिये आतीं और कभी मार की सेना नाना प्रकार के भय दिखाकर उन्हें भग्न-संकल्प कर देना चाहतीं। कभी मार का सखा वसंत चित्रा, भैरवी, कमलिनी, सुरभि और सुरुचि के साथ आकर उन्हें जीवन की आशा-उमंग दिखाता और कभी स्वयं मार उनके समीप उपस्थित होकर मृत्यु का भय-दंड उनके सम्मुख रखता।

अपने प्रचंड मनोबल से सिद्धार्थ उनका दलन कर सत्त्व के प्रकाश में बहुत आगे बढ़ जाते। परंतु फिर मार की शक्ति उन्हें युद्ध के मैदान में खींच लेती। वह फिर युद्ध करते, फिर आगे बढ़ते और फिर शत्रु के ही बीच में फँस जाते।

सिद्धार्थ मार पर विजय प्राप्त करने के लिये प्राण पण से कटिबद्ध हो गए। केवल एक बेर का दाना उनके प्राणों का संबल बना हुआ था, उसके लिये भी अब उन्होंने मुख न खोला। केवल जल और पवन पर ही उनके प्राण चलने लगे।

वह सूखकर काँटा हो गए। उनका सारा अस्थि-पंजर त्वचा पर निकल आया। रक्त सूख गया। समस्त अंग में झुर्रियाँ पड़ गईं। कपोल, नेत्र, पेट, सबमें गड्ढे पड़ गए। उनकी कनक-उज्ज्वल देह-कांति मलिन हो गई!

शिष्यगण अब सिद्धार्थ को अकेला न छोड़ते। वे रात को भी बारी-बारी से जागकर उनका पहरा देते। कभी-कभी उनके श्वास

का प्रवाह भी निःस्पंद जान पड़ता। शिष्यगण उस समय आकुल होकर एक दूसरे का मुख देखने लगते।

एक दिन सिद्धार्थ ने ध्यान में एक नवीन व्यक्ति देखा। बड़ा सात्विक रूप और वेश। उसके हाथ में वीणा थी। सिद्धार्थ ने पहले उसे मार का ही कोई प्रपंच समझा। वह उदासीन ही रहे उससे।

"मैं तुम्हारे ही उद्देश्य से आया हूँ राजकुमार!"

"कौन हो तुम? वेश से कोई दिव्य पुरुष जान पड़ते हो।"

"हाँ, मुझे इंद्र कहते हैं।"

"किस उद्देश्य से आए हो?"

"तुम्हारी उग्र तपस्या को देखकर मैं खिंचा हुआ चला आया हूँ तुम्हारे पास। मैं तुम्हें एक गीत सुनाऊँगा।'

"गीत तो मैं रात-दिन सुना करता हूँ। काम-दुहिताएँ आठों याम मेरे मानस को अपने नृत्य और गीतों से घेरे रहती हैं।"

"उनके और मेरे गीत में अंतर है। वह प्रवृत्ति का गीत गाती हैं, मैं निवृत्ति का राग झंकृत करूँगा।"

"मेरी तपस्या में सहायक होगा वह?"

"कदाचित्।" कहकर इंद्र एक शिला-खंड पर बैठकर वीणा मिलाने लगे। वह तीन तार की वीणा थी। इंद्र ने पहला तार झंकृत किया।

सिद्धार्थ बोले—"यह बहुत ढीला है। ठीक स्वर नहीं निकल रहा है इससे।"

इंद्र ने दूसरा तार बजाया।

"हाँ, यह ठीक स्वर दे रहा है।"

इंद्र ने तीसरे तार को छेड़ा। वह टूट गया!

सिद्धार्थ बोले—"यह तो टूट गया।"

"हाँ सिद्धार्थ, यह बहुत कसा हुआ था।"

"बस हो गया इंद्र! मेरी समझ में आपका राग आ गया। आपको धन्य है, आपको नमस्कार है। मेरे मन की ग्रंथि खोल दी।"

आप शुद्ध बुद्ध हैं महाराज! इंद्र आपके पद-धूलि की समता रखता है। आप सत्य के अन्वेषक नहीं, सत्य आपके प्रकाश से उज्ज्वल है। आपके दर्शन कर यह इंद्र आज सफल-काम हुआ। पर इस सेवक के मन में एक शंका है, उसे दूर कीजिए महाराज!"

"क्या शंका है?"

"मेरी वीणा के तारों से आप क्या समझे?"

आपकी वीणा के इधर-उधर के ये दोनो तार द्वंद्व के दो सिरे हैं। एक ढीला और दूसरा अत्यधिक कसा हुआ। यह जो मध्य का तार है, यह न अधिक ढीला है, न बहुत कसा हुआ। कैसा मधुर स्वर दिया इसने। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच की समवृत्ति है। इसे बहुत दिन से मैं खोज रहा था। योग और भोग के बीच में यह मध्यम मार्ग परम शांतिदायक है। मैं इसी का अनुसरण करूँगा इंद्र! आपने मुझे इसका ज्ञान दिया, बड़ा उपकार किया।"

"हरे-हरे! आप ही तो इस मार्ग के प्रवर्तक हैं। सदियों की धूल से यह मार्ग भरकर खो जाता है, आप बार-बार इसका उद्धार कर इसे लोगों के लिये प्रशस्त कर देते हैं। हे भगवान् बोधिसत्व! आप साक्षात आदित्य हैं। मैं आपको क्या दीपक दिखा सकता हूँ। आपकी जय हो!" इंद्र ने हाथ जोड़कर परिक्रमा की। वह बिदा हो गए।

सिद्धार्थ ने विचारा—"दक्षिण और वाम, ये दोनो ही मार्ग इस मध्यम मार्ग में एक दूसरे में मिले हुए हैं। क्योंकि बिना दोनो सिरों की कल्पना के हमें मध्य का ध्यान हो नहीं सकता। इन दोनो सिरों में से एक आकर्षण करता है, दूसरा विकर्षण। आकर्षण को

विकर्षण से और विकर्षण को आकर्षण से हम निःशक्त कर सकते हैं। मध्य बिंदु ही वह स्थान है। बिना इस समन्वय के हमें ध्रुवता प्राप्त नहीं हो सकती। तभी हमारा मन स्थिर होगा और तभी हमारी प्रज्ञा अचल होगी। यहीं पर से धारणा का विकास होगा, और तभी हम असंप्रज्ञात समाधि की ओर अग्रसर होंगे।"

काम-लोक में उस समय मार ने अपने सखा, सेनापति, सेवक और संबंधियों की विराट् सभा आहूत कर रक्खी थी। सभा का एकमात्र उद्देश्य यही था। छल से, बल से, साम-दाम-दंड-भेद से किस प्रकार सिद्धार्थ को तपस्या से विरत और विमुख किया जा सकता है।

सबने सुरुचि पर ही कर्तव्य का पहला भार सौंपा।

चित्रा और भैरवी ने कहा—"हम राजकुमार के मन को सहज ही वश में कर देश और काल के अनत सागर में निमग्न कर देती हैं। यदि सुरुचि उनकी रसना में प्रवृत्ति उत्पन्न कर दे केवल उसी दशा में।"

"मैं उसी दिन से अपनी पराजय देखने लगा हूँ, जिस दिन से उन्होंने केवल पवन और जल पर अपना जीवन स्थिर कर दिया है।" मार ने कहा।

"यह आप लोग कोई जानते ही नहीं हैं। इतनी कठोर साधना पर भी सिद्धार्थ को क्यों अभी तक सत्य का साक्षात्कार नहीं हुआ है। मेरे कारण, मैंने ही उनको अपने विकर्षण से आवरित कर रक्खा है।" अरति बड़े दर्प के साथ बोली।

"संभव है।" मार ने कहा—"पर केवल एक तुमसे क्या हो सकता है। मेरे प्रबल सेनापतिगण!" मार ने एक ओर दृष्टि की। उसके तीन प्रबल योद्धा काम, क्रोध और लोभ आसनासीन थे जहाँ पर मुँह लटकाए।

क्रोध बोला—"महाराज, काम ही न हो, तो मेरा कोई चक्र नहीं चल सकता। जब काम हो और उसकी प्राप्ति में बाधा हो, तभी तो मैं अपने उद्भव से प्राणी को अंधा बना सकता हूँ। उसके बिना नहीं। दोष सेनापति काम का है।"

लोभ ने कहा—"यही आशय मेरा भी है महाराज! जब काम हो और उसकी पूर्ति हो, तभी तो मैं मनुष्य की गर्दन पकड़कर उसे पथ पर से खींच लेता हूँ।"

बड़ी नम्रता के साथ काम बोला—"सेनापति, क्रोध और लोभ ने मुझ पर जो दोषारोपण किया है, वह उचित ही है। यदि सुरुचि उनकी रसना में रस जगा सकती है, तो यह सेवक कान तक प्रत्यंचा खींचकर सिद्धार्थ को अपने तीक्ष्ण बाणों से आहत कर सकता है।"

सुरुचि बोली—"कोई सहायक भी तो दीजिए मुझे।"

चित्रा ने कहा—"तुम्हें आवश्यकता किसकी है। हम पाँच बहनें तो हैं, हम साथ-ही-साथ तो चलती हैं।"

फूलों के धनुष को सँभालता हुआ वसंत बोला—"चलो, मैं भी चलूँगा तुम्हारे साथ। मैं रस की जागृति के लिये, प्रवृत्ति के जन्म के हेतु अनुकूल वातावरण उत्पन्न कर दूँगा। मैं वृक्षों में रंग और पँखुरियों में सुगंधि बिकसा दूँगा। मैं सारी सत्ता को जीवन और यौवन से युक्त कर दूँगा। कण-कण को अनुराग के राग से भर दूँगा। मैं हिला दूँगा सिद्धार्थ का आसन।"

सुरुचि बोली—"अच्छी बात है। उरुबेला-प्रदेश के सेनानी-नामक ग्राम में एक संपत्तिशाली कुनबी की कन्या है। सुजाता उसका नाम है। मैं उसे जाकर अपना साधन बनाती हूँ, और सिद्धार्थ की रसना में जाकर अपना अधिकार जमाती हूँ। आगे फिर आप लोग सँभालिए अपना काम।"

मार बोला—"तुम आगे की कोई चिंता न करो। सिद्धार्थ की रसना

के चपल हो जाने पर मेरे सब सेनापति सक्रिय हो जावेंगे उन पर।"

सिद्धार्थ को अरति दिखाई दी। सिद्धार्थ के मुख पर मधुर मुसकान खिल पड़ी।

अरति आश्चर्य में भर उठी। सोचने लगी—"आज यह क्या बात है। इस तपस्वी ने एक दिन भी कभी मेरी ओर भूलकर नहीं देखा।" वह कुछ और निकट बढ़ गई उनके।

"तुम भी सुंदर हो अरति!" सिद्धार्थ ने कहा।

"सुंदर हूँ?" अरति ने अपने मन से पूछा। वह विजय के दर्प में भर उठी। सिद्धार्थ की स्तुति ने उसे लज्जा से विनत कर दिया। उसके कपोल रक्ताभ हो गए। वह समझी, उसने तपस्वी के मन को आकृष्ट कर लिया। वह हटने लगी शनैः-शनैः पीछे को।

"ठहरो अरति!" सिद्धार्थ ने कहा।

अरति द्रुतपदों से लुप्त हो गई!

सिद्धार्थ ने आँखें खोलकर अपने अंग पर दृष्टि की—"बड़ा मलिन हो गया हूँ मैं। निराहार ने स्थान-स्थान पर गड्ढे खोदकर उनमें मैल जमा कर दिया है। बरसों से आँखें और मुख बंदकर एक आसन पर बैठा हूँ। कानों में भी कपड़ा ठूँस रक्खा है। बाह्य जगत् को ऐसे हठ-पूर्वक आवृत कर भी तो कुछ नहीं मिला। जिनके लिये ये सब द्वार बंद कर दिए, वे सब-के-सब कितने निकट और कितने स्पष्ट मेरी कल्पना में जाग उठे हैं। भीतर-बाहरी विजय सरल है, भीतर इनसे लड़ते-लड़ते श्रांत हो उठा हूँ।" उन्होंने वन में चारों ओर दृष्टि डाली।

चार शिष्य भिक्षार्थ निकटस्थ ग्रामों में गए थे। कौंडिन्य सिद्धार्थ की चौकसी के लिये रह गया था। वह कुछ समय हुआ, निकट ही कहीं पर समिधा एकत्र कर रहा था।

"रवि का उदयास्त और ऋतुओं का परिवर्तन मुझे ज्ञात नहीं होता

था। मैं नहीं जानता, कितना समय बीता है। ये तरु-लताएँ इस अवकाश में बहुत बढ़ गई हैं। अनेक स्थानों में, जहाँ आकाश दिखाई देता था, वहाँ डालियों ने बढ़कर अपने हरित पत्र फैला दिए हैं।" सिद्धार्थ ने बड़ी कठिनता से अपना आसन खोला—"कोई नहीं है। नहीं जानता, मेरे साथी मुझे छोड़कर कहीं अन्यत्र चले तो नहीं गए क्या? नहीं, यज्ञ-कुंड से धूम बहिर्गत है। उनके आसन और वस्त्र भी ठीक-ठीक क्रम से रक्खे हुए हैं।"

सिद्धार्थ खिसकते हुए निरंजना के तट की ओर बढ़ने लगे। मार्ग में एक बेर का दाना तोड़ने के लिये उन्होंने हाथ बढ़ाया। उनका पैर फिसल पड़ा, और वह मूर्च्छित होकर भूमिशायी हो गए।

कुछ ही क्षण पश्चात् समिधाओं का भार लेकर कौंडिन्य आ पहुँचा वहाँ पर। आचार्य को भूमि पर मूर्च्छित देखकर वह दौड़ा। उसने कमंडलु से उनके सिर में जल की धार दी। उनके हाथ-पैरों को मला। बड़ी कठिनता से सिद्धार्थ ने आँखें खोलीं। उस समय कौंडिन्य के शेष साथी भी लौटकर आ गए थे।

"क्या हो गया? आचार्य!" कौंडिन्य ने पूछा।

"कुछ नहीं कौंडिन्य! शरीर में बड़ी दुर्बलता थी। मैंने अधिक श्रम किया, इसी से गिर पड़ा।"

"आप अचेत हो गए थे।"

"पर मन जाग्रत् ही था कौंडिन्य, बड़ा उज्ज्वल स्वप्न देखा मैंने।"

"आपकी चेतना जगाने के लिये मैंने दो घड़ी प्रयत्न किया होगा कम-से-कम।"

"मुझे कुछ ज्ञान नहीं है इसका। आज कितने दिन के पश्चात् मैं उस तरु के नीचे से उठा हूँ? कौंडिन्य, आज कितने समय के अनंतर मैं तुमसे बोला हूँ?"

"छः वर्ष गुरुदेव!"

"बहुत बड़ी अवधि कौंडिन्य !"

"सत्य की शोध हँसी-खेल नहीं है गुरुदेव ! हमने तो इन छ वर्षों में कुछ भी प्रगति नहीं की। आपकी सेवा भी कुछ नहीं हो सकी। आपकी इस कठिन साधना के दर्शक होकर हम आपके साथ रहे हैं, यही सौभाग्य एक हम अपना समझते हैं।" कौंडिन्य ने कहा।

दूसरा साथी बोला—"गुरुदेव, अवश्य ही आपने सत्य को पहचाना है। हम आपके अनुचर शिष्य हैं। हमें भी तो उसका परिचय दीजिए।"

"मेरे प्रिय सहचर, सत्य उतना ही दूर जान पड़ता है, जितना छ वर्ष पहले था।"

"इतनी तपस्या क्या व्यर्थ गई ?"

"व्यर्थ तो कुछ भी नहीं जाता। पहले समझता था, शरीर को ऋतुओं के प्रकोप से मुक्त कर, भूख-प्यास के बंधन से छुड़ाकर; मन को इंद्रियों की खींचा-तानी से स्वतंत्र कर आत्मज्ञान प्राप्त हो जायगा, किंतु न हुआ। अब सोचता हूँ, शरीर के पोषण मात्र के लिये भोजन आवश्यक है। हे कौंडिन्य ! तुम भिक्षा में क्या लाए हो ? कुछ स्निग्ध-मधुर आहार है, तो मुझे खिलाओ।"

कौंडिन्य सोचने लगा—"आचार्य यह क्या कहने लगे। जान पड़ता है, इनकी तपस्या भ्रष्ट हो गई। यह योग के मार्ग में भटककर फिर भोग की ओर जाने लगे।"

एक शिष्य बोला—"कुछ दूध है, मैं गरम कर ले आता हूँ।"

"अवश्य, तभी मैं यहाँ से उठ सकूँगा।" सिद्धार्थ ने दीर्घ निःश्वास छोड़ी।

कौंडिन्य ने बहुत ऊँचे पर से गिरे हुए प्राणी की भाँति सिद्धार्थ को देखा।

सिद्धार्थ ने उसकी आँखों का अर्थ समझकर कहा,—"कौंडिन्य, तुम मुझे विजित और पतित समझने लगे।"

"क्यों ?"

अत्यंत चकित होकर कौंडिन्य ने उनके चरण पकड़ लिए—"नहीं गुरुदेव ! सेवक को क्षमा करो।"

दुग्ध-पान कर सिद्धार्थ अपने आसन पर आए, और उन्होंने संक्षेप में अपनी साधना के अनुभव प्रकट किए उन पर। कौंडिन्य का भ्रम और भी बढ़ गया। उसे निश्चय हो गया, मार विजयी हो गया सिद्धार्थ पर।

शिष्यगण धीरे-धीरे भोजन देने लगे गुरुदेव को। उनकी क्षीण काया शीघ्र ही फिर सजीव हो चली।

उस वन में सुजाता एक वट-वृक्ष का पूजन और परिक्रमा करती थी, तब वह कुमारी ही थी। उसकी कामना थी कि यदि उसे मनोनुकूल वर प्राप्त हो जाय और उसके एक पुत्र उत्पन्न हो जाय, तो वह आजीवन प्रतिवर्ष चैत्र की पूर्णिमा को उस वट का पूजन करेगी। उसकी दोनो मनोकामनाएँ पूरी हुई थीं।

उस दिन वैशाखी पूर्णिमा थी। सुजाता प्रातःस्नानु सार पूजा की सामग्री एकत्र करने में लगी। उसने अपनी एक सेविका को उषवेला के वन में वट-वृक्ष पर लीपने-पोतने और प्रक्षालन के लिये पहले ही भेज दिया।

पाँच-सात दिन में ही धीरे-धीरे सिद्धार्थ के शरीर में शक्ति लौटने लगी। उनका रूप-रंग फिर उनको पूर्व स्थिति में आने लगा। वह एकांत में उस वट-वृक्ष के नीचे ध्यान कर रहे थे। शिष्य कोई भी न था वहाँ पर, सब अन्यत्र गए हुए थे।

अचानक सिद्धार्थ ध्यान छोड़कर उठे। उन्हें अपने अंग पर के एकमात्र वस्त्र की स्मृति हुई। अनेक वर्षों से वह उनको ढके हुए था।

शत-शत छिद्रों से जीर्ण वह कालिमा से अधिक मलिन वह, बड़ी ममता हो गई थी सिद्धार्थ को उस पर। आज वह उसका विछोह सह लेने के लिये कटिबद्ध हो गए।

कुछ दूर पर, श्मशान की ओर बड़ा धुआँ आ रहा था। उन्होंने निश्चय किया, अवश्य ही कोई शव-दाह हो रहा है। वह उधर ही चल पड़े।

राधा-नामक समीप के किसी जनपद की एक स्त्री की चिता धधक रही थी। सिद्धार्थ बड़ी देर तक खड़े रहे उसके पास। वह लौट पड़े। उनकी दृष्टि निकट ही भूमि पर पड़े हुए एक नवीन रक्त वस्त्र पर पड़ी। कदाचित् वह चांडाल के लिये रख छोड़ा था शववाहियों ने। सिद्धार्थ ने वह वस्त्र माँग लिया उनसे। उसे लेकर वह अपने आसन पर आए। निरंजना में धोकर उसे सुखाया उन्होंने। फिर उसे पहन लिया। जीर्ण वस्त्र प्रवाहित कर दिया निरंजना की धारा में। उस नवीन परिधान में सिद्धार्थ फिर बैठ गए वट वृक्ष के नीचे। अपने ध्यान की शृंखला जोड़ने लगे।

सुजाता की दासी ने वहाँ पर आकर देखा, एक देव-तुल्य रूप वट-वृक्ष के नीचे बैठा है। उसने मन में सोचा, हो न-हो यह वही वन-देवता है जिसकी मनौती मेरी स्वामिनी ने मान रक्खी है। दासी ने बड़ी रुचि और श्रद्धा के साथ वहाँ पर परिष्कृत कर लीपा।

वह लौटकर जनपदों से घर गई। इसने सुजाता को यह समाचार सुनाया। सुजाता आनंद-पुलकित हो उठी। इसने बड़ी उमंग में भरकर एक स्वर्ण के पात्र में पायस रक्खा, पूजा की सज्जा एकत्र की, और दासी को साथ लेकर उरुबेला के वन की ओर चली।

जिस वट-तरु के नीचे सुजाता ने आज इतने दिनों से अपने सुख की कामनाएँ केंद्रीभूत कर रक्खी थीं, वहाँ एक तेज-पुंज देवता देखकर वह भावातिरेक से गद्गद हो गई। उसने अपनी समस्त

भेंट सिद्धार्थ के निकट रखकर उनके चरणों का स्पर्श किया—"हे मेरे चिर-पूजित देवता ! आज तुमने निःसंदेह मेरी पूजा ग्रहण करने के लिये ही यह मानव-रूप रक्खा ।"

सिद्धार्थ ने आँखें खोलीं—"कौन हो देवि ! तुम ?"

तुम्हारी उपासिका, तुम्हारी सेविका । तुम क्या नहीं जानते ? फिर भी बताती हूँ, मैं सुजाता हूँ ।"

"सुजाता, मैं तुम्हारा इष्ट, देवता कुछ भी नहीं हूँ । तुम्हें भ्रम हुआ है । मेरा-तुम्हारी आज यह पहली ही भेंट है ।"

"जो भी हों आप । आप मेरे मन में शंका फैलाकर मेरे विश्वास को नहीं डिगा सकते । मेरी पूजा के आप ही उद्देश्य हैं ।" सुजाता ने उनकी पूजन करना आरंभ किया ।

सिद्धार्थ ने कहा—"मैं फिर कह देता हूँ तुमसे कि मैं एक साधारण मनुष्य हूँ ।"

सुजाता मुसकाती हुई बोली—"आपको मेरी भक्ति की परीक्षा नहीं करनी चाहिए । मैं साधारण मनुष्य को ही पूजूँगी आज । मेरे मानस में मेरे देवता का ही ध्यान है ।"

सुजाता ने मधु-केसर-मिश्रित पायस का नैवेद्य सिद्धार्थ के सामने रक्खा एक सुवर्ण की थाली में । वह हाथ जोड़कर बोली—"हे देवता ! मेरे समान तुच्छ व्यक्ति की आपने अर्चना ग्रहण की । मैं क्या दे सकती हूँ आपको । सदा-सर्वदा आपका ऋण मेरे माथे पर रक्षित रहे, यही मेरा गौरव है । पात्र-सहित यह नैवेद्य मैंने आपको समर्पित किया, इसका भोग लगाइए !"

पायस की मधुर गंध से समस्त वट-वृक्ष का वातावरण सुवासित हो उठा । सिद्धार्थ ने कहा—"तुम्हारा यह नैवेद्य अमृत के सदृश दिखाई दे रहा है मुझे, मैं अवश्य इसे ग्रहण करूँगा ।"

इसी समय सिद्धार्थ के पाँचों शिष्य भिक्षा प्राप्त कर लौट रहे

थे। दूर ही से उन्होंने देखा, रक्तपरिधान में सुसज्जित होकर सिद्धार्थ के सामने बहुमूल्य पात्र में भोजन रक्खा हुआ है। दो महिलाएँ उनके निकट ही खड़ी हैं।

कौंडिन्य बोला—"हे भगवान्, यह क्या निस्संदेह आचार्य का पतन हो गया!"

दूसरा शिष्य बोला—"हाँ, यही बात है।"

कौंडिन्य—पुण्य का इतने वर्षों का संचय देखा तुमने, क्षय होते कुछ भी देर न लगी। गुरुदेव तप-भ्रष्ट हो गए। वह निस्संदेह पापी मार के जाल में फँस गए। यह साधना का मार्ग बड़ा विघ्नमय है। इंद्रियों का जितना दमन किया जाता है, उतनी ही वह विद्रोही हो उठती हैं। अब क्या होगा? भाई, मैं तो समझता हूँ, हमको कहीं अन्यत्र चल देना चाहिए।"

"क्यों?" एक ने आपत्ति की।

"क्यों? देखते नहीं हो मार का प्रकट प्रभाव। वसंत की ऋतु है सही, पर जिस सौंदर्य के साथ यहाँ आश्रम में उनका प्राकट्य विकसित है, वैसा क्या अन्यत्र परिलक्षित है? नहीं, यह देखो, अप्सराएँ आने लगी हैं। नृत्य-गीत आरंभ होगा अभी। विलास और भोग की सज्जा उपस्थित होगी।"

"आचार्य को क्या अकेला ही छोड़ जायँ।" दूसरा बोला।

कौंडिन्य बोला—"अब क्या चाहिए उन्हें हमारा साथ। रत्नाभरणा, सुवेशिनियाँ रमणियाँ खड़ी हैं उनकी परिचर्या के लिये। अब इन कौपीन-कमंडलुधारी, जटा-श्मश्रु-मंडित भिक्षुओं को कौन पूछेगा? ज्ञानोन्नति के लिये हमने आचार्य का साथ किया था, इंद्रियों के भोगों में पतित हो जाने के लिये नहीं। तुम्हारी जो इच्छा हो, करो। मैं तो नहीं रक्खूँगा पैर इस आश्रम की सीमा में। मैं तो चला।"

"कहाँ को?"

"निरंजना के बहाव के किनारे-किनारे गंगा को और वहाँ से सीधे काशी को।" कौंडिन्य ने कहा।

"आचार्य से बिदा तो ले लें?" वप्र बोला।

"कोई लाभ नहीं। उलटा हमारे भी फँस जाने का भय है। मार का बड़ा भयानक इंद्रजाल है। हमें ज्ञात भी न हो सकेगा कि हम डूब गए हैं। उठने के हेतु युग चाहिए और गिरने के लिये क्षण, इतना ज्वलंत उदाहरण इस तपस्वी का हमारे सामने है। कल तक यह आकाश की तारिकाओं के सानिध्य में था। आज मधु-कीट होकर भूमि पर रेंग रहा है।" कौंडिन्य बोला।

"हमारे अंगो वस्त्र सूखने को डाल रक्खे हैं, उन्हें तो उठा लायें।" वप्र ने कहा।

"हाथ-भर कपड़े का टुकड़ा, जिससे माँगोगे, वह दे देगा। छोड़ जाओ वप्र। कुशल चाहते हो, तो भाग चलो अभी उलटे पैरों से" कौंडिन्य बोला।

पाँचों शिष्य चल दिए उसी क्षण सिद्धार्थ से विना कुछ कहे-सुने।

सुजाता ने हाथ जोड़कर कहा—"आपने अनंत असीम कृपा की है वनदेव! अब मैं जाने की आज्ञा चाहती हूँ। जैसे मेरी मनोकामना पूर्ण हुई, ऐसे ही तुम्हारी भी मनोकामना पूर्ण हो। तुम्हारी जय हो!" वह बिदा हो गई।

सिद्धार्थ मन-ही-मन सोचने लगे—"यह सती-साध्वी नारी अपनी पूजा की तन्मयता में भूल गई! मुझे आशीर्वाद देकर चली गई यह! इसके अंतःकरण में जो यह शुद्ध प्रेरणा हुई है, वह अवश्यमेव मेरी मनोकामना पूर्ण करेगी। बड़ा सुंदर-सुदिन उदित हुआ है आज का। मेरे मन में एक अलौकिक आनंद अविच्छिन्न प्रवाह में बह रहा है।" वह उस पायस के पात्र को लेकर उठे। निरंजना के तीर पर गए। उन्होंने हाथ-मुँह धोकर पायस-भोजन

किया। उन्होंने परम तृप्त लाभ की। सुवर्ण का पात्र नदी के जल में प्रवाहित कर दिया। उन्होंने आकाश की ओर देखा, फिर शिष्यों के मार्ग पर दृष्टि की—"मेरे साथी नहीं आए आज अभी तक। मेरे मन में प्रतीत हो रहा है, आज वे मुझे छोड़कर कहीं अन्यत्र चले गए हैं।" बेला बहुत अधिक बीत चुकी।"

कुशों का भार लिए हुए स्वस्तिक-नामक एक ब्राह्मण आ पहुँचा वहाँ। सिद्धार्थ से पहचान थी उसकी। उनके छः वर्ष की विकट तपस्या को वह भी बड़ी श्रद्धा और आश्चर्य के भावों से देखता हुआ चला आ रहा था।

आओ स्वस्तिक, तुम मेरी ही प्रेरणा से आए हो आज यहाँ।"

स्वस्तिक ने सिद्धार्थ को प्रणाम किया—"आपके पाँचों शिष्य आज यह आश्रम छोड़कर चले गए, क्यों महाराज!"

"मैं नहीं जानता। तुम्हें क्या मिले?"

"हाँ महाभाग!"

"क्या कहते थे?"

"यही कि सिद्धार्थ को सिद्धि प्राप्त हो गई और अब वहाँ हमारे-जैसों की कोई गिनती नहीं।"

"नहीं स्वस्तिक, न मुझे सिद्धि आकांक्षित है, न उनकी अवहेला ही। एक स्थान पर रहते-रहते कदाचित् उनका मन अकुला उठा होगा।" सिद्धार्थ ने मंदस्मित होकर कहा।

स्वस्तिक को सिद्धार्थ के शरीर से अद्भुत आभा विकीर्ण होती प्रतीत हुई।

"नवीन और कोमल कुशों का भार लेकर तुम आए हो स्वस्तिक। कुछ मुझे दे जाओ।"

"किस हेतु महाराज!"

"इन पर बैठकर मैं सर्वविजयी मार की सेना का दमन करूँगा।"

"छ वर्ष की इस कठिन तपस्या से क्या कुछ नहीं हुआ? तो इस घास पर बैठकर क्या हो जायगा। मैं तो नित्य ही कुशासन पर बैठता हूँ। मैं जीर्ण होता जा रहा हूँ, और मेरी कामनाएँ नित्य बलवती।"

"मार को जीतने के लिये पारमिता चाहिए स्वस्तिक।"

"पारमिता क्या हुई?"

"कुछ विशिष्ट गुणों की संज्ञा है यह। फिर ज्ञात हो जायगा तुम्हें।"

स्वस्तिक सिद्धार्थ को कुश-दान देकर चला गया। उन्होंने कुशों को उसी वृक्ष के नीचे बिछाया। सूर्यदेव अस्ताचल पर आकर चमक रहे थे। सिद्धार्थ एक महान् संकल्प को ग्रहण करने के लिये प्रस्तुत हो रहे थे।

मार घबरा उठा था। उसने अपनी सेना को पूरी शक्ति से सिद्धार्थ पर अक्रमण करने के लिये उद्यत किया।

सिद्धार्थ ने उस वृक्ष के नीचे वीरासन में बैठकर वीर प्रतिज्ञा की—"इसी आसन पर बैठकर अब मैं सत्य का साक्षात्कार करूँगा। नहीं तो मेरा जो कुछ है, सब कुछ मेरे शरीर के साथ ही यहाँ पर ध्वस्त हो जाय!"

दृढ़ और शुद्ध मन के इस संकल्प को सुनकर विकंपित हो उठा मार! उसने अपने सहायकों को उकसाया—"वीरो, उठो, जागो, प्राणों का प्रण लगा दो इस बार! नहीं तो फिर निर्वाण का पथ ज्ञात कर सिद्धार्थ उसे सर्व-साधारण के लिये सुलभ कर देगा। फिर कौन हमारी बात पूछेगा? तुच्छ कृमि-कीट के समान हमारा जीवन हो जावेगा। हे सखा वसंत! कामना के उद्दीपन के लिये जो कुछ भी तुम्हारे है, वह सब प्रकट कर दो आज जल-थल-आकाश में, पवन को सुवास और संगीत से भर दो, पत्ते-पल्लवों को रँग दो, कण-कण को मदिर कर दो आज।"

मार के अन्यतम सखा वसंत ने श्री और सुषमा से परिपूर्ण कर दिया उरुबेला के वन-प्रांत को। उसकी सीमा के जड़-जीव सब भर उठे उद्दाम-कामना के उन्माद से, पग-पग में अनुराग विकस उठा! क नक्षत्र नभ में, कीट धरती पर, पक्षी पवन में, पशु पथ में और पुष्प वृंत में उल्लास से नृत्य करने लगे।

कमल, अशोक, आम, नवमल्लिका और नीलोत्पल के बाणों को सजाकर मार कटिबद्ध हो गया आक्रमण के सूत्र अपने हाथों में लेकर। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर का चक्रव्यूह रचकर अपने शत्रु पर आघात करने लगे। पाँचों गीत-कन्याओं ने अपने सम्मिलित कंठ से रस की धारा बहानी आरंभ की। तृष्णा, रति और अरति सिद्धार्थ को घेरकर नचाने लगीं। आकाश में वैशाख का पूर्ण चंद्र था!

सिद्धार्थ ने हँसकर कहा—"हे मार! यह तुम्हारी लीला है, मैं समझ रहा हूँ इसे। तुम्हें इस परिश्रम की विफलता को लेकर लौट जाना पड़ेगा।"

मार-कन्याएँ विवसना होकर सिद्धार्थ को रिझाने में प्रयत्नशील थीं। रति सिद्धार्थ के बिलकुल निकट आ गई। उन्होंने अरति की ओर देखा, रति को पीछे हट जाना पड़ा। बोधिपद के लिये प्रयत्नशील उस साधक ने उन दोनों को अपने से समान दूरी पर रख दिया। वे दोनो जहाँ-की-तहाँ स्थिर हो गईं। सिद्धार्थ उनके आकर्षण-विकर्षण के स्तर से अतीत हो गए। रति और अरति एक-दूसरे में समाकर लोप हो गईं। उनके लोप होते ही तृष्णा का भी कहीं पता न रहा! गीत-बालाएँ कभी की भाग गई थीं।

सम्मोहन के बाण को चलाकर मार विफल हो गया। उसने उच्चाटन का शर-संधान किया। सारा वन भूचाल से चलायमान हो उठा।

धैर्य के साथ सिद्धार्थ बोले—"इससे भी मैं अपना आसन छोड़ दूँगा मार। सारी धरती स्वभाव से ही चलायमान है। मैंने इस चंचलता को पहचाना है। सब चल रहे हैं, रूप-यौवन, श्री-संपत्ति, नर-नारी, तरु-प्राणी, केवल एक सिद्धार्थ ही अचल है। उसने अपने मन को अचल किया है, इसी से इस चपल धरातल पर भी उसका आसन स्थिर है।"

मार ने फिर बाण छोड़े। भयानक आँधी उठी, बादल गरजने लगे, बिजली कड़कने लगी और मूसलधार जल बरसने लगा। मार के समस्त सेनापतियों ने एक साथ मिलकर उन पर चढ़ाई की, कुछ फल न हुआ। सिद्धार्थ धीरे-धीरे सूक्ष्मतर लोकों में उठने लगे।

मार मिटा नहीं इस धरती पर से। वह सिद्धार्थ के मनोबल की मार खाकर पराजित हो गया। लज्जा से फिर साहस न हुआ उसे सिद्धार्थ के सामने आने का।

मार पर विजयी होकर सिद्धार्थ सुख और दुख की व्यापकता से मुक्त हो गए। प्रसन्नता और विषाद दोनो के प्रति समदृष्टि हो जाने से उनकी स्मृति चमक उठी!

वह ध्यान के एक के पश्चात् दूसरे स्तर में स्थिर होते गए। देश और काल अपने प्रपंच और आवरण को हटाकर उनकी दिव्य दृष्टि में खुल गया। उन्होंने अविद्या के अंधकार से छूटकर समस्त प्राणियों को कोटि-कोटि जन्मों में देखा। रात्रि का प्रथम याम बीत चला।

रात्रि के दूसरे याम में उन्होंने देखा, उनका नाम-रूप नहीं, जाति-गोत्र नहीं, जनक-जननी-जन्मभूमि नहीं, जीवन नहीं, आयु नहीं, वह सनातन बोधिसत्व-वंशसंभूत हैं। वह अज और अविनाशी हैं। उनका न कहीं कारण है, न परिणाम—आदि और अंत के बंधन से विमुक्त! उन्होंने सुना, असंख्य देवता और मनुष्य उनका जय-घोष कर रहे थे—"परम शुद्ध बुद्ध की जय!"

रात्रि के शेष काल में उन्हें ज्ञान हुआ—"जरा-मरण जाति-ज्ञान से उत्पन्न है, जाति-ज्ञान भव-प्रत्यय का फल है, भव-प्रत्यय उपादान अर्थात् चार भूतों से उपजा है, उपादान तृष्णा-जात है, तृष्णा वेदना अर्थात् बाह्य वस्तु के ज्ञान से हुई है, वेदना स्पर्श-प्रत्यय अर्थात् इंद्रियों का विषयों के साथ संसर्ग होने से उत्पन्न हुई है, स्पर्श मन और पाँच इंद्रियों के षडायतन से उपजी है, षडायतन नाम-रूप, नाम-रूप विज्ञान का फल है, अपनापन का ज्ञान ही विज्ञान है, विज्ञान-संस्कार अर्थात् प्रवृत्ति-निचय से हुआ। संस्कार अविद्या का फल है, अवस्तु में वस्तु-ज्ञान और अनित्य में नित्यता की भावना ही अविद्या है। यदि इस अविद्या का निराकरण हो जाय, तो फिर जरा-मरण से मुक्ति प्राप्त हो जाय।"

अनंत ज्योति के पुंज दिवाकर उदित होकर समस्त उरुबेला के प्रदेश को प्रकाशित कर रहे थे, ऐसे ही सिद्धार्थ का अंतर भी ज्ञान से प्रभान्वित हो उठा, जिसके लिये देश और जगत् का त्याग किया, सुख-भोग छोड़ा, इंद्रियों का दमन किया, उसे आज इतने निकट देखकर सिद्धार्थ आनंद से गद्गद हो उठे। परंतु अभी वह बोधि-पद प्राप्त नहीं हुए थे।

धीरे-धीरे उन्होंने देखा, बिना प्रयास किए ही उनका ध्यान सघन होकर उन्हें समाधि की सीमा पर ले चला, उनके चित्त की चपलता चली गई, स्थैर्य भी। उनका अनुराग और विराग मिट गया, तर्क और वितर्क चले गए, उदासीन भाव वह भी खो गया। सिद्धार्थ श्वास और स्पंदन-विहीन हो गए। उनके शरीर की समस्त क्रियाएँ लोप हो गईं। एक अनिर्वचनीय दशा को प्राप्त हो गए वह, कब तक उस दशा में रहे वह। ब्रह्मा के क्षण या उरुबेला के दिन नहीं कहा जा सकता।

सिद्धार्थ के सुख-दुख का निर्वाण हो गया, विरह-मिलन का

निर्वाण हो गया, जन्म-मृत्यु का निर्वाण हो गया, इंद्रियों और मन का निर्वाण हो गया। सिद्धार्थ को निर्वाण हो गया। उन्होंने सम्यक् संबोधि-पद प्राप्त किया, वह अमिताभ कहलाए।

बुद्धत्व की प्राप्ति पर सिद्धार्थ ने कहा—"इस संसार में बार बार जन्म की वेदना सहता हुआ मैं इस वेदना के गृहकार को ढूँढ़ता रहा। आज वह दिखाई दिया, अब मुझे गृह करने की आवश्यकता नहीं रही। मेरे सब बंधन टूट गए, गृह-कूट चूर्ण हो गया। मेरी समस्त सांसारिक वासनाएँ समाप्त हो गईं। मुझे निर्वाण मिल गया!"

जिस वट वृक्ष के तले सिद्धार्थ ने ज्ञान प्राप्त किया, वह बोधिद्रुम कहलाया। निर्वाण-पद लाभ करने के अनंतर सात सप्ताह तक उन्होंने बोधिद्रुम के निकट ही समय अतिवाहित किया। कहते हैं, इस अवधि में क्षुधा-तृष्णा, निद्रा-श्रांति किसी वस्तु की उन्हें आवश्यकता नहीं हुई। यह समय उन्होंने धर्म-चिंता और निर्वाण-जन्म शांति में व्यतीत किया।

सातवें सप्ताह के अंत में त्रपुर और भल्लिक-नामक दो पूर्व देशीय व्यापारी, माल से भरे हुए एक शकट को लेकर उरुवेला के वन से होकर जा रहे थे। मार्ग में उनके शकट के चक्र भूमि में गड़ गए। वे वन में किसी मनुष्य को सहायतार्थ खोजते हुए उस नारायण-नामक तरु के नीचे पहुँच गए, जहाँ बुद्ध ध्यानस्थ बैठे थे।

देवताओं के प्रकाश से भासमान उस अलौकिक महात्मा को देखकर अनायास उन दोनों की श्रद्धा और भक्ति उमड़ पड़ी। उन्होंने सुस्वादु भोजन के पदार्थ लाकर उन्हें भेंट दिए, बुद्ध से धार्मिक उपदेश पाकर वे दोनों विदा हुए। एक प्रकार से त्रपुर और भल्लिक बुद्ध के सर्वप्रथम शिष्य हुए।

बुद्ध फिर नारायण के नीचे विचार करने लगे—"मेरी मनोकामना

पूर्ण हो गई ? अब क्या करना उचित है मुझे ? बोधिसत्व केवल मार्ग ढूँढ़कर ही नहीं रह जाता। उसका कार्य मार्ग दिखाना है—सारी समष्टि को।" वह विचार-मग्न हो गए।

सारा वन-प्रांत बुद्ध की तेजस्विता से जगमगा उठा था। पशु-पक्षी, वृक्ष-पल्लव सब उन्हें धर्मचक्र के प्रवर्त्तन के हेतु प्रोत्साहित कर रहे थे।

बुद्ध ने विचारा—"जगत् में धर्म के नाम पर कुछ दूसरी ही परिपाटी प्रचलित है, मेरा मार्ग भिन्न है, क्या संसार उसे स्वीकार करेगा ? उसे नवीन मार्ग समझकर उसकी उपेक्षा तो न करेगा। पर मेरा मार्ग नवीन नहीं है, वह प्राचीन भी नहीं, वह तो सनातन है। बीच-बीच में वह खो जाता है। मैंने उस पर शताब्दियों की जमी हुई धूलि अलग कर फिर उसे प्रकट किया है। मेरा मार्ग सत्य है। सत्य जितना स्पष्ट होता है, उतना ही सरल भी। सरलता उपेक्षणीय वस्तु नहीं है। मेरे मार्ग लोक में समादरित होंगे।"

मानो उस वन प्रांत के कण-कण से प्रतिध्वनि उठी—"हाँ-हाँ, तुम्हारा निर्देशित मार्ग जगत् के कोटि-कोटि प्राणियों की शांति का कारण होगा। अग्रसर होओ सिद्धार्थ, तुमने बोधिपद पाया है। तुमने अमृत प्राप्त किया है, अमृत वितरण करो।"

बुद्ध ने धर्म-प्रचार करना निश्चित किया—"हाँ, मैं जगत् में शांति का बीज बोऊँगा। मैं निर्वाण का पथ सरल करूँगा।"

वह उठे "कहाँ जाऊँ ?" उन्हें कपिलवस्तु की स्मृति आई—"नहीं, अभी वहाँ नहीं।" उन्होंने अपने प्राचीन गुरु अराड़कालाम और रुद्रक के पास जाकर उन्हें अपने धर्म में दीक्षित करने का विचार किया। पर ज्ञात हुआ कि वे दोनो लोकांतरित हो गए हैं। बुद्ध निरंजना के किनारे-किनारे वाराणसी की ओर चले।

---

१५. धर्मचक्र-प्रवर्तन

बुद्ध के वे पाँचों शिष्य, जो उन्हें उरुवेला के वन में अकेला ही छोड़ आए थे, वाराणसी से डेढ कोश उत्तर दिशा में मृगदाव-नामक वन में तपस्या कर रहे थे। नाना स्थानों में विचरण करते हुए बुद्ध वाराणसी जा पहुँचे। मार्ग में उन्हें उन पाँच भद्रवर्गीय ब्रह्मचारियों का पता लग गया था। वह भी मृगदाव को ही चल दिए।

पाँचों ब्रह्मचारियों ने उन्हें दूर से ही आता हुआ देख लिया।

एक बोला—"वह देखो, गौतम चला आ रहा है, इसी ओर नष्ट-भ्रष्ट होकर।"

दूसरा कहने लगा—"आने दो, हमें कोई प्रयोजन नहीं उससे।"

तीसरे ने कहा—"हमें कोई आवश्यकता नहीं है कि उसे बैठने के लिये आसन दें। हम सब अपनी-अपनी आँखें मूँद कर ध्यानस्थ हो जावें।"

कौण्डिन्य ने विरोध किया—"यह कोरे पाखंड की बात है। इससे हमारा कल्याण न होगा। सिद्धार्थ ने हमारा क्या बिगाड़ा है, जो हम साधारण शिष्टाचार से भी उसे वंचित कर दें। महर्षि न हो वह, राजवंशी तो है। तुम्हारी कुछ भी इच्छा हो, मैं तो अवश्य ही उनकी अभ्यर्थना करूंगा। मुझे तो उनकी गति में गुरुता और मुख में दिव्य तेज दिखाई दे रहा है।"

शेष चारों ने कहा—"शिष्टाचार नहीं कहता कि एक तप-भ्रष्ट इंद्रियों के दास साधु के लिये सम्मान प्रकट किया जाय।"

पर जब बुद्ध उन ब्रह्मचारियों के निकट आए, तो उनके तपोबल ने पहले उन्हीं चार ब्रह्मचारियों को विवश किया। उन्होंने उठकर बुद्ध के चरणों पर गिरकर प्रणाम किया।

कौंडिन्य बड़ी देर तक बुद्ध के चरणों में मस्तक रक्खे रहा। उसके नेत्रों से अविराम अश्रु-धारा उन्हें अर्घ्य दे रही थी।

बुद्ध ने प्रेम के स्पर्श से उसे उठाकर छाती से लगाया—"कौडिन्य !"

अपराध क्षमा कीजिए गुरुदेव ! सबसे प्रथम मेरे ही मानस में वह अज्ञान उपजा था मैंने ही इन ब्रह्मचारियों को भी आपका द्रोही बनाया। देखता हूँ, बड़ा अक्षम्य अपराध हो गया मुझसे। आपके शरीर से एक अलौकिक ज्योति बहिर्गत होती हुई देख रहा हूँ मैं।" कौंडिन्य ने कहा।

"हाँ कौंडिन्य, मैंने सम्यक् संबोधिपद प्राप्त किया है।"

"पाँचों ब्रह्मचारियों ने उन्हें हाथ जोड़कर कहा—"भगवान् बोधिसत्व की जय !"

दिन डूब गया था, और संध्या अतीत हो रही थी। बोधिसत्व का शरीर दिव्य आभा से चमक रहा था।

कौंडिन्य ने कहा—"हमारा धन्य जीवन है। हमें तथागत के दर्शन हुए हैं। हमारी पाप-वासनाएँ आपके दर्शन मात्र से क्षीण हो चली हैं। हमारा आप पर विश्वास बढ़ चला है। भगवान् हम पर कृपा करें, और हमें भी सत्य-ज्ञान का उपदेश दान करें।"

"अवश्य ही, मैं इसी हेतु तुम्हारे पास आया हूँ। मैं सबसे पहले तुम्हें ही उस मध्यमा प्रतिपदा का परिचय दूँगा, जिसे मैंने पहचाना है। उस आर्य अष्टांगिक मार्ग को तुम्हें दिखा दूँगा, जो मैंने देखा है। उन चतुः आर्य-सत्य के तुम्हें दर्शन कराऊँगा, जिनके मैंने दर्शन किए हैं।"

शिष्यों ने भगवान् को बड़ी श्रद्धा और आदर के साथ एक उच्च आसन पर प्रतिष्ठित किया, और स्वयं उनकी आज्ञा लेकर भूमि पर बैठ गए।

रात्रि प्रकट हो गई। रात्रि का प्रथम याम बुद्ध ने तूष्णीं-भाव के अवलंबन में बिताया। द्वितीय याम अमृतमय कथोपकथन में अतिवाहित किया। तृतीय याम में जब निशा गंभीरतम हो गई थी, सचराचर निस्तब्ध हो गया था, भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को धर्म के मूल-तत्त्व सुनाने आरंभ किए।

बुद्ध ने कहा—" हे भिक्षुगण ! संसार में एक ओर इंद्रिय-सुख है, और दूसरी ओर इंद्रिय-निग्रह। एक रस-लोलुपता के पीछे खोया हुआ है और रात-दिन नाना प्रकार के भोगों में आनंद खोज रहा है, भाँति-भाँति के पुष्टकर पदार्थों से शरीर का पोषण कर रहा है, दूसरी ओर वे हैं, जो नाना प्रकार के कठिन तपों से शरीर को हठ-पूर्वक कष्ट दे रहे हैं, मिताहार और अनाहार से उसे सुखा रहे हैं। इन दोनों पथों में से कोई भी मनुष्य के अज्ञान का आवरण हटाकर उसे चिरंतन शांति देने में समर्थ नहीं है। ये दोनो मार्ग जहाँ मिल जाते हैं, मैंने उस मार्ग को ढूँढ़ निकाला है, वह मध्यवर्ती मध्यम मार्ग है। इस मार्ग में अग्रसर होने पर मनुष्य के अंतर्नेत्र खुल जाते हैं, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है, और उसे निर्वाण प्राप्त करना सरल हो जाता है।"

उस नैश निस्तब्धता में शिलावत् मूक होकर वे पाँचों शिष्य हाथ जोड़े विनत-मस्तक बुद्ध के चरणों में बैठे उनका उपदेश सुन रहे थे। उस रात के अंधकार में बुद्ध, जो ज्योति उन्होंने प्राप्त की थी, उससे पाँच शिखाओं को प्रदीप्त कर रहे थे।

अमिताभ का धर्मचक्र-प्रवर्तन सूत्र अविराम और अबाध गति से चल रहा था—"मार्ग के जिन आर्य अष्टांगों को मैंने ढूँढ़ निकाला

है, वे हैं—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाचा, (४) सम्यक् कर्म, (५) सम्यक् आजीव अर्थात् जीविका-आहरण, (६) सम्यक् चेष्टा, (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक समाधि ।"

इसके अनंतर बुद्ध ने चार आर्य-सत्यों को प्रकट करते हुए उनसे कहा—"(१) दुःख, (२) दुःख का कारण, (३) दुःख का निरोध और (४) दुःख-निरोध का उपाय । इनका ठीक-ठीक ज्ञान होना ही चार आर्य-सत्यों की प्राप्ति है ।

"जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु दुःख है । अप्रिय का मिलन और प्रिय का विरह दुःख है । अतृप्त वासना दुःख है । संक्षेपतः अनुराग से उत्पन्न पंचस्कंध दुःख हैं ।

"दुःख का कारण तृष्णा है, तृष्णा के कारण ही हम जन्मों के चक्र में आवर्तित हैं । काम, भव और विभव की तृष्णा के कारण ही हम दुःखी हैं ।

"हे भिक्षुओ, इस तृष्णा की समूल निवृत्ति ही दुःख का निरोध है । मैंने इस तृष्णा को निःशेष किया है, इसी से मैंने सम्यक् संबोधि-पद प्राप्त किया है । मेरा अब पुनर्जन्म नहीं हो सकता । मुझे निर्वाण मिल गया है ।

"अंत में हे भिक्षुओ, अभी मैंने जिन आठ अंगों का वर्णन किया, वे आठ अंग ही दुःख-निरोध के उपाय हैं ।"

इस प्रकार अमिताभ ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया । वह चक्र बड़े वेग से पृथ्वी पर चलने लगा । सारा जगत् उसकी परिक्रमा में घिरना आरंभ हुआ ।

कौंडिन्य आदि को बुद्ध की कृपा से दिव्य ज्ञान हुआ । वे बोले—"हे अमिताभ बुद्ध ! निःसंदेह आपने सत्य का साक्षात्कार किया है । जय हो, अमिताभ की जय हो ! बुद्ध की जय हो, धर्म की जय हो !"

वह जय-घोष बढ़ता ही चला। सुर, नर, नाग, यक्ष, गंधर्व और पितरों ने भी तीनो लोकों को निनादित कर कहा—"नमो बुद्धाय !"

पति-वियोग-कातरा यशोधरा ने वे छ वर्ष छ युगों के समान बिताए। एक तपस्विनी की भाँति, राजभवन में रहने पर भी वनवास से भी अधिक शून्यता के साथ, वह तिल-तिल घुलकर क्षीणकाय हो गई !

सिद्धार्थ के गले के एक मुक्ताहार को उसने अपना साथी बनाया। सोते-जागते उसके हाथों में वही माला रहती। वह अपना समय का अधिकांश एक-एक मुक्ता में सिद्धार्थ का नाम जपकर अतिवाहित करती। उसे विश्वास हो गया था, एक दिन उसके स्वामी सत्य-प्राप्ति कर उसके पास लौटेंगे, इसी विश्वास पर उसके प्राण अटके हुए थे।

महाराज शुद्धोदन ने फिर सिद्धार्थ की खोज के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया। वह लोगों के कहने-सुनने से मान गए। उन्होंने सिद्धार्थ के उद्देश्य की महानता को समझ लिया और उन्हें असित ऋषि की इस भविष्य-वाणी पर विश्वास हो गया—" ··नहीं तो यह बालक संसार का प्रमुख धर्म-गुरु होगा।"

प्रकट रूप से सिद्धार्थ का अनुसंधान नहीं कर रहे थे महाराज। इस भय से कि उनकी साधना में विघ्न पड़ेगा, पर उनका आकुल हृदय सदैव ही पुत्र की कुशल-क्षेम जानने के लिये उत्सुक रहता था। राजरानी प्रजावती उन्हें कभी भूलने ही न देती।

मगध से जो भी यात्री, भिक्षु, परिव्राजक, वणिक् कपिलवस्तु आता, शुद्धोदन उसे राजभवन में निमंत्रित कर उससे सिद्धार्थ के समाचार पूछते।

त्रपुर और भल्लिक व्यवसाय करते हुए जब कपिलवस्तु पहुँचे, तब इन्होंने वहाँ सिद्धार्थ की ज्ञान-प्राप्ति का समाचार फैलाया।

महाराज ने यह सुनते ही उन्हें राजभवन में बुला भेजा और कहा—"हे व्यापारियो ! तुम मेरे अभिनंदन के पात्र हो। तुमने मेरे युवराज को देखा है ?"

"हाँ महाराज, देखा है। अब उन्हें कपिलवस्तु का युवराज कहना उनका अपमान करना है। चक्रवर्ती राज्यपति होना भी अब उनके सामने तुच्छ वस्तु है।" त्रपुर ने कहा।

सहसा महाराज ने कहा—"ठहरो मित्र, मैं अकेले ही यह समाचार नहीं सुनना चाहता।" वह दौड़े हुए अंतःपुर में चले गए और प्रजावती, यशोधरा एवं छ वर्ष के बालक राहुल को अपने साथ ले आए।

"मेरा सिद्धार्थ ! मैंने सुना था, उसने उपवास से अपनी काया को सुखा डाला है। हे महानुभावो, आपने कितना दुर्बल देखा उन्हें ?"

"दुर्बल ?" भल्लिक ने त्रपुर की ओर देखा।

त्रपुर बोला—"नहीं तो। अद्भुत स्वर्गीय ज्योति से उनका मुख-मंडल भासमान था। मनुष्यों में हमने ऐसा तेज नहीं देखा, देवता होते होंगे, तो होंगे।"

"उन्होंने परम ज्ञान प्राप्त किया है, इसमें कोई संदेह नहीं।" भल्लिक बोला।

श्रोता गद्गद हो गए। उनके मुख से शब्द न निकल सके।

राहुल बोला—"मा, कब आवेंगे पिताजी ?"

यशोधरा ने छिपाकर अपने अश्रु पोछ लिए।

"अबोध बालक ! पिता को कभी देखा भी तो नहीं। कैसी ममता हो गई इसे उनकी।" कहकर महाराज ने राहुल को गोद में ले लिया—"अब शीघ्र ही आवेंगे तुम्हारे पिता, राहुल।"

"फिर मेरे लिये क्या लावेंगे ?"

"खाने के लिये फल-मिष्ठान्न और खेलने के लिये खेल-खिलौने।" प्रजावती ने कहा।

महाराज ने पूछा—"मेरे पुत्र ने परम ज्ञान प्राप्त किया है, जीवन में वह सबसे सुखद समाचार है हमारे लिये। ज्ञान प्राप्त कर हमारे पास लौटने का वचन दिया था कभी उसने। कुछ कहा नहीं तुमसे ?"

"नहीं महाराज !"

"कोई चिंता नहीं। तुमने जो शुभ समाचार हमें दिया, उसका बदला क्या दें तुम्हें।" कहकर कुछ विचार किया महाराज ने— "तुम्हारे शकट में जो भी पण्य द्रव्य है, उसे दीन-दुखियों को बाँट दो। तुम्हारे शकट को स्वर्ण-मुद्राओं से भरकर हम तुम्हें विदा देंगे।"

त्रपुर और भल्लिक यथासमय सम्मान-पूर्वक विदा हुए।

यशोधरा ने यह समाचार जानकर भी अपना रहन-सहन परिवर्तित नहीं किया। उसने कहा—"यदि मेरे स्वामी राजभवन में लौटकर फिर सांसारिकता ग्रहण करें, तो मुझे भी स्वीकार है, नहीं तो अब मुझे यह जीवन अभ्यस्त हो गया है।"

राजगृह में अजात और देवदत्त की मित्रता में और भी घनिष्ठता बढ़ गई। उनके कुचक्र बहुत बढ़ गए थे। उनके आचरण के विरुद्ध बातें महाराज के कानों तक बराबर जातीं। वह किसी प्रकार भी युवराज का सुधार करने में समर्थ न हो सके। वे दोनो निर्भय होकर जो मन में आता, करते। महाराज के लिये कोई आदर, जगत् की कोई लज्जा, भगवान् का कोई भय रह न गया था उनके हृदय में।

अजातशत्रु से एक दिन किसी बात में असंतुष्ट होकर देवदत्त ने कहा—"भाई अजात, अब मेरा मन नहीं लगता तुम्हारे राजगृह में।"

"क्यों ? क्यों ?" चिंतित होकर अजात ने पूछा।

"नहीं जानता कारण।" असंतोष को बड़ी चतुराई से छिपाकर देवदत्त ने कहा।

"क्या अजान में कोई अपराध हो गया मुझसे ?"

"नहीं।"

"राज के किसी कर्मचारी ने अवज्ञा की तुम्हारी ?"

"नहीं।"

"महाराज ने कुछ कहा ?"

देवदत्त चुप रह गया।

"तुम्हारी मित्रता को मैं पिता के प्रेम से बढ़कर समझता हूँ।"

"नहीं-नहीं, उन्होंने कुछ नहीं कहा। अब वह कुछ भी नहीं कहते मुझसे। ऐसे ही मेरे मन में भोगों के प्रति विराग उत्पन्न हो गया।"

"तुमने सिद्धार्थ की तपस्या के समाचार सुने हैं। लोग जब किसी की प्रशंसा करने लगते हैं, तो ऐसी ही उड़ा देते हैं। क्या तुम्हारा मन भी भिक्षु बन जाने की इच्छा रखता है ?"

"हाँ।"

"सिद्धार्थ तुम्हारा प्राचीन प्रतिद्वंद्वी है।"

'यह अनुमान तुम्हारा ठीक ही है।"

"आम्रपाली हमें धोका देकर चली गई! क्या उसकी यह स्वार्थपरता तुम्हें खटक गई है? श्रावस्ती का वह श्रेष्ठी है क्या वस्तु! क्या हुआ यदि हमारा उस राज्य पर चढ़ाई करने का कोई प्रत्यक्ष कारण है नहीं तो। हम उपजा लेंगे कोई। मगध के युवराज की प्रेम-पात्री को श्रावस्ती का एक तुच्छ राजकुमार अपने बंधन में रक्खे हुए है। यह असह्य है देवदत्त, कहो, तो उस पर चढ़ाई कर दें। प्रकृत कारण न देंगे, केवल भूमि-जय की आकांक्षा। क्या यह क्षत्रिय के गौरव की वस्तु नहीं है? महाराज सहमत न होंगे, न होवें।" अजातशत्रु ने कहा।

बड़े वैराग्य की उपेक्षा से हँसा देवदत्त।

"सच-सच अपने हृदय की बात कहो मित्र ! मुझे स्मरण है, एक दिन तुमने मुझसे कहा था, अपने इस चिर विधुर जीवन का कारण—"

"तुमने क्या उसे मेरी विवशता समझ रक्खा है ?" कुछ रूखी दृष्टि से देवदत्त ने पूछा।

"नहीं तो।"

"फिर ? क्या कारण बताया था मैंने ?"

"आम्रपाली को ही तुमने कारण बताया था एकबार।"

"मुझे स्मरण नहीं।"

"मैं भूलता नहीं।"

"कह दिया होगा किसी दिन आसव की भावुकता में।" देवदत्त बोला।

हँसने लगा अजातशत्रु—"एक समय तो तुमने अपने हृदय का प्रेम दिया था उसे ?"

"दिया होगा। क्या एक समय वह मगध के युवराज को भी नहीं नचाने लगी थी अपने संकेतों पर ?"

"नहीं मित्र, अजातशत्रु के खेल की पुत्तलियाँ हैं ये, हृदय-विनिमय के हेत नहीं। जगत् का अनुभव लेने के लिये। कूटता सीखने के लिये। तुम कहते नहीं हो क्या ? शासक को कूटता चाहिए।" अजातशत्रु ने कहा।

"मेरी दार्शनिकता कुछ भिन्न है इस संबंध में। मैं सिद्धार्थ की भाँति रस के जगत् से उस प्रकार भाग जाने को कायरता समझता हूँ। कामुकता क्या केवल विलास-भवनों ही में है ? क्या उसका उद्गम स्रोत मनुष्य का मन नहीं है। उससे तो छूट नहीं सकता कपिलवस्तु का युवराज।"

"दूतगण तो सर्वथा भिन्न समाचार लाते हैं राजसभा में। इधर कुछ मास से किसी का आगमन सुना या देखा नहीं। पिछले

दिनों तो यही समाचार था कि सिद्धार्थ केवल वायु और जल खा-पीकर ही ध्यान में अवस्थित हैं।"

"एक असंभव बात अजात! ऐसा भी कहीं हो सकता है। उसके चेले लुक-छिपकर उसके अशन और दशन चला देते होंगे और गुरु की महिमा उड़ा देते होंगे। गुरु की महिमा पर ही तो चेलों का भी आदर-सत्कार अवलंबित है।"

"भगवान् जानें।"

हम भी जान सकते हैं मित्र। यह एक स्पष्ट सत्य है। वासना से हम जितना ही खिंचेंगे, वह समय पाकर उतना ही हमें खींच लेती है। मन को जितनी दूर हम भोगों से ले जावेंगे, उतना ही अस्थिर हो उठता है। स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सुख-भोग, राज-काज छोड़कर क्या उस वन में सिद्धार्थ को उनकी स्मृति मिट गई होगी। कभी नहीं। अस्थिर मन क्या ध्यानस्थ हो सकता है? जब तक शरीर है, तब तक मन है और है इंद्रियों का व्यापार। मन से इंद्रिय-सुख की कल्पना से अच्छा है शरीर से इंद्रियों का सुख-भोग।"

"तो क्या अप्सराओं को साथ ले जाकर तुम तपस्या करना चाहते हो?"

"तुम इसे परिहास में उड़ा रहे हो, पर देवदत्त का मन विलास से भर चुका है।"

"नहीं मित्र, अभी नहीं।" अजातशत्रु ने देवदत्त का हाथ पकड़ लिया। अभी आम्रपाली में हमारे मन को खींचने की पर्याप्त शक्ति है। आगामी वासंतोत्सव तक न आने पर ही उसे कोई दोष दिया जा सकेगा, तब तक के लिये मित्र तुम अपने इस वैराग्य और तपस्या के संकल्प को स्थगित ही रक्खो। आम्रपाली को जाने भी दो। क्या उसके अनुरूप और सुंदरियाँ नहीं हैं राजगृह में।"

कौंडिन्य बुद्ध का सर्वप्रथम शिष्य हुआ। इसके अनंतर शेष चारों ब्रह्मचारियों ने भी उसका शिष्यत्व ग्रहण किया। इस प्रकार बुद्ध और उनके पाँच शिष्यों ने मिलकर उस संघ का निर्माण किया, जिसने प्रसारित होकर सारे जगत् को ढक लिया।

वर्षा-काल आ पहुँचा। भगवान् बुद्ध ने मृगदाव में ही प्रथम वर्षा-काल बिताना निश्चय किया। उनकी ज्ञान-प्राप्ति का समाचार चारों ओर फैल गया। लोग उनके परम दिव्य रूप के दर्शन करने और अमृत उपदेश-वाणी सुनने के लिये आने लगे।

वाराणसी में यश-नामक एक श्री-संपन्न श्रेष्ठी का पुत्र था। अनंत सुख और वैभव के बीच में पला हुआ था वह। एक रात को न-जाने क्या हुआ, उसके मन में महान् विरक्ति छा गई। वह अपने समस्त राजसी सुख के बंधनों को छोड़कर भाग निकला उस तम से भरी हुई रात में। उसके प्राण एक दुर्दमनीय वेदना से ज्वलित थे। मृगदाव की शून्यता की ओर ही खिंचता हुआ चला गया वह।

रात्रि के अंधकार को प्रतिध्वनित करते हुए अटूट वाणी से चिल्लाता हुआ जा रहा था वह—"हा दुःख! हा संताप!"

बोधिसत्त्व ने अपने आसन से किसी को बड़ी मर्म वाणी में पुकारते हुए सुना—"हा दुःख! हा संताप!"

बोधिसत्त्व ने मन में कहा—"कोई प्राणों के भीतर से बोल रहा है। एक दिन ऐसी ही मेरी भी दशा हुई थी। यह प्रथम आर्य-सत्य इस पर प्रकट हुआ। मैं इसे अपने समीप बुलाकर इसे शेष सत्य भी सुनाऊँगा।" उन्होंने उच्च स्वर में कहा—'हे दुःख और संताप से पीड़ित प्राणी! कौन हो तुम, मैं तुम्हें इनका कारण, निरोध और निरोध के उपाय भी बताऊँगा। आओ, आओ, तुम मेरी सन्निधि में आओ।"

श्रेष्ठी-पुत्र यश ने बुद्ध के निकट जाकर उन्हें प्रणाम किया—"हाँ, आप अवश्य ही मेरा संताप हर लेंगे, मैं आपकी शरण हूँ। आपके चरण न-जाने कितनी दूर से मुझे खींचते हुए चले आए हैं। मैं वाराणसी के प्रख्यात श्रेष्ठी का पुत्र यश हूँ। मैं संसार के संताप से उत्तप्त हो उठा हूँ।"

"तुम्हें शांति मिलेगी यश! संसार के दुःखों का बोध होना ही इस मार्ग में बढ़ना है। स्वभावतः तुम्हारा मन दुःख के कारण को ढूँढ़ेगा, उसके निरोध के लिये व्याकुल होगा और निरोध का उपाय मिल जायगा। मैं भी एक दिन इस संसार-व्यापी दुःख से विकल हुआ था, मैंने इससे छूटने के उपाय ढूँढ़े, मुझे मिले मैं मुक्त हूँ और मैं अब समस्त जगत् के बंधन खोल दूँगा।"

"मैंने स्वप्न में जिस भव्य मूर्ति को देखा था, वही हैं आप। उसी ने मुझे यहाँ बुलाया। मैंने रात्रि का भय छोड़ दिया, मैंने गृहस्थ का मोह तोड़ दिया। मैं आपके दर्शन कर आप पर विश्वास लाया हूँ। आप मुझे शांति देंगे।"

"हाँ, मैं सम्यक् संबोधि-पद प्राप्त हूँ।"

"मैं परम शांति-आगार, ज्ञान के सागर, शुद्ध बुद्ध को प्रणाम करता हूँ। मुझे ज्ञान दीजिए।"

बोधिसत्त्व ने यश में आर्य-अष्टांगों की व्यावहारिकता उपजा दी। यश ने प्रव्यजित होकर संघ की गणना में सातवाँ अंक पूरा किया।

मृगदाव में दूर-दूर से तथागत के दर्शनों के लिये लोग आने लगे। वर्षा-वास के तीन महीनों में बुद्ध के वहाँ साठ शिष्य हो गए।

यश के माता-पिता उसे खोजते हुए वहाँ आए। पुत्र को पीत चीवर धारण किए, केश मुँडाए, भिक्षा-पात्र लिए देखा, तो अचेत-से हो गए। अमिताभ पर दृष्टि पड़ी, तो चकित-से रह गए।

बुद्ध के अमृत उपदेशों से वे भी प्रभावित हो गए। उन्होंने भी दीक्षा ली। रागी भिक्षु से विरागी गृहस्थ को अमिताभ श्रेष्ठ समझते थे। यश के माता-पिता यश को फिर गृहस्थाश्रम में न खींच सके, स्वयं लौट गए।

वर्षा के अंत में एक दिन बुद्ध ने अपने शिष्यों को एकत्रित कर कहा—"हे भिक्षुगण! तुमने जिस सत्य को पाया है, उसमें तुम्हारी चिर प्रतिष्ठा हो, उसके हेतु बिना किसी लोभ और आशा के तुम्हें यह धर्म संदेश जगत् के आर्त प्राणियों के द्वार-द्वार सुनाना है कि धर्मचक्र अधिक वेग से प्रवर्तित रहे।"

साठों शिष्यों को विभिन्न दिशाओं में भेजकर बुद्धदेव फिर उरुबेला को प्रस्थित हुए। मार्ग में कापाशीय वन में उन्हें तीस धनी-संपन्न घरों के युवक मिले, जो बड़ी चिंता के साथ उस वन में किसी को खोज रहे थे।

"तुम्हारा क्या खो गया?" बुद्ध ने पूछा।

"तुमने किसी सुंदरी वेश्या को भी देखा मार्ग में?" उन्होंने पूछा।

"हाँ, देखा है।" बुद्ध ने कहा।

"कहाँ पर? वह हमें आसव की अचेतना में कर हमारा सब कुछ लूटकर चल दी है। कितनी दूर पर है वह?" एक ने कहा।

"कहाँ वन में भटक रहे हो? यहीं पर तो है वह।"

"कहाँ?"

"यहीं तुम्हारे मन में।"

"कौन?"

"तुम्हारी तृष्णा, वह किस वेश्या से कम है। उसने तुम्हें मिथ्या में सत्य का आभास देकर क्या अचेत नहीं कर रक्खा है। वह तुम्हारा रूप, रंग, स्वास्थ्य, यौवन, आयु सब कुछ लूटकर चली

जा रही है। रत्न और आभूषणों के लिये इतने विकल हो गए हो तुम। जीवन के हेतु नहीं?"

तीसों धनिक-पुत्रों के मन में बुद्ध की वाणी गड़ गई। उन्होंने उन्हें पात्र समझकर उन्हें चारों आर्य-सत्यों की चेतना दी। प्रव्रज्या देकर बुद्ध ने उन्हें भी तीस दिशाओं में सत्य के प्रचार के लिये भेज दिया।

उरुवेला में काश्यप-नामक एक तपस्वी रहता था। वह अपनी विद्वत्ता के लिये समस्त आर्यावर्त में प्रसिद्ध था। वे तीन भाई थे, और उसके अगणित शिष्य थे। बुद्ध ने काश्यप को अपने तेज, तप और ज्ञान से प्रभावित किया।

काश्यप अग्नि का उपासक था। बुद्ध ने उन्हें एकत्र कर अग्नि का उपदेश दिया—"सर्वत्र प्रचंड अग्नि प्रज्वलित हो रही है। नेत्र, कर्ण आदि समस्त इंद्रियाँ जल रही हैं। उनके सुख-भोग भस्मीभूत हो रहे हैं। वे काम के दावानल से जल रहे हैं। क्रोध की ज्वाला से, अज्ञान की अग्नि से, घृणा के ताप से सब जल रहे हैं। वे अविराम रूप से जलते ही रहेंगे, जन्म और मरण के बीच में, जरा, वेदना, संताप और निराशा के बीच में। केवल वह, जिसने चार आर्य-सत्यों को पहचाना है, जो धर्म के अष्टांग मार्ग पर चला है, उसे फिर इंद्रियों और कामना में सुख नहीं दिखा-ई देगा। उसकी तृष्णा का अंत हो जायगा और वह निर्वाण-पद का अधिकारी होगा।"

बुद्ध ने उन्हें आर्य-सत्य और अष्टांग-मार्ग की शिक्षा दी। काश्यप ने अपने भाइयों और शिष्यों के साथ भगवान् बुद्ध में, उनके धर्म में और उनके संघ में शरण ली।

काश्यप के समान प्रसिद्ध मनुष्य ने जब बुद्ध का शिष्यत्व स्वीकार किया, तो उनकी कीर्ति बड़े वेग से विस्तारित हो गई।

काश्यप के साथ अगणित भिक्षुओं को साथ लेकर बोधिसत्व ने राजगृह की ओर प्रस्थान किया। नगर के बाहर ही उन्होंने यष्टिवन में अवस्थिति की।

जब यह समाचार नगर में पहुँचा, तो नर-नारियों का समुद्र बोधिसत्व के दर्शनों के लिये उमड़ पड़ा। महाराज बिंबसार भी तुरंत ही उनकी अभ्यर्थना के लिये राजभवन से निकल पड़े।

उस जनता की भीड़ को बुद्ध ने उपदेश करना आरंभ किया। उन्होंने चार महासत्य और अष्टांग-मार्ग की सुविस्तृत व्याख्या की। उपदेश के अंत में महाराज बिंबिसार उठे और हाथ जोड़कर कहा—"हे अमिताभ! मेरी पाँच इच्छाएँ थीं। मैं महान् सम्राट् होऊँ, बुद्ध मेरे राज्य में पधारें, मैं उनकी अभ्यर्थना करूँ, वह मुझे उपदेश करें और मैं उनकी शरण में जाऊँ। आज मेरी पाँचों इच्छाएँ पूर्ण हुई है। मैंने तथागत के उपदेश सुने। आपने अव्यवस्थित को व्यवस्थित किया है, छिपे हुए को प्रकट किया है। आपने पथ-भ्रष्ट को मार्ग दिखाया है, आपने घोर तमसाच्छन्न निशा में दीपक जलाया है कि नेत्रवाले देख सके। आपकी जय हो! मैं आपकी शरण हूँ, मैं धर्म की शरण हूँ, मैं संघ की शरण हूँ।"

अमिताभ की अनंत आत्मशक्ति चमक उठी। उन्होंने सारी सभा को अपनी तेजस्विता के वशीभूत कर लिया। सभी ने उनके सत्य को ग्रहण किया।

महाराज बुद्ध को भिक्षा के लिये राजभवन में निमंत्रित कर बिदा हो गए।

महान् काश्यप के शिष्यत्व से जो बुद्ध की कीर्ति फैली थी, वह सम्राट् बिंबिसार की दीक्षा से और भी द्विगुणित हो गई।

देवदत्त ने जब बुद्ध की ज्ञान-प्राप्ति का समाचार सुना, तो वह द्वेष से जल उठा। बहुत देर तक उसके मुख से कोई वचन ही

नहीं निकला। बड़ी कठिनता से उसने कहा—"तुम परिहास तो नहीं कर रहे हो मित्र !"

अजात ने ही उसे वह समाचार सुनाया था। "हाँ-हाँ, मैं स्वयं ही तो अपने गवाक्ष-द्वार से देखकर आया हूँ। समस्त पुरवासी उनके दर्शन के लिये जा रहे हैं। मानो कोई देवता उतर आया हो धरती पर। नगर से दूर यष्टि-वन में ठहरे हैं वह।"

'चलें हम भी वहाँ।'

"आवश्यकता क्या है ?"

"सात प्राचीरों में जो युवराज बंदी कर दिया गया था, देख आवें, जगत में आने पर उसके दर्शन और विचारों में कैसा परिवर्तन हुआ है।"

अजात ने देवदत्त का हाथ पकड़ लिया -"नहीं मित्र, मैं न जाने दूँगा।"

"ऐसे भयभीत क्यों हो उठे तुम ?"

"ऐंद्रजालिक हो उठा है वह कपिलवस्तु का युवराज, जो भी उसके पास जा रहा है, सुनता हूँ, वह उसके केश काट, चीवर पहनाकर उसके हाथों में भिक्षा-पात्र दे रहा है। हमें भिक्षु बनना नहीं है। हमने साथ-साथ मगध के विशाल साम्राज्य-भोग के जो स्वप्न गढ़े हैं, वे क्या प्रत्यक्ष न करेंगे हम। मैं कहता हूँ, यदि सभी भिक्षु हो जाएँगे, तो उन्हें भिक्षा कौन देगा ?"

किसी प्रकार न माना देवदत्त, अपनी हठ पर दृढ़ रहा। सिद्धार्थ का काँटा उसके हृदय में गड़ा हुआ था। आज अचानक उसकी कीर्ति को दशों दिशाओं में चमकता हुआ देखकर वह प्रतिहिंसा से पागल हो उठा। अजातशत्रु की ओर से भी कदाचित् उसके मन में कोई गाँठ पड़ गई थी। क्योंकि युवराज की इच्छा के विरुद्ध उसने कभी अपने मन को ऐसी स्वतंत्रता नहीं दी थी।

देवदत्त ने यष्टि-वन में पहुँचकर देखा, नर-नारियों के समूह-के-समूह एकत्रित हैं। उपदेश उस समय समाप्त हो चुका था। महाराज बिंबिसार बुद्ध को प्रणाम कर बिदा हो रहे थे।

देवदत्त ने मन में सोचा - "हैं, यह क्या इतना प्रतापी मगधराज एक साधारण राज्य के युवराज की ऐसी भक्ति में बँध गया। देवदत्त को यह किस शंकित हृदय से देखता है।"

बिंबिसार बिदा हुए। देवदत्त भीड़ को चीरता हुआ बुद्ध के निकट जाने लगा। ज्यों-ज्यों उनसे उनकी दूरी कम होती गई, उसकी भावना त्यों-त्यों बदलती गई।

बिलकुल निकट जाकर उसने देखा, परम शांत और दिव्य मूर्ति! वह अपनी सारी प्रतिहिंसा भूल गया। उसने बुद्ध के चरणों में गिरकर कहा—"मैं देवदत्त, आपका बाल-सखा आपको प्रणाम करता हूँ।"

"धर्म में मति हो देवदत्त!"

देवदत्त को अपना जीवन कलुष-पूर्ण दिखाई दिया। उसे अपनी भोग-वृत्ति से घृणा उपजी। वह सोचने लगा—"मैं भी क्यों न चला गया वन में तपस्या के लिये।"

"भाई देवदत्त, मैंने जो सत्य पाया है, उसकी व्याख्या सुनी तुमने?"

"नहीं, मैं देर में आया।" देवदत्त ने कहा।

"कोई चिंता नहीं। मैं फिर तुम पर उस रहस्य को प्रकट करूँगा, तुम मेरे बहुत दिन के सखा हो। उस अमृत में मैं सबसे प्रथम तुम्हारा भाग समझता हूँ।"

पर देवदत्त का मन फिर दूसरी दिशा को खिंच गया था। वह बोला—"मैं फिर आऊँगा। आज मुझे अभी कुछ आवश्यक काम हैं।" देवदत्त लौट गया राजनगरी को।

"हाँ युवराज अजात, मैं आकुल हो उठा उन केशोच्छेदित भिक्षुओं के मुंडों को देखकर। उनकी कामनाओं को मैंने यथास्थान स्थित देखा। गृह, वस्त्र और केशों को दूरकर मैं नहीं समझता, उनको कौन-सा संयम प्राप्त हो गया होगा।" देवदत्त ने अजातशत्रु के पास लौटकर कहा।

"देवदत्त, मित्र, मैं समझता हूँ, योग से अधिक भोग के लिये पुरुषार्थ चाहिए।"

केवल महामुनि काश्यप तथा कुछ और महानुभावों को छोड़कर मैं समझता हूँ, सिद्धार्थ के समस्त शिष्य ऐसे ही हैं, जन्म के दरिद्र, बुद्धि और संपत्ति दोनो में।

मैं समझता हूँ, महाराज बिंबिसार को क्या हुआ। वह उसकी लपेट में आ गए। उन्होंने उसका शिष्यत्व ग्रहण किया है।

"तो क्या वह राजमुकुट मुझे सौंपकर, भिक्षा-पात्र हाथ में लेकर उसके साथ चल देंगे?"

"यह मैं नहीं जानता, पर मैंने बड़ी भक्ति और श्रद्धा के साथ उन्हें सिद्धार्थ को दंडवत्-प्रणाम करते देखा।"

"यह शुभ समाचार है हमारे लिये, कदाचित् हमें अधिक दिनों तक प्रतीक्षा न करनी पड़ेगी अपनी आकांक्षाओं को लेकर।"

दूसरे दिन संघ के साथ अमिताभ ने भिक्षा के लिये राजगृह में पदार्पण किया। उनके आगमन के समय मार्ग में दोनो ओर अट्टालिकाओं और छतों पर स्त्री-पुरुषों की भीड़ एकत्र हो गई। अमिताभ के यशोगान से सारा नगर भर गया।

नगर में भिक्षा माँगकर अंत में बुद्ध राजभवन में पहुँचे। अतिथि-सत्कार के अनंतर अत्यंत नम्रता-पूर्वक मगधाधिपति ने कहा—"हे परमपूज्य तथागत, इस सेवक की एक विनम्र प्रार्थना स्वीकार हो।"

"कहो भी तो।" विहँसकर बुद्ध बोले।

"नगर के असंख्य नर-नारी आपकी वाणी से मुग्ध हुए हैं, वे निरंतर आपके दर्शनों के इच्छुक हैं। यष्टिवन नगर से बहुत दूर है। निकट ही मेरा वेणुवन-नामक उद्यान है। यदि वहाँ अमिताभ अवस्थिति करें, तो हमारा अत्यंत कल्याण हो।" बिंबिसार ने कहा।

बुद्ध स्वीकृति देकर लौट गए।

परन्तु वेणुवन अजातशत्रु का क्रीड़ा-स्थल था। महाराज ने मन में समझा था युवराज, बुद्ध-जैसे महात्मा के लिये सहज ही वेणुवन रिक्त कर देंगे। पर युवराज की हठ और अवज्ञा को देखकर महाराज बहुत खिन्न हो गए।

"उस महात्मा के आगमन से राजगृह पवित्र हुआ है। तुमने उनके दर्शन नहीं किए, जान पड़ता है। नहीं तो तुम कदापि ऐसा न कहते। तुम्हारे आमोद-प्रमोद के लिये राजभवन के अतिरिक्त इतने वन और वाटिकाएँ हैं। केवल कुछ ही दिन तो रहेंगे वह। मैं वचन हार चुका हूँ।"

"सदैव ऐसे महात्मा राजभवन में आते-जाते रहते हैं।"

"मैं कहता हूँ, तुमने उन्हें देखा ही नहीं है।"

"वह देवदत्त का बाल-सखा है, संबंधी है। उसके अनुराग और विराग की अनेक कथाएँ मुझसे कही हैं देवदत्त ने।"

"तुम बालकों की-सी बातें कर रहे हो। मैंने कल ही से उन्हें वेणुवन में आमंत्रित किया है।"

और कल ही को मैंने नृत्योत्सव की रचना का निमंत्रण दे रक्खा है अपने मित्रों को।"

"समस्त राजगृह बड़ी श्रद्धा के साथ जिस महापुरुष की अभ्यर्थना कर रहा है, उसे झूठा वचन देने से मेरा दुर्नाम फैल जायगा।"

"मेरे वे अनेक मित्र क्या समझेंगे मेरे संबंध में? महाराज,

धृष्टता क्षमा हो। जब वेणु-वन मेरे अधिकार में है, तो आपको मुझसे पूछकर ही तो किसी को देना था न? उसे कहीं कोई और स्थान बता दीजिए। अतिथिशाला में बुला लीजिए।"

महाराज अजातशत्रु के हठी स्वभाव को उसके पालने में ही पहचान चुके थे। अपने रोष को मन में ही दबाकर चल दिए वहां से। उन्होंने देवदत्त को बुला भेजा।

अंतःपुर में महाराज का निमंत्रण पाकर मन-ही-मन देवदत्त अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करता हुआ उनके पास चला— 'आज कौन-सी नवीन व्यवस्था है। देवदत्त राजगृह में महाराज की आँख का बड़ा तीक्ष्ण काँटा है। वह कभी सीधे मुँह बात भी नहीं करते इधर मुझसे। फिर आज अंतःपुर में मेरा निमंत्रण कौन-सी अभिसंधि रखता है?"

"देवदत्त, तुम अजातशत्रु के मित्र हो।" महाराज ने कहा।

"हाँ महाराज! नहीं जानता, यह सौभाग्य है अथवा दुर्भाग्य!" देवदत्त ने प्रत्युत्तर में कहा।

"तुम बहुत चतुर और मेधावी हो। मैंने अनेक बार इस सत्य को खोला है। राज्य में तुम्हारे उपयोग की मैंने जो भी योजना बनाई, तुमने सदा उसकी उपेक्षा की।"

देवदत्त ने मन में सोचा -"नहीं जानता, आज यह मगध का सम्राट् कौन-सा फंदा डालना चाहता है मेरे ऊपर! सावधान देवदत्त, बहुत सावधान!"

"तुम अमिताभ के दर्शन करने गए थे?" बिंबिसार ने पूछा। उदासीनता से कहा उसने—"हाँ महाराज!"

"क्या वह मनुष्य के चरम आत्मिक विकास का उदाहरण नहीं है?"

देवदत्त सिर खुजलाने लगा।

"तुम उन्हें बाल्य काल से जानते हो। हमारा मतभेद हो सकता है, पर नगर के जो बहुसंख्यक नर-नारी उनकी ओर आकृष्ट हुए हैं, यह इस बात की साक्षी है। वह एक महात्मा हैं।" महाराज ने कहा।

"हो सकता है।"

"मैंने उन्हें वेणु वन में निमंत्रित किया है। परन्तु युवराज नहीं चाहते वहाँ उनकी अवस्थिति, तुम उन्हें सम्मत कर सकते हो?"

"प्रयत्न करूँगा।" देवदत्त ने मन में सोचा—'यह तो महाराज मगधाधिपति भी फँसे हैं मेरे जाल में।"

"जाओ तब अभी। युवराज पर यह प्रकट करना नहीं है कि तुम मेरी इच्छा के पालक हो।"

देवदत्त बिदा हुआ। युवराज वेणु-वन के क्रीड़ागार में पहुँच गए थे। देवदत्त ने वहाँ पहुँचकर देखा, वह एक दिन पहले से ही नर्तकियों को जमा करने लग गए थे।

देवदत्त ने कहा "युवराज! मेरी बात मानोगे?"

"कहो तो सही।"

"मानोगे?"

"मानता तो चला आया हूँ।"

"कल का नृत्योत्सव अनिश्चित काल तक के लिये स्थगित कर दो।"

"कर दूँगा।" अजात ने कुछ सोचकर कहा—"हम परस्पर एक दूसरे की बात मानते चले आए हैं।"

"हाँ युवराज!"

"तुम पर इस भिक्षु का चक्र न चलेगा।"

"युवराज—" हठात् चुप हो गया देवदत्त।

"कहो, कहो।"

"सिद्धार्थ महात्मा हो गया युवराज !"

"आज ही प्रभात-समय तुम और बात कहते थे।" साश्चर्य अजात ने कहा।

"विचार-मंथन हो रहा था मेरे मन में। स्वार्थ हमें पतित कर देने-वाला बड़ा बली शत्रु है। वह सत्य तक नहीं पहुँचने देता हमें। पर तुम्हें सिद्धार्थ के लिये यह उपवन छोड़ देना होगा। वह कल यदि तुम्हें यहाँ नर्तकियों के साथ केलि-उन्मत्त देखेंगे, तो यह मगध-राज के लिये बड़े कलंक की बात होगी।"

"अभी छोड़े देता हूँ उसे, कह तो चुका हूँ। तुम भी प्रतिज्ञा करो कि तुम उस भिक्षु के साथ न लग जाओगे।"

"कल हम साथ-साथ उसके दर्शन करेंगे युवराज, फिर जैसा तुम कहोगे, उसका पालन करूँगा मैं।"

युवराज ने वेणु-वन का नृत्योत्सव स्थगित कर दिया। उसे उस नवागत भिक्षु और उसके शिष्यवर्ग के लिये रिक्त कर दिया उन्होंने।

महाराज ने युवराज को अनेक आशीर्वाद दिए, और देवदत्त की सराहना की।

बुद्ध शिष्यों के साथ आकर वेणु-वन में रहने लगे। लोगों के दल-के-दल उनकी शरण में आकर शांति प्राप्त करने लगे।

राजगृह के उपतिष्य और कालित-नामक दो ब्राह्मण कुमारों ने एक दिन भिक्षा माँगते हुए बुद्ध के एक शिष्य को देखा। उसके शांत और दिव्य रूप को देखकर वे चकित हो गए। वे दोनों उसके निकट गए।

उपतीष्य ने कहा—"हे भिक्षु, तुम्हारा दर्शन बड़ा पवित्रता-जनक है। हम तुमसे कुछ पूछना चाहते हैं। तुम्हें विलंब तो न होगा?"

"विलंब कैसा। लोक-सेवा ही हमारा व्रत है।"

"कौन-सा पंथ है तुम्हारा ?" कालित ने पूछा।

"गुरु कौन हैं ?" उपतीष्य बोला।

"मैं अमिताभ बोधिसत्व का शिष्य हूँ। मध्यम मार्ग ही मेरा पंथ है।"

'वेणु-वन में जो महात्मा आए हैं, क्या वही बोधिसत्व हैं ?"

"हाँ।"

"हमारा मन उनकी ओर खिंच गया है। क्या वह हमें दीक्षा देंगे ?' कालित बोला।

"क्यों नहीं। वह इसीलिये तो यहाँ आए हैं।"

राजगृह में बुद्ध का प्रभाव दिन-दिन बढ़ता ही गया। अनेक लोग अपना-अपना गृह-संसार छोड़ चीवर और भिक्षा-पात्र धारण कर उनके शिष्य हो गए। अनेक गृहस्थ भी उनके उपदेश ग्रहण कर धार्मिक जीवन बिताने लग गए थे।

बड़े-बड़े और कुलीन घरों के श्री-सुख-पालित युवक भोगमय जीवन का त्यागकर, गृह और आच्छादनों का त्यागकर लज्जा-निवारण-मात्र का वस्त्र धारण कर बुद्ध की शरण में चले गए। उन्होंने भिक्षान्न पर जीवित रहना स्वीकार किया, वृक्षों के नीचे निवास का अभ्यास किया। उपानह और उष्णीष त्यागकर ताप और शीत को अपने नग्न-शिख पर ले लिया।

उन्होंने गृह- परिवार की छोटी-सी परिधि को बढ़ाकर उससे समस्त संसार को, विभिन्न भाषा और आकृति के मानव को, प्राणी-मात्र को अपना मित्र बना लिया। वे सृष्टि-मात्र के मंगल के लिये, उद्धव के लिये आकुल हो उठे।

उन्होंने अपने ही अंग में अपने शत्रु की प्रतिष्ठा की। वे अपने स्वार्थ को भूल गए। समष्टि की हित-कामना में वे खो गए। वे पाखंड और बनावट से दूर थे, इसी से एक बुद्ध का तेज उन सब

दीपकों को प्रकाशित कर गया, और उस प्रकाश में देश के श्रांत-क्लांत, सुखी-दुखी, धनी-श्रमी, राजा-प्रजा, नर-नारी अपना मार्ग खोजने लगे।

मानसिक उन्नति भौतिक उन्नति से श्रेष्ठ है! तुच्छ स्वार्थ मानसिक उन्नति का सबसे बड़ा विघातक है! स्वार्थ छोड़ देने से आत्मारूपी हंस के पैरों की बेड़ियाँ खुल जाती हैं, और वह अपने परों को फैलाता हुआ बराबर आकाश में ज्ञान-रूपी सूर्य की ओर बढ़ता हुआ चला जाता है।

ब्राह्मण और चांडाल की समता के लिये एक स्थान बनाया अमिताभ ने, धनी और निर्धन का समन्वय किया, बली और दुर्बल को शांति दी। उस सत्य, समता और शांति के दूत की अमृतवाणी उदात्त स्वर में प्रसारित हो उठी आर्यावर्त में।

"उस राजकुमार के मुख-मंडल पर जो रूप और रंग खिला हुआ है, उसे मैं निश्चिंत मन और बढ़िया भोजन का फल कहूँगा। इसमें दैविकता क्या हुई। स्त्री-पुत्र का उत्तरदायित्व सिर से उतारकर फेंक दिया उसने। माता-पिता का ऋण-भार भुला दिया, राज्य के मित्र-शत्रु की चिंता छोड़ दी उसने। खाने के लिये स्निग्ध-स्वादु भोजन शिष्यवर्ग राजभवन और राजगृह से आहरण कर ले जाते हैं, और उसके सर्वश्रेष्ठ अंश को गुरु के उदर की आहुति बनाते हैं। वह जो कुछ सत्य और ज्ञान की विवेचना करता है, वह कोई भी जिसे ऊँचे आसन पर बिठा दोगे, कर देगा।" अजातशत्रु ने बुद्ध के प्रथम दर्शन कर लौटते हुए कहा।

देवदत्त बोला—"राजगुरु कहते थे, सिद्धार्थ ने जिस मार्ग को मध्यमा प्रतिपदा का नाम दिया है, वह कोई नवीन मार्ग नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण की गीता में यह मार्ग मध्यम मार्ग के नाम से प्रसिद्ध है, यही समत्व योग के नाम से अभिहित है।"

"मेरे ऊपर तो भाई, कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा इस भिक्षु का। यह ब्राह्मणों और श्रीमानों का द्वेष फैलाता हुआ दृष्टिगत होता है मुझे। इसने शूद्रों और दरिद्रियों का साहस बढ़ाया है। इसने उनके प्रति समवेदना दिखाई है कि इसका दल बढ़े, और इसकी शक्ति का प्रसार हो।

"घर घर इसने कलह फैला दिया है। इसने वैदिकता की जड़ में कुठाराघात किया है। महाराज ने इसका शिष्यत्व ग्रहण किया है, इससे लोग चुप हैं, नहीं तो कभी का धर्म-विप्लव हो जाता। और इसे अपने शिष्यों-सहित प्राण बचाकर भाग जाना पड़ता।"

गौतम बुद्ध के वेणु-वन में निवास के एक सप्ताह पश्चात नर्तकी चंद्ररेखा के मन में भी अचानक वैराग्य उदित हो गया। उसने अपनी समस्त धन-संपत्ति दीन-दुखियों को वितरित कर दी, आभूषण-अलंकार बाँट दिए, गृह और साज-सज्जा लुटा दी, भूमि और गृह-वाटिका भी दे दी। उसने अपना गुल्फ चुंबी, कुंचित, केशराशि-विहीन मस्तक अमिताभ के चरणों में विनत कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

उसी दिन युवराज अजातशत्रु पर देवदत्त की वह रहस्यमयी प्रेम-कथा प्रकट हुई, जिसे बड़े कौशल से देवदत्त ने अब तक छिपा रक्खा था।

देवदत्त ने चंद्ररेखा को भिक्षुणी हो जाने से रोकने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। प्रत्येक प्रकार के भय, प्रलोभन दिखाए, सब निष्फल हुए।

देवदत्त ने अजातशत्रु से बिदा माँगी—"तुमसे बिदा लेने को आया हूँ।"

"कहाँ जाओगे?"

"जहाँ चंद्ररेखा गई है।"

"चंद्ररेखा इतनी प्रिय थी तुम्हें, आज तक तुमने यह प्रकट नहीं किया था कभी।"

"उत्कट प्रेम छिपकर ही रहता है। उसे छिपाने को कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता।"

"क्या सत्य ही तुम्हारे मन में संसार के प्रति विरक्ति हुई है?"

"नहीं. आसक्ति और भी बढ़ी है। तुमसे अब कुछ न छिप सकेगा। जिसको साज-सज्जा, नृत्य और गीतों के मध्य में प्यार किया है: उसे, उस निराभरण, उस शृंगार-विहीना को भी मैं प्यार करूँगा। देवदत्त रहकर नहीं कर सकता, इसी से भिक्षु होने जा रहा हूँ।"

"इतनी वासना का भार लेकर क्या तुम गौतम का आश्रम कलंकित न कर दोगे?"

"मैं नहीं समझता, यह कलंकित होगा। तुम ऐसा कहकर मेरे मन को दुर्बल न करो। मेरे हृदय का प्रेम चोट खाकर प्रतिहिंसा में बदल गया है। तुम रोको नहीं मित्र। कदाचित् मैं राजगृह के मंगल के लिये पग बढ़ा रहा हूँ, देख नहीं रहे हो तुम कुछ ही दिनों में क्या हो गया। कोई पति कोई पिता, कोई पुत्र के लिये चिल्ला रहा है। और, इन सबको इसने, इस गौतम ने पीत चीवर में ढक लिया है। इसी ने चंद्ररेखा को बहकाया है। यह ऐंद्रजालिक है अजात! तुम न जाना कभी उसकी सन्निधि में। केवल मुझे ही जाने दो। मैं उसके इंद्रजाल में अपनी इच्छा से फँसना चाहता हूँ।"

१६. जन्मभूमि में

उपतीष्य और कालित याज्ञिक मंत्र और कर्मकांड के अरण्य में खोए हुए थे। वे जब दोनो अमिताभ की शरण में गए, तो उन्हें बड़ा स्पष्ट मार्ग दिखाई दिया। बुद्ध के ज्ञान ने उन्हें नवीन जीवन दे दिया, और उन्होंने अष्टांग मार्ग की सम्यक् साधना और लोक-सेवा-व्रत को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया।

वे दोनो असाधारण प्रतिभा-संपन्न थे। बुद्ध के बताए मार्ग में और भी उनकी बौद्धिक उन्नति हो गई। उपतीष्य का नाम सारिपुत्र और कालित का मौद्गलायन प्रसिद्ध हुआ।

देवदत्त ने बुद्ध के निकट जाकर कहा—"हे अमिताभ, मैं भी तुम्हारी शरण हूँ।"

"तुम्हें बहुत पहले आ जाना चाहिए था मित्र! तुम आकर भी चले गए। फिर भी तो कोई चिंता की बात नहीं है। धर्म की शरण दिन-रात ही मुक्त-कपाट रहती है। तुम्हारी धर्म में मति हो। तुम्हें मन, वचन और कर्म की सम्यक्ता प्राप्त हो।"

देवदत्त वेणु-वन में बुद्ध का प्रभाव देखकर विमोहित हो गया। उसने उन्हें महान् प्रतापान्वित की भाँति देखकर मन में सोचा—"इनकी प्रभुता किस सम्राट् से कम है! वह दिन-दिन बढ़ती ही जा रही है। सम्राट् बहुत अल्प मात्रा में प्रजा-प्रियता प्राप्त करता है। इन्हें धनी-निर्धन, बली-निर्बल से जो समान श्रद्धा और सम्मान मिला है, वह स्पृहणीय है। यदि इनके शिष्यों में प्रधानता मिल जाती, तो देवदत्त इनके ही समान आर्यावर्त में चमक उठता!"

देवदत्त अपने महान् प्रतिद्वंद्वी के निकट विनत हुआ। उसने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। बुद्ध ने उसे चार आर्य-सत्वों का बोध देकर कहा—"हे बोधि-मार्ग के पथिक ! अपने को पहचानो। तुम्हारे भीतर वह चिनगारी सम्मिलित है, जो आकाशचुंबी शिखाओं में सुलग सकती है, उसमें तुम्हारा समस्त दुःख-शोक भस्मीभूत हो जायगा।"

देवदत्त के मन में चंद्ररेखा की स्मृति उभर उठी। वह उसी आश्रम में दूर एक कुटी बनाकर मन को नियंत्रित कर रही थी। देवदत्त ने उस ओर दृष्टि की।

बुद्ध ने उस प्राचीन प्रतिद्वंद्वी और नवीन शिष्य की चंचलता को भले प्रकार लक्ष्य किया।

देवदत्त मन में सोचने लगा—"क्या यह वारांगना सचमुच वीतरागिनी होकर सत्य को खोजने आई है। समस्त ऐश्वर्य और भोगों को यह ठुकराकर तो आई है। मैं भी सत्य की शोध करूँगा। मैं भी जगत् के भोगों को तिलांजलि दे दूँगा।"

भगवान् बोधिसत्व कह रहे थे—"आँख हमारी इंद्रियों में सबसे चतुर और शक्तिशाली है। यह बड़ी सरलता से हमारे मन को बहका देती है। सबसे पहले दृष्टि की सम्यक्ता साधनी होगी। जो कुछ दिखाई दे रहा है, यह सब भ्रम है, क्षणिक है, छाया है। यही कल्पना मन में दृढ़ करनी होगी। अभी कुछ दिन तुम किसी वृक्ष के नीचे आसन लगाकर इसी विचार में निवास करो। दृश्य की सत्यता तुम्हें बार-बार अपनी ओर खींचेगी। सावधान रहना उस समय, वह बली मार है।"

देवदत्त एक कुटी बनाकर दृष्टि-शुद्धि करने लगा। उसकी कुटी, दैव-संयोग हो या देवदत्त की अभिसंधि, भिक्षुणी चंद्ररेखा की कुटी के निकट ही बनी। दोनों एक दूसरे को देख सकते थे।

देवदत्त को चल-फिरकर भी दृष्टि-शोधन की आज्ञा थी, पर चंद्ररेखा दिन-भर एक वृक्ष के नीचे ध्यान-मग्न दिखाई देती थी। उसे किसी भिक्षु के संपर्क में जाने और संभाषण करने का कठिन निषेध था।

देवदत्त ने उसे दूर से निहारा, उसे एक अद्भुत कांति से भरा देखा, वह मन में सोचने लगा—"केवल एक छाया है।"

मार उसके सामने जाकर पराजित हो गया, उस पहले दिन।

दूसरे दिन देवदत्त चंद्ररेखा के अटूट ध्यान को देखकर चकित हो गया। आँखों की पलकें मानो भीतर से शृंखलाबद्ध कर दी गई थीं। देवदत्त चंद्ररेखा की ध्यानभंगिमा को ढूँढने में दत्तचित्त हो गया। पर उसके मनः-संयम को देखकर लज्जित हो गया!

सघन निशीथ-प्रच्छन्न में देवदत्त ने निषेध के प्राचीर का उल्लंघन किया—"सब कुछ जो दिखाई दे रहा है, एक छाया-मात्र है।" उसने अपने मन में कहा। वह चंद्ररेखा की कुटी के द्वार पर गया।

"चंद्ररेखा ! चंद्ररेखा !" उसने धीरे-धीरे द्वार पर जाकर पुकारा।

"कौन ?"

"मैं हूँ देवदत्त !"

चंद्ररेखा देवदत्त की उस वेणु-वन की अवस्थिति को नहीं जानती थी, बोली—"देवदत्त, मैं तुम्हारा जगत् तुम्हारे लिये ही छोड़ आई हूँ। फिर तुम क्यों आए हो मुझे बाधा पहुँचाने ?"

"यह भिक्षु देवदत्त है। अमिताभ बोधिसत्व के निकट प्रव्रज्या के लिये कटिबद्ध।"

"तब तो बड़े धिक्कार की बात है ! तुम बोधिसत्व का अनुशासन भंग कर क्या उनके प्रति अविश्वास नहीं बढ़ा रहे हो ? क्या तुम्हें

ज्ञात नहीं, किसी भिक्षु को किसी भी दशा में इस कुटीर पर आने की आज्ञा नहीं है।"

"है।"

"फिर ?"

"किसी इंद्रिय-सुख की कामना में नहीं आया हूँ मैं चंद्ररेखा ! कुछ पूछना चाहता हूँ तुमसे।"

"नहीं, लौट जाओ। मैं तुम्हारे किसी प्रश्न का उत्तर न दूँगी। यदि तुमने हठ की, तो मैं अभी उच्च स्वर से पुकार-पुकारकर समस्त आश्रमवासियों को जगा देती हूँ।"

"चंद्ररेखा !" बड़े दयनीय स्वर में कहा देवदत्त ने।

"बस, चुप रहो। दूसरा शब्द नहीं। नारी को अपने वाग्जाल और झूठे वचनों से पथ-भ्रष्ट करनेवाले ! तू बुद्ध की शरण में आकर भी क्यों नहीं सत्य पर दृढ़ रहता !"

अचानक देवदत्त ने अपनी कुटी की ओर किसी की पुकार सुनी—"देवदत्त !"

वह दौड़कर वहाँ पहुँच गया। देखा, सामने बुद्ध खड़े होकर उसे पुकार रहे हैं—"देवदत्त ! तुम कहाँ चले गए थे ?"

"कुछ निकट जाकर दृश्य के छाया-दर्शन को गुरुदेव ! मुझे चलने-फिरने की आज्ञा दी गई है।"

अमिताभ हँसे—"दूरी और नैकट्य, इन दोनों को भी भ्रम ही समझना होगा।"

"यही समझूँगा गुरुदेव !"

अनादृत होकर फिर कभी देखा भी नहीं देवदत्त ने चंद्ररेखा की दिशा में। लांछित होकर वह अपने संयम में दृढ़ हुआ। और एक दिन बुद्ध के निकट जाकर उसने निवेदन किया—"मैंने दृष्टि की सम्यक्ता प्राप्त की है।"

"अच्छी बात है, तुम्हें संकल्प की सम्यक्ता प्राप्त हो।"

"संकल्प कैसा ?"

"विचार और कर्म की संधि का नाम संकल्प है। जितनी यह संधि स्पष्ट होती जायगी, उतना मनुष्य अपने अहंकार को समष्टि की चेतना में मिला सकेगा। फिर उसे इंद्रियों के उपकरणों से सुख न मिलेगा, न दुःख ही व्यापेगा। वह अपने मन का राजा होकर सुख और दुःख के द्वंद्वों से ऊपर उठ जायगा।" बोधिसत्त्व ने कहा।

देवदत्त अपने संकल्प में अधिक दृढ़ होकर तत्त्व-चिंतन में लगा। अमिताभ यथायोग्य प्रगति के लिये देवदत्त की सराहना करने लगे।

अमिताभ ने शीघ्र ही धर्म के प्रसार को शक्ति देने के लिये संघ की रचना की। संघ को सुचारु रूप से व्यवस्थित रखने के लिये प्रतिमोक्ष-नामक नियम बनाए। उन नियमों की रचना करने के लिये श्रावक-सन्निपात-नामक सभा प्रतिष्ठित की, सारिपुत्र और मौद्गलायन की असाधारण प्रतिभा, विशुद्ध संकल्प एवं अचपल मनोयोग देखकर अमिताभ ने उन्हें संघ में प्रधान पद दिया।

देवदत्त द्वेष से जल उठा। उसने अपने मन में सोचा—"जीवन के इस प्रतिद्वंद्वी को मैंने आदर दिया। मैंने अपने अहंकार को इसके चरणों में विसर्जित किया था, इस आशा में कि यह मुझे अपने शिष्यों में प्रधानता देगा। इसके लिये मैंने अपने परम मित्र अजातशत्रु का साहचर्य छोड़ दिया। अब मैं कैसे उनके पास जाऊँ ?" देवदत्त उठकर चंद्ररेखा के कुटीर की ओर चला। प्रचंड विद्रोह की अग्नि उसके मानस में जल रही थी।

एक भिक्षु ने मार्ग में उसे सावधान किया—"उधर भिक्षुणी चंद्ररेखा की कुटी है।"

"होगी।" बड़े क्रोध में भरे हुए देवदत्त ने कहा। मन में सोचा—"अब इस संघ को छिन्न-भिन्न करूँगा, इसकी जड़ हिलाकर

ही विश्राम लूँगा। ये छोटे-छोटे कीट हैं, जो बुद्ध के अनुशासन में बद्ध हैं। देवदत्त विचार करनेवाला मस्तिष्क रखता है। वह भयानक अग्नि सुलगावेगा, जिसमें बुद्ध, धर्म और संघ की आहुति पड़ेगी।"

"चंद्रलेखा! चलो।" देवदत्त ने सहसा उसका हाथ पकड़कर उसे उठाया।

"कहाँ चलो?" अत्यंत उद्विग्न होकर उसने कहा।

"फिर जगत् में, जिसे परित्यक्त कर हम दोनो आए हैं यहाँ। आज भी इसके मन का पक्षपात नहीं गया है, वे लोग या तो स्वयं धोके में हैं, या जान-बूझकर धोका दे रहे हैं। जो इसे सत्य-प्राप्त और अमिताभ कहते हैं। चलो, इस आश्रम में भी नगर का ही संघर्ष है। हम वहीं लौट चलेंगे। मैं तुम्हारे वैराग्य का कारण जानता हूँ। चलो, मैं एक ही दिन में तुम्हारे उजाड़ हुए संसार को फिर हरा कर दूँगा।"

"नहीं राजकुमार देवदत्त, मैं अब कुछ न सुनूँगी। तुम्हें हम दोनो के व्रत की रक्षा के लिये यहाँ न आना चाहिए था।"

"यहाँ किसी व्रत का निर्माण न होगा। मैं कहता हूँ तुमसे। यह ठगों की मंडली है। सब अपना-अपना स्वार्थ सिद्ध करने को यहाँ आए हैं। कोई माता-पिता से लड़कर आया है, किसी के खाने को नहीं, कोई प्रेम की निराशा लेकर, किसी के मन में प्रिय का वियोग है। इन सबने अमिताभ की जय पुकारकर उस जय-घोष में अपनी-अपनी दुर्बलता को छिपाया है।"

"तुम व्यर्थ ही इतना बोलने का परिश्रम कर रहे हो। मैं अब तुम्हारा अनुसरण नहीं कर सकती।"

"स्मरण करो। तुम मेरी ही नहीं, युवराज अजात की भी प्रतिहिंसा की पात्री बन जाओगी। यह बुद्ध बचा न सकेगा तुम्हें उस कोपानल से।"

"मैंने पार्थिव जगत् का मोह छोड़ दिया। मैं इस हाड़-मांस के पिंजरे की भी चिंता न करूँगी।" निर्भय होकर चंद्ररेखा बोली।

"सत्य है यह ?"

"हाँ, हाँ।"

"अच्छी बात है।" कहकर देवदत्त वेणु-वन को छोड़ नगर को चला।

मार्ग में जब वह एक अट्टालिका से होकर जा रहा था, तो एक महिला ने उसे देखकर कहा—"आज न-जाने किस गृह के ऊपर विपत्ति आवेगी। कौन माता-पिता पुत्र-हीन होंगे। किस पत्नी का पति उससे छिन जायगा, किस पुत्र का पिता उसे छोड़कर उसे अनाथ और निराश्रय बना जायगा।"

देवदत्त ने रुककर कहा—"धैर्य रक्खो मा! तुम्हें भ्रांति हुई है। मुझे चीवरधारी समझकर ही तुम ऐसा कह रही हो। मैं भिक्षु नहीं हूँ। इन बौद्ध भिक्षुओं का सर्वनाश मूर्त होकर मुझमें प्रकटा है। मैं इनकी समाप्ति पर ही अब विश्राम लूँगा। अब राजगृह की प्रजा में से कोई भी इस पीले प्रपंच में न उलझेगा।"

देवदत्त नंगे सिर-पैर प्रायः विवसन राजगृह के मार्गों में दौड़ने लगा। वह चिल्लाता जा रहा था—"बुद्ध और उसके संघ को गालियाँ दे रहा था—"हे राजगृह के निवासी धनी और निर्धनो! क्या हो गया तुम्हें? तुम सचेत होओ। यह जो अपने को सत्यदर्शी कह रहा है, यह तुम्हारे गृह के सुख को राहु बनकर ग्रसने आया है। यह तुम्हारे विचार, धर्म, परंपरा, संस्कृति, सभ्यता, सबको लांछित कर रहा है। इसने तुम्हारा रहन-सहन, पूजा-पद्धति, देवी-देवता, नाते-संबंध, सबको ध्वस्त कर दिया है। इससे सावधान होओ। यह वेदों को नहीं मानता, इसने भगवान् का अस्तित्व मिटाया है, इसने शून्यवाद का प्रचार किया है। यह पिता से पुत्रों को बिछुड़ा कर

अनाथों को बढ़ा रहा है। यह पतियों को पत्नियां से छीनकर दुराचार बढ़ा रहा है। यह तुम्हारे गृहों के द्वार सदा के लिये बंद कर राजनगरी को श्मशान बना देगा। इससे बचो, इससे बचो! इसका वैराग्य दुराग्रह, इसकी तपस्या पाखंड, इसका धर्म अनाचार और इसका संघ वेषधारी तस्करों का दल है।"

अनेक लोगों ने देवदत्त का तर्क सुनकर उसकी हाँ में हाँ मिलाई। उसे सराहा। देवदत्त ने दूने उत्साह से बोधिसत्व और उनके संघ के विरुद्ध विष-वमन किया।

सारी राजधानी में बुद्ध के विपक्ष में प्रचार कर देवदत्त युवराज अजातशत्रु के पास गया। अजातशत्रु अपने मित्र को प्रत्यावर्तित पाकर बहुत प्रसन्न हुआ, और बुद्ध के विरुद्ध जनमत को गँदला कर देने के लिये उन्होंने और भी विशाल संघटित प्रयत्न किए।

शीघ्र ही इसका फल प्रकट हुआ। सारिपुत्र और मौद्गलायन की प्रव्रज्या के पश्चात् फिर राजगृह का कोई भी मनुष्य बुद्ध की शरण में नहीं गया।

अविलंब में ही शिष्यों ने जाकर बोधिसत्व से कहा—"गुरुदेव! भिक्षु देवदत्त ने समस्त राजनगर में हमारे विरुद्ध घृणा की भयानक अग्नि फैलाई है। जनता हमारे सामने हमें गालियाँ देती है, हम पर पत्थर बरसाती है, और हमारे ऊपर थूकती है।"

बड़े शांत भाव से बुद्ध ने कहा—"यह तो कुछ भी चिंता की बात नहीं है। तुम मध्यम मार्ग के पथिक हो। तुम्हारे लिये मान और अपमान दोनों समान हैं। प्रजा की घृणा को श्रेष्ठतम वस्तु समझो। उनके कलुष भाव से तिलांश भी उत्तेजित होने की आवश्यकता नहीं है। उनकी हिंसा को तथागत का सच्चा शिष्य सदा अहिंसा से जीतता है। जीव-मात्र के प्रति, मित्र और शत्रु दोनो के प्रति तुम्हारी प्रेम-भावना सतत जागरूक रहनी चाहिए।

जिस दिन तुम सृष्टि-मात्र में अपना ही स्वरूप प्रतिफलित पा लोगे, उस दिन देखना ये सब बादल बरस जायँगे, और तथागत का धर्म सूर्य की तेजस्विता से वसुंधरा पर चमकने लगेगा। घृणाकारियों से प्रेम करो, गालियों का उत्तर आशीर्वाद से दो, अपमान का बदला मान से चुकाओ, और शत्रु में मित्र के दर्शन करो, तभी तुम आठों अंगों की सम्यक्ता प्राप्त करोगे। तभी तुम मार्ग के मध्य में प्रतिष्ठित हो सकोगे।"

महाराज शुद्धोदन ने आर्द्र नेत्र और शुष्क कंठ से एक-एक वर्ष में एक-एक युग का अनुभव कर ६ वर्ष बिताए—अपने एकमात्र पुत्र के लौट आने के विचार और आशा में। उन्होंने सिद्धार्थ की ज्ञान-प्राप्ति का समाचार सुना। वह उसके शीघ्र ही लौट आने की प्रतीक्षा करने लगे नित्य ही।

प्रासाद की प्राचीर और तरुओं पर पक्षी बोलते, वह पुत्र के लौट आने का संवाद सुनते। उनका दक्षिण अंग फड़कता, वह उसे सिद्धार्थ-मिलन का शुभ शकुन समझते। वे अतीत के वर्ष इतनी कठिनता से नहीं शेष हुए, जितनी वेदना से ये वर्तमान के दिन अस्त हो रहे थे।

प्रतीक्षा सह्यातीत हो उठी। उन्होंने सिद्धार्थ के निकट दूत भेजकर उन्हें घर और उनकी की गई प्रतिज्ञा की स्मृति कराई। दूत बुद्ध के उपदेशामृत का पान कर उन्हीं में रम गया। नहीं लौटा जरा और वियोग से क्षीण महाराज शुद्धोदन के पास।

एक के अनंतर दूसरा, कई संवादवाहक भेज दिए उन्होंने। कोई भी न लौटा। वे सब-के-सब जाकर बुद्ध के शिष्य हो गए। उन्हें जगत् और जगत् के संबंधों के प्रति विराग हो गया! अंत में महाराज स्वयं ही जाने को उद्यत हो गए। छंदक ने उनकी अवस्था के कारण उन्हें विषम यात्रा करने से रोक दिया। उसने महाराज को आश्वा-

सन दिया। वह स्वयं सिद्धार्थ के पास महाराज का संदेश ले जाने के लिये कटिबद्ध हुआ। छंदक नियत तिथि पर राजगृह की ओर जाने के हेतु बिदा ग्रहण की।

राजगृह पहुँचकर छंदक ने बुद्ध को कपिलवस्तु चलने के लिये उद्यत किया। दो मास राजगृह में बिताकर तथागत कपिलवस्तु को चले। मार्ग में मल्ल-देश में अवस्थान किया कुछ समय। वहाँ अनेक राजा और प्रजा-वर्ग के लोगों ने बुद्ध के उपदेशों का अनुसरण किया।

दो महीने में अमिताभ कपिलवस्तु पहुँचे, अगणित शिष्य-समूह के साथ। दुर्ग के बाहर ही न्यग्रोध-वन-नामक एक आराम में ठहरे।

नगर में इस समाचार के पहुँचते ही दर्शकों का प्रवाह उमड़ पड़ा। महाराज शुद्धोदन भी आनंद-विह्वल होकर पुत्र की भेंट को चले।

पुत्र को भिक्षु के वेश में देखकर शुद्धोदन की आँखों से अश्रुधारा बह चली। जब उन्होंने असंख्य शिष्य और भक्तों को उनकी अभ्यर्थना में देखा, तो पुलकित हो उठे। उन्होंने कहा—"हे पुत्र! तुम्हें नगर से इतनी दूर ठहरने की क्या आवश्यकता हुई। क्या शाक्यों का राजा तुम्हारे और इस शिष्य-समुदाय का आतिथ्य नहीं कर सकता राजप्रासाद में?"

"हे महाराज! तथागत किसी का पुत्र नहीं है। वह अजन्मा है और इसी से मृत्यु के बंधन से भी मुक्त है। वह तथागतों की ही वंश-परंपरा का है। संघ का नगरों से बाहर एकांत में रहने का ही नियम है।"

दूसरे दिन अमिताभ नगर में भिक्षा माँगते हुए राजभवन में पहुँचे। राजभवन की एक-एक वस्तु को देखकर वह गद्गद हो उठे। उस छोटे-से दुर्ग में जो आत्मा बंदी कर दी गई थी, आज वह

समस्त आर्यावर्त में व्याप्त होकर उसके बाहर भी फैलने लगी थी।

बुद्ध महाराज शुद्धोदन और प्रजावती के निकट गए। यशोधरा को दासी ने यह शुभ समाचार दिया—"युवराज्ञी, जिनके चिंतन में तुम इतने दिनों से बैठी हो, वह आ पहुँचे हैं।"

यशोधरा अवाक् और निश्चेष्ट रह गई! मन में सोचने लगी—"वह आ पहुँचे हैं! सात वर्ष के पश्चात् क्या मेरे देवता ने मेरी ओर करुणा की दृष्टि की है।" उसके मन में उत्कट इच्छा का उद्भव हुआ कि जाकर अपने आँसुओं से उनके चरणों को धो दूँ। वह कुछ समझकर रुक गई।

"कपिलवस्तु के युवराज, नंगे पैर, मुंडित मस्तक नगर में भिक्षा माँगते हुए यहाँ आए हैं। समस्त प्रजा उनको देखकर क्षुब्ध हो उठी है। सभी अपने-अपने काम छोड़कर उनके दर्शन करने आए हैं। केवल एक तुम्हीं प्रतिमा की भाँति अचल हो उठी हो।"

"हो सकता है।" यशोधरा ने बड़े उदासीन भाव से उत्तर दिया।

"आश्चर्य है।"

"आश्चर्य कौन-सा है इसमें दासी। मैंने अहर्निश एक भाव से युवराज का चिंतन किया है। मुझे उनके पास जाने की आवश्यकता क्या है? यदि मेरे प्रेम में शक्ति होगी, तो वह स्वयं ही मेरे पास आवेंगे।"

दासी ने मुक्त कंठ से यशोधरा के प्रेम की सराहना की।

महाराज शुद्धोदन और महारानी प्रजावती युवराज को भिक्षा माँगते हुए देख शोक से विह्वल हो गए। उन्होंने कहा—"प्रिय पुत्र, तुम उच्चकुल-संभूत हो। तुम्हें द्वार-द्वार भिक्षा माँगते देखकर हमें मर्मांतक पीड़ा पहुँचती है। तुम्हें भिक्षा की क्या आवश्यकता है। यह शाक्यों का राजा संघ-सहित तुम्हारे आतिथ्य में समर्थ है।"

"तथागत जिनका वंशधर है, वे सब भिक्षान्न से ही पोषित हुए हैं।

फिर तथागत एक ही नगर और एक ही मनुष्य के यहाँ स्थिर नहीं हो सकता। ग्राम-ग्राम, नगर-नगर और देश-देश में सत्य के प्रकाश को विस्तारित करना ही उसका परम कर्तव्य है। अखिल विश्व ही मेरी राजधानी है, मैं कपिलवस्तु में कुछ पाने के लिये नहीं, देने को आया हूँ। हे पिता! मैंने निरंजना के संगम पर अमूल्य रत्न प्राप्त किए हैं। सांसारिक संबंध मुझसे कहता है कि मैं उन रत्नों को पिता के चरणों में भी रक्खूँ।"

महाराज निरुत्तर रह गए।

अमिताभ बोले—"जाग्रत् होओ पिता, अविलंब ही पवित्र जीवन के लाभ का प्रयत्न कीजिए। केवल एकमात्र धर्म ही मनुष्य के इह-लोक और परलोक दोनों लोकों में निर्मल सुख का निर्माण करता है। धर्म ही शांतिदाता है। अतः जीवन लाभ कीजिए, पाप का अनुसरण मृत्यु है।"

अमिताभ ने अपने नवीन धर्म की व्याख्या करनी आरंभ की, राजभवन के इष्ट-मित्र, राजकर्मचारी, दास-दासी सब आकर उनके उपदेशों को सुनने लगे।

यशोधरा नहीं आई, केवल यशोधरा ही नहीं आई। अपने शून्य प्रकोष्ठ में हृदय के स्पंदनों में प्राणेश्वर की चापों को सुनते हुए अधीर हो रही थी—"क्या वह लौट गए? बड़ी देर हो गई! न आवेंगे? भूल गए इस सेविका को? नहीं, ऐसा हो नहीं सकता, वह अवश्य ही आवेंगे। अब न जाने दूँगी मैं उन्हें। अपने दुर्बल स्नेह-पाश में ग्रथित कर लूँगी उन्हें। अब इस बार मैं उनके पथ को रोके रहूँगी अपनी नींद विसर्जित कर।"

उपदेश के अंत में अमिताभ ने चारों ओर देखा। एक दिन जिसे सोता हुआ छोड़कर वह सत्य के साक्षात्कार के लिये चले गए थे, उसे ढूँढ़ने लगे वह, नहीं मिली।

अमिताभ ने हँसकर सारिपुत्र और मौद्गलायन से कहा—"अभी एक से भिक्षा और माँगनी है मुझे इस राजभवन में, क्षमा की भिक्षा।"

दोनो शिष्यों ने चकित होकर आचार्य को निहारा।

"हाँ, चलो मेरे साथ। पर वहाँ यदि कोई स्त्री मेरा स्पर्श करने को बढ़े, तो तुम संघ के नियम की रक्षा करने के लिये, उसके मानसिक आवेग में बाधा न पहुँचाना।

बड़ी धीर और प्रशांत गति से अमिताभ यशोधरा के प्रकोष्ठ की ओर चले। साथ में केवल अपने दोनो प्रधान शिष्यों को ही लिया उन्होंने।

मार्ग में बुद्ध बोले—"तथागत के भौतिक शरीर को बंदी बनानेवाले वे प्राचीर तुमने देखे। आज उनका अधिकांश भूमिसात है, फिर भी उनकी गणना की जा सकती है। अब मैं तुम्हें वह बंधन दिखाऊँगा, जिसने मेरे विचार-शरीर को घेर रक्खा था, अगणित ग्रंथियों में।

उन्होंने यशोधरा के प्रकोष्ठ में प्रवेश किया। उन्हें ऐसा ज्ञात हुआ, मानो वह राजभवन में नहीं, किसी आश्रम की कुटी में प्रवेश कर रहे हैं। साज-सज्जा का नितांत अभाव था, भूमि पर शय्या के लिये तृण-कुश, जल पीने के लिये एक मृत्तिका पात्र, यही उस कक्ष के उपकरण थे। इनके बीच में पत्र-पुष्प-विहीन अवलंब-च्युत लता की भाँति यशोधरा के प्राण, पति के नाम की माला से धरा पर टिके हुए थे।

पति के आने पर न-जाने क्या-क्या कहने के लिये उस परित्यक्ता ने सोच रक्खा था, पर उन्हें देखते ही उसके मुख में शृंखला पड़ गई। कंठ अवरुद्ध हो गया! बहुत दिन के बँधे हुए जल-प्रवाह की भाँति सहसा उसका बाँध टूट गया। उसकी समस्त भाव-राशि केवल नेत्रों के ही मार्ग से बहने लगी।

पति को देखते ही यशोधरा उनके चरणों पर गिर पड़ी ! अविरल अश्रुधारा का अर्घ्य देने लगी। मन में विचार रही थी, शरीर के शेष रक्त को आँसुओं में बदलकर ही शांति प्राप्त करूँगी।

उसे रोने दिया अमिताभ ने कुछ देर। फिर बोले—"यशोधरे ! मैं भिक्षा-पात्र लेकर आया हूँ तुम्हारे द्वार पर।"

यशोधरा ने कोई उत्तर नहीं दिया, रोती ही रही।

"केवल तुम्हारा ही अपराध किया है मैंने। भिक्षा में तुम्हारी क्षमा चाहिए मुझे। कहो, तुमने मुझे क्षमा किया।"

"आर्य के किसी व्यवहार में मुझे अपराध की छाया नहीं दिखाई दी !" यशोधरा ने अधर खोले। उसी समय उसे प्रतीत हुआ, मानो जिनके चरणों को वह अश्रुस्नात कर रही थी, न जाने कौन हैं। उसका ममत्व और मोह छिन्न-भिन्न हो गया। वह समझने लगी समस्त विश्व-संसार का उन पर अधिकार है। केवल अपने तुच्छ स्वार्थ में उन्हें बंदी बना लेना सर्वथा अशोभनीय है। यशोधरा उनके चरणों को छोड़कर दूर हट गई !

"कल्याणी ! तुम धन्य हो। मुझे जिस सत्य का लाभ हुआ है, तुम उसकी अधिकारिणी हो। समय आने पर वह तुम्हें प्राप्त होगा।" कहकर बुद्ध शिष्यों के साथ निष्क्रांत हुए और न्यग्रोध-वन के लिये बिदा हो गए।

महाराज शुद्धोदन ने उन्हें बिदा करते हुए देखा और समझा, सिद्धार्थ ने एक नवीन और विशाल साम्राज्य का मुकुट पाया है, वह कपिलवस्तु के छोटे-से सिंहासन पर नहीं रह सकते। उन्होंने अपने दूसरे पुत्र नंद को शाक्यों के राज्य का अधिकारी बनाना निश्चित किया।

राजकुमार राहुल ने दौड़ते हुए यशोधरा के कक्ष में प्रवेश किया और माता की गोद में सिर छिपाकर रोने लगा।

"राहुल ! क्या हो गया तुम्हें ?"

"महारानी कहती हैं, वह जो भिखारी अभी राजभवन में आया था; मेरे पिता हैं।"

"हाँ, यह सत्य है !"

"मैं एक राजकुमार, मेरे पिता भिक्षु ! तुम भी इसे सत्य कह रही हो। मैं समझा था, महारानी ने मुझसे परिहास किया।"

"उन्हें साधारण भिक्षु न समझो। सुनती हूँ, वह जहाँ जाते हैं, लोग उनकी पग-धूलि लेने के लिये उमड़ पड़ते हैं।"

"मेरे लिये क्या लाए हैं वह ? तुम इतने दिनों से कहती चली आ रही थीं कि अत्यंत अमूल्य निधि लावेंगे वह मेरे लिये !"

"भूल गए होंगे।"

"नहीं महाराज ने मुझे उनके समीप रखकर कहा था, यह तुम्हारा पुत्र राहुल है।'

"क्या कहा उन्होंने फिर ?"

कुछ भी नहीं। मुझे उठाकर कुछ क्षण के लिये गोद में भी नहीं लिया उन्होंने। कुछ बोले भी नहीं मुझसे।"

अभी वह फिर राजभवन में आवेंगे शीघ्र ही। तब तक तुम्हें धैर्य रखना उचित है राजकुमार। अब तुम बड़े हो गए हो। सात वर्ष के।"

महाराज शुद्धोदन ने राजकुमार नंद के राजतिलक के पूर्व उनका विवाह कर देना निश्चित किया। एक सुगुण-संपन्न राजकुमारी के साथ उनका पाणिग्रहण स्थिर किया गया। ज्योतिषियों ने निकटतम लग्न ढूँढ़कर विवाह की तिथि नियत की।

विवाह का दिन आ पहुँचा। संघ-सहित निमंत्रित होकर अमिताभ भी राजभवन में पधारे ! वह अपने भाई नंद से मिलने के लिये गए।

नंद विवाह और राजतिलक की प्रसन्नता में निमग्न था। अमिताभ को देखकर सिहर उठा।

"नंद!" अमिताभ ने कहा। उनके स्वर में मानो बड़ी तीव्र चेतावनी छिपी थी।

नंद बहुमूल्य अलंकारों और परिच्छदों में सुशोभित हो रहा था। सुंदरी दासियाँ नाना प्रकार से उसका शृंगार कर रही थीं। दासियों के बीच से अलग होकर नंद हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ा हो गया—"अमिताभ की जय हो!"

अमिताभ ने विहँसकर कहा—"सब छाया है नंद! भौतिक संसर्ग से हम जिस सुख की रचना करते हैं, वह केवल एक कल्पना है, एक भ्रम है। इस तथ्य पर हम विचार करते हुए अनेक बार पहुँचे थे।"

नंद ने अत्यंत आकुल होकर अपने चारों ओर देखा।

अमिताभ कह रहे थे—"हमारे सुख की खोज युक्तियुक्त न थी। इसी से सत्य हमारी आँखों से ओझल था। मैंने उस सत्य को प्राप्त किया है नंद। मैं उसे दूँगा तुम्हें नंद! तुम उसे ग्रहण करोगे?"

दीर्घ श्वास छोड़कर नंद ने कहा—"क्यों नहीं?"

"प्रसन्न होकर कहो नंद।"

प्रसन्न होकर ही नंद ने सम्मति व्यक्त की।

"बहुत उत्तम। तुमसे ऐसी ही आशा थी। लो, मेरा यह भिक्षा-पात्र लो।"

नंद ने वह भिक्षा पात्र अपने हाथ में ले लिया।

"मैं जाता हूँ, सूर्यास्त के पहले मेरा यह भिक्षा-पात्र मुझे लौटा देना।" तथागत त्वरित गति से निष्क्रांत हो गए।

नंद विचारों के सघन वन में खो गया। राजभवन में उसके विवाह के गीत-वाद्य अपनी चरम सीमा पर थे।

नंद अपने विचारों में डुबकी लगाकर उतराया। उसने आकाश में सूर्य की स्थिति देखी। दासियाँ हाथ बाँधे हुए खड़ी थीं। नंद ने अमिताभ कहाँ हैं, यह देखने के लिये एक दासी को भेजा और शेष को बिदा कर दिया।

सारथी ने प्रवेश कर सादर निवेदन किया—"वरयात्रा के लिये रथ प्रस्तुत है राजकुमार। सबको आपकी ही प्रतीक्षा है।"

"चलो, मैं अभी आता हूँ।"

दासी ने लौटकर निवेदन किया—"तथागत कहीं भी नहीं हैं राजभवन में। वह अपने आश्रम को लौट गए।"

"अच्छी बात है। जाओ तुम।"

"दासी चली गई!"

एक सेवक ने फिर प्रवेश कर कहा—"राजकुमार, विलंब न करो, कहीं लग्न न टल जाय।"

"आता हूँ चलो।"

सेवक चला गया। एक ओर वरमाला लिए हुए राजकुमारी थी, दूसरी ओर तथागत की धरोहर—वह रिक्त भिक्षा-पात्र! नंद ने सूर्य की अवस्थिति देखकर कहा मन में—"विलंब नहीं हुआ है।" वह कक्ष से वहिर्गत हो गया।

भिक्षा-पात्र ने विजय पाई। उसे हाथ में लिए हुए वह न्यग्रो-धाराम के पथ पर बढ़ता गया। मार्ग में अपने अलंकार खोल-खोलकर विसर्जित करता हुआ चला गया वह। बहुमूल्य वस्त्र भी खोलकर फेंकता गया। सूर्यास्त से बहुत पहले ही जाकर पहुँच गया नंद बोधिसत्व के निकट।

अमिताभ ने अभय मुद्रा से कहा—"आ गए नंद तुम?"

"हाँ देव।"

ऐसे ही आना उचित था तुम्हें। देखता हूँ तुमने सभी बंधन

काट डाले हैं।"

नंद ने भिक्षा-पात्र बोधिसत्व की ओर बढ़ाया। बोधिसत्व बोले—"इसे सँभालकर नहीं रख सकते ?"

"रख सकता हूँ।"

"आजन्म ब्रह्मचर्य पूर्वक।"

"अमिताभ का आशीर्वाद हो, हाँ, आजन्म ब्रह्मचर्य-पूर्वक ही।"

"संघ के द्वार तुम्हारे लिये उन्मुक्त हों, तुम्हें धर्म की शरण प्राप्त हो। मैं तुम्हें इस रिक्त भिक्षा-पात्र को उन चार रत्नों से भर दूँगा, जिनको मैंने पाया है।"

नंद बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गया।

राजभवन में सहसा वर के अंतर्धान हो जाने से बड़ी खलबली मच गई। उनको ढूँढने के लिये राजभवन और राजधानी का कोना-कोना छाना जाने लगा।

संध्या समय महाराज को राजकुमार नंद के संघ-प्रवेश का समाचार मिला। यह उन्हें असह्य हो उठा। जिस दूसरे पुत्र को वह अपनी वृद्धावस्था का अवलंब समझ रहे थे। दैव ने उसे भी उनसे दूर कर दिया। पर यहीं पर जाकर शुद्धोदन का दुःख शेष नहीं हुआ।

शीघ्र ही एक दिन फिर अमिताभ ने राजभवन में पदार्पण किया। भिक्षा ग्रहण कर जब तथागत न्यग्रोध वन को बिदा होने लगे, तब राहुल ने यशोधरा के पास जाकर कहा—"मा, वह तो मेरे लिये कुछ भी नहीं लाए हैं।"

"तुमने याचना की ?"

"नहीं।"

"तो जाओ, कहो उनसे, मैं तुम्हारा पुत्र राहुल हूँ, मुझे मेरी पैतृक संपत्ति दो।"

राहुल दौड़ता हुआ चला गया। मार्ग में उनका चीवर पकड़ लिया उसने।

"कौन ?" अमिताभ ने रुककर देखा।

"पिता, मैं हूँ आपका पुत्र राहुल।"

"राहुल तुम बंधनमुक्त हो यहाँ, तुम्हारा पिता यहाँ प्राचीरों के सप्तक में बंदी था। क्या चाहते हो ?"

"पिता, मुझे मेरी पैतृक संपत्ति दो।"

"पैतृक संपत्ति ? तुम अभी बालक हो, घर को लौट जाओ, अकेले हो।"

"नहीं, मुझे कोई भय नहीं। मैं उसे लेकर ही जाऊँगा।"

"तब चलते चलो मेरे साथ।"

कुछ दूर और जाने पर राहुल ने फिर बुद्ध की उँगली पकड़ ली।

"क्या है राहुल ?"

"मेरी पैतृक संपत्ति ?"

"तुम राजभवन से बहुत दूर आ गए हो। क्या उसके निवासियों का प्रेम और उनकी सेवा इस एकांत अनुसरण से रोकती नहीं तुम्हें ?"

"नहीं।"

"तब चले चलो राहुल मेरे साथ। भय राजभवन में भी है और निर्भयता वन में भी। मैं तुम्हें तुम्हारी पैतृक संपत्ति से वंचित न करूँगा।"

राहुल फिर उनके पीछे-पीछे चलने लगा, वेणु के सुमधुर स्वर-जाल में मानों फँसा और खिंचा हुआ मृग-छौने की भाँति।

कुछ दूर और चलने पर तथागत बोले—"तुम्हें राजभवन का निवास छोड़ देना पड़ेगा फिर।"

"मैं छोड़ दूँगा। आप ही के साथ रहूँगा।"

"अच्छी बात है राहुल ! तुम्हारे पिता के पास संपत्ति तो है, पर वह तुम्हें इंद्रिय-सुख नहीं दे सकती।"

राहुल चिंतामग्न होकर पथ में खड़ा हो गया।

अमिताभ बोले—"हमारे प्रकार का सुख देगी। शाश्वत और चिरनवीन सुख जिस सुख पर जरा, वियोग और मृत्यु की छाया नहीं पड़ती है। तुम्हें यह राजवेश उतार देना पड़ेगा।"

"मैं उसे भी उतार दूँगा।"

दोनों आश्रम में पहुँच गए।

अमिताभ ने सारि पुत्र से कहा—"हे भिक्षु-श्रेष्ठ ! यह हमारे संघ का अवस्था में सबसे छोटा भिक्षु होगा ! इसके बंधन काटकर इसे संघ में प्रविष्ट कर दो।"

राहुल बौद्धधर्म में दीक्षित हो गया। यह समाचार जब राजभवन में पहुँचा, तो वहाँ हाहाकार मच गया ! आशा और आधार के शेष दीपक को भी इस प्रकार छिनते देखकर महाराज शोक से प्रायः अचेत हो गए !

शोकातुर महाराज उसी समय संघ में जा पहुँचे। वहाँ राहुल को केश परिच्छिन्न और अलंकार-विहीन भिक्षु के वेश में देखकर वह ढाड़ मार-मारकर रुदन करने लगे। उन्होंने उसे गोद में लिया और पूछा—"वत्स ! तुम्हारा यह वेश किसने किया ?"

"मैं पिता की संपत्ति का अधिकारी हुआ हूँ।"

"कौन कहता है यह पिता की संपत्ति है ?"

"माता ने कहा।"

"महाराज राहुल को लेकर अमिताभ के निकट जाकर बोले—"तुम क्या पिता की सब आशाओं को चूर्ण कर दोगे इस प्रकार ? सभी गृह के दीपक बुझा दोगे ? समस्त राज्याधिकारियों

को भिखारी बनाकर क्या तस्कर और आततायियों का बल बढ़ा दोगे ?"

"स्वार्थ की प्रेरणा से ही आप ऐसा कह रहे हैं ।"

"तुम मेरे राजभवन को सूना कर चल दिए, मैंने किसी प्रकार उस वज्रपात का सहन कर लिया । तुमने नंद को भिक्षु बनाकर हमसे विलग किया, उस महान् दुःख का भी हमने पुष्प के समान सिर-आँखों पर ले लिया और आज, आज तुमने इस अबोध और अज्ञान बालक को हमारी गोद में से छीन लिया ।"

"मृत्यु भी तो अपने प्रहार से किसी को किसी समय छीन ले जाती है । किंतु नंद और राहुल इन दोनों को मैंने अमृत-राज्य के द्वार पर ले जाकर रक्खा है । जिस प्रकार आपने मेरा शोक भुलाया है, वैसे ही आपको इनका दुःख करना उचित नहीं । ये स्वयं पाप और ताप के पाश से मुक्त होंगे और अगणित मनुष्यों का मुक्त-पथ विस्तीर्ण करेंगे ।" अमिताभ बोले ।

"नहीं, मैं प्रार्थना करूँगा । तुम तो पिता हो चुके हो । ऐसे अबोध और अज्ञान बालकों को विना उनके माता-पिता या अभिभावकों की अनुमति लिए भिक्षु बना देना उचित नहीं है ।"

अमिताभ को पिता का अनुशासन शिरोधार्य हुआ । उन्होंने अपने प्रधान शिष्यों से कहा—"उचित ही है यह बात । संघ के नियमों में हमें यह बद्ध करना होगा । अबसे कोई बालक बिना उसके माता-पिता और अभिभावकों की स्पष्ट सम्मति के संघ में प्रविष्ट न होने पावेगा ।"

अमिताभ ने कुछ दिन और कपिलवस्तु में बिताए । जब तक वहाँ रहे, उन्होंने महाराज को धर्म-चर्चा से सांत्वना और शांति प्रदान की ।

शीघ्र ही तथागत ने कपिलवस्तु से बिदा होने का निश्चय किया ।

उन्होंने मगध की ओर ही चरण बढाए। राजगृह में उनके विरुद्ध जो अंदोलन चल रहा था, उसी को अपनी अहिंसा और सत्य से विजित कर लेना स्थिर किया।

मार्ग में कुछ आखेट-प्रिय राजकुमार विचर रहे थे। बुद्ध उस बन से होकर जा रहे थे। उन राजकुमारों ने उन्हें संघ-सहित जाते हुए देखा।

अमिताभ के केवल दर्शन से ही उन पर बड़ा अद्भुत प्रभाव पड़ा। उन सबके मन में उस दिन मृगया के प्रति बड़ी विरक्ति उपज गई। उन्होंने धनुष और तूणीर भूमि पर उतारकर रख दिए। उन के निषंग मानो अपनेआप उनके कटि-प्रदेश से खुल गए।

एक ने दूसरे का मुख देखकर कहा—"बड़ी अभूतपूर्व बात हो गई आज।"

एक ने कहा—"पशुओं की कौन कहे। इस वन में आज कोई चिड़िया भी तो नहीं दिखाई दी। यह तो ऐसा जान पड़ता है, जैसे कोई हमारे आने की चेतावनी इन प्राणियों को दे गया है।"

दूसरा बोला—"आखेट के न मिलने से ही और उसके लिये किए गए इस कठिन श्रम से हमारे मन में यह निराशा उत्पन्न हुई है और इसी से यह अस्त्र-शस्त्र हमें बहुत भारी प्रतीत हो गए।"

तीसरा कहने लगा—"मेरे तो मन में आता है, अब कभी मृगया के लिये घर से बाहर पैर न निकालूँगा।"

चौथे ने प्रकट किया—"मैं भी यही विचारता हूँ, पर मेरी प्रेरणा दया-भाव से है, श्रम की निराशा से नहीं।"

पाँचवें ने घोषित किया—"मैं इसे दैवी चमत्कार कहूँगा। और वह साक्षात् दया का अवतार-सा जो महापुरुष अभी इस मार्ग से गया है। मैं समझता हूँ, यह उसी का शक्तिशाली प्रभाव है।"

उनके साथ उपाली-नामक एक नापित था। उन्होंने उस महापुरुष का परिचय लेकर शीघ्र लौट आने के लिये उपाली को भेजा।

उपाली जब लौटकर आया, तो उसने देखा, एक राजकुमार ने अपने वस्त्रालंकार भी उतारकर भूमि पर रख दिए थे। वह शाक्य राजकुमार आनंद था सिद्धार्थ का जाति-भाई।

आनंद ने अधीर होकर उपाली को देखते ही पूछा—"कौन यह युवराज गौतम ही हैं न?"

"हाँ, वे अब उन्हें गौतम बुद्ध कह रहे हैं।" उपाली ने उत्तर दिया।

"मेरा अनुमान ठीक ही निकला। उपाली, मेरे ये वस्त्रालंकार तुम उठा ले जाना। मैं अब उन्हीं का अनुसरण करूँगा।" कहते हुए आनंद जाने लगा।

दूसरा राजकुमार बोला—"मैं भी तुम्हारा साथ दूँगा।" उसने भी अपने वस्त्राभूषण खोलकर उपाली को दे दिए।

देखा-देखी सभी राजकुमारों ने अपने-अपने वस्त्राभूषण खोलकर उपाली के सम्मुख ढेर लगा दिया। सभी के मन में संसार के भोगों के प्रति विराग उत्पन्न हो गया। आनंद उन सबको तथागत की शरण में ले चला।

उपाली केवल वहाँ पर रह गया अकेला। उसने अपने सामने उस बहुमूल्य ढेर को देखा। मन में सोचा—"अब मुझे मनुष्यों की हीन सेवा से मुक्ति मिल जायगी। विना हाथ-पैर हिलाए ही अब मुझे जगत् के अच्छे-से-अच्छे सुख-भोग मिल जायँगे।" वह आभूषण और परिच्छदों को अलग-अलग कर गठरी बाँधने लगा। धीरे-धीरे उसके विचारों में प्रतिक्रिया आरंभ हो गई—"धिक्कार है रे! नापित उपाली तुझे! अमिताभ को इतने निकट पाकर

भी तेरी भोग-तृष्णा क्यों जागरित हो गई ! ये राजकुमार जिन वस्तुओं को भार समझकर तेरे ऊपर फेंक गए, क्या तू उन्हें लादे-लादे मरीचिका के पीछे उद्भ्रांत रहेगा ? नहीं, कदापि नहीं ! इन पत्थरों और धातु के खंडों की बहुमूल्यता में मनुष्य की अज्ञान कल्पना है। मैं इस गठरी को सत्य की दृष्टि से देखूँगा। यह राजकुमारों के अंग का मैल है। चौर कर्म से कटे हुए बाल, नख और उबटनों के उच्छिष्ट भार के समान ही तो है यह। मैं भी इसका परित्याग करता हूँ। मैं इसमें अपना भाग भी सम्मिलित कर दूँगा।"

उपाली ने अपनी छुरिकाओं, कर्तरियों, नखहरणियों, दर्पण, सुगंधि तैल आदि को भी उसी गठरी में बाँध दिया। उसने अपने अंग पर के वस्त्र भी उसी में रख दिए—"मैं भी तथागत की शरण में जाऊँगा, और इन राजकुमारों से पहले ही जाऊँगा।"

उपाली ने उन सबकी गठरी बाँधकर एक वृक्ष पर लटका दी। उसके निकट ही एक पत्थर के फलक पर यह लिखकर रख दिया—"जो चाहे वह इसे ले जाकर अपने उपयोग में ला सकता है।"

उपाली भागा हुआ अमिताभ की शरण में गया, और इन राजकुमारों से पहले वहाँ पहुँचकर उसने दीक्षा प्राप्त की। समय पाकर उपाली ने बौद्ध महात्माओं में बहुत बड़ी प्रतिष्ठा लाभ की, और विनय पिटक के प्रमुख आचार्यों में इनकी गणना हुई।

---

१७. गूँगा सारथी

महाराज बिंबिसार भले प्रकार यह जानते थे कि अमिताभ और उनके संघ को कलंकित करने में मुख्य कारण देवदत्त ही है। देवदत्त ने ऐसे कौशल से राज्य के प्रमुख अधिकारियों और प्रजा के विशेष मनुष्यों को इस प्रकार अपनी मुट्ठी में कर रक्खा था कि महाराज को धैर्य रखकर उस दिन की प्रतीक्षा करनी पड़ी जब सत्य का सूर्य काले बादलों को फाड़कर प्रकट होगा।

अमिताभ ने ब्राह्मण की नई परिभाषा जनता में प्रचारित करनी आरंभ की थी। ब्राह्मण के चिरप्रतिष्ठित पद को इससे भारी ठेस पहुँची। उसका आसन हिल गया। राजगृह के अनेक ब्राह्मण तथागत के लिये भीषण प्रतिहिंसा से भर उठे। देवदत्त ने उनके स्वर ऊँचे किए।

प्रजा के अनेक लोग संबंधियों की इच्छा के विरुद्ध संघ में सम्मिलित हो गए थे। कुछ लोग इसलिये भी बुद्ध से चिढ़ गए थे। जगत् के अभ्यस्त पथ में जब कोई नवीन विचार उदित होता है, तो जनता उसे सहन नहीं कर सकती, वह पूरी शक्ति से उसका विरोध करती है। अनेक ऐसी जनता को भी साथ लेकर देवदत्त ने शक्ति-संग्रह किया।

कुछ लोग भावी महाराज अजातशत्रु की चाटु कारी के लिये भी देवदत्त की हाँ-में-हाँ मिलाने लगे थे।

महाराज राज्य में कहीं भयानक धर्म-विप्लव न फैल जाय, इस भय से घबरा उठे थे, पर अमिताभ की कपिलवस्तु-यात्रा के कारण वह अग्नि फैलने से बच गई।

अनेक नवदीक्षित बौद्ध भिक्षु जो राजगृह में रह गए थे, उन्हें देवदत्त और उसके साथी नानाप्रकार की पीड़ा पहुँचाने लगे। वे जब भिक्षा के लिये नगर और ग्रामों में निकलते, तब उनको गालियाँ दी जातीं, उन पर पत्थर और ईंटें फेंकी जातीं, उनके भिक्षा-पात्रों में थूक देते, उनके वस्त्र फाड़ डालते। भिक्षु स्तब्ध और शांत रहते। उन्हें तथागत की पूर्णतया अहिंसक रहने का आदेश था।

देवदत्त और अजातशत्रु का बौद्धों पर अत्याचार बहुत बढ़ गया। भिक्षु राजगृह छोड़-छोड़कर चले गए। अनेकों ने जाकर बिंबिसार को यह सूचाना दी!

महाराज बड़ी कठिनता में पड़ गए। वैदिक कर्म-कांडी महाराज के बौद्ध हो जाने के कारण महाराज के कर्मकांडी गुरु तथा अनेक मंत्री उनके विरुद्ध हो गए थे। वे दिन-रात राजा को बौद्धमत का त्याग कर देने की सम्मति देते थे। पर महाराज अपने विश्वास में स्थिर थे।

महाराज ने साहस किया और यह राजाज्ञा अपने राज्य-भर में प्रचारित की कि बौद्धों का धर्म अहिंसा और सत्य पर प्रतिष्ठित है। वे किसी का अनिष्ट नहीं विचारते। वे भी मेरे परम मान्य नागरिक हैं, उन्हें निरपराध हानि पहुँचाना घोर अन्याय है। जो उन्हें सतावेगा, वह धर्म का अपराधी है, वह राज्य का भी अपराधी होगा। मैं उसे कठिन-से-कठिन दंड दूँगा।"

इस राजाज्ञा के प्रसार से कुछ अत्याचार अवश्य ही कम हुआ। पर देवदत्त के क्रोध में मानो घृत की आहुति पड़ी। वह निडर होकर प्रजा में प्रचार करने लगा कि हमारे पूर्वजों के वैदिक धर्म पर महान् संकट आया है। राजा बौद्ध हो गया है, वह आत्मा और ईश्वर, किसी को नहीं मानता। उसने समस्त याग-यज्ञ लुप्त कर

दिए हैं। वह अब अपने धर्म को बलात् प्रजा पर भी लादना चाहता है। राजा प्रजा का रक्षक है, वह उसका स्वामी नहीं। वह प्रजा को विवश नहीं कर सकता कि वह उसके ही धर्म का अनुसरण करे। हे नागरिको ! जागो, उठो ! अपने पूर्वजों के धर्म की रक्षा करो। यदि धर्म को न बचा सकोगे, तो फिर कुछ भी न रहेगा तुम्हारे। राजा अनीश्वरवादी हो गया है। यह बुद्ध तुम्हारे घरों में विधवाओं की संख्या बढ़ाने, घर-घर अनाथों से भर देने और सृष्टि-क्रम को नष्ट कर देने के लिये यहाँ आया है। उसने ब्राह्मण और चांडाल को एक कर दिया है।

देवदत्त समझा था वह धर्म-विप्लव सुलगा देगा प्रजा में, पर यह संभव नहीं दिखाई पड़ा। वह कुछ भी निराश न हुआ और अपनी कार्य-सिद्धि के लिये दूसरा मार्ग-निर्माण करने लगा। वह अजातशत्रु को अपने कुचक्र का साधन बनाने लगा।

अजातशत्रु को धर्म से कोई संपर्क न था। वह बौद्ध और ब्राह्मण दोनो को एक ही-सा समझता था। उसके मन में बसी हुई थी श्रावस्ती की वारांगना आम्रपाली। आम्रपाली बराबर मगध के युवराज की उपेक्षा करती चली आ रही थी। वह अपने वचनों में निरंतर झूठी प्रकट हो रही थी। अजातशत्रु को यह शूलवत् बिद्ध कर रहा था।

देवदत्त ने उस दिन अजात से कहा—"मित्र, जो दूत कल आम्रपाली के पास से आया है, वह तुमसे सब कुछ न कह सका, भय के कारण।"

"क्या नहीं कहा ?"

"आम्रपाली का निश्चय।"

"क्या निश्चय है उसका ?"

"वह कहती है, अजातशत्रु से प्रेम कर उसे कोई लाभ नहीं,

वह एक नाम-मात्र का युवराज है। चारों ओर यही समाचार फैला है कि महाराज ने उन्हें राज्य-च्युत किया है, वह अपने दूसरे राजकुमार को राजसिंहासन पर बिठाएँगे।"

"इतने निकट का षड्यंत्र यह कितनी दूर से ज्ञात हो रहा है हमें। जान पड़ता है, हमारे निजी गुप्तचर हमारे वेतन से संतुष्ट नहीं हैं। मैं कल्पना कर तो रहा हूँ बहुत दिनों से इस बात की। देवदत्त क्या तुमने भी छिपाकर रक्खा है यह भेद मुझसे?"

"नहीं युवराज। किसलिये? महाराज के इस निश्चय से क्या पहले देवदत्त ही पंगु न हो जायगा।"

"तुम क्या समझते हो, यह बात सच है?"

"हाँ, मैं सच ही समझता हूँ।"

"तब मैं इस षड्यंत्र को पालने में ही शेष कर डालूँगा।"

"सर्वथा युक्तियुक्त!"

"तुम सहायता दे सकते हो?"

"शक्ति के भीतर और बाहर दोनो प्रकारों से।"

"चलो फिर अभी। खड्ग उठा लो अपना।"

"खड्ग?"

"हाँ।" अजातशत्रु ने आसव का पात्र उठाकर रिक्त किया—"लो, तुम भी पी लो।"

देवदत्त ने आसव पीते हुए कहा—"खड्ग से क्या होगा?"

"वह राजा, जिसे वेदों की अपौरुषेयता में सन्देह हुआ है, जो भिक्षु हो जाने पर भी राजमुकुट धारण करता है, जो शस्त्र और कारागार का भय दिखाकर प्रजा में नास्तिकता फैला रहा है, जो अपने सबसे बड़े बेटे का अधिकार छीनकर दूसरे कुमार को सौंप रहा है, उस राजा का क्या अधिक दिनों तक जीवित रहना उचित है?"

"नहीं, कदापि नहीं।"

"चलो, फिर प्रजा हमारे साथ है। राजगुरु हमारा पक्ष लेंगे। मंत्री हमारे सहायक होंगे, सेना हमारे संकेत पर चलेगी, चलो।"

देवदत्त सोच-विचार में पड़ गया।

"कटि कसो देवदत्त, साहस करो। कोई भी हमसे नृपहंता न कह सकेगा। हमारा स्वार्थ ओट में है। हम धार्मिक क्रांति के उन्नायक हैं। वसु, रुद्र और आदित्य हमारे सहायक हैं। हमारी चेष्टा उन्हीं की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखने में समर्पित है।"

"यदि कुछ दिन नहीं ठहर सकते, तो कुछ प्रहर धीरज रक्खो। बिना भले प्रकार सोच-विचार किए पग बढ़ा देना अज्ञान है।"

"बहुत विचार चुके हैं।"

"कुछ और अंधकार हो जाने दो।"

"हम तस्कर नहीं हैं।"

"महाराज कहाँ हैं?"

"अंतःपुर में। नाना प्रकार के भोगों के बीच में कुशासन बिछाकर वह पाखंडी राजा होंगे कुतर्क ध्यान में। सबसे बड़े बेटे का अधिकार छीनकर किसी और को दे देना कुतर्क नहीं तो क्या है? उठाओ अपना खड्ग।"

देवदत्त ने खड्ग उठाते हुए कहा—"परंतु युवराज, एक कठिनता है—" वह चुप हो गया।

"कठिनता कैसी?"

"मेरे लिये अंतःपुर में निषेध है।"

"जहाँ तक द्वार मुक्त हैं, वहाँ तक चलो।"

"अजात, तुम क्या करना चाहते हो?"

"चुप रहो, बोलो नहीं कुछ।" कहकर अजातशत्रु उसका हाथ पकड़कर खींच ले गया।"

देवदत्त ने हाथ छुड़ाकर युवराज का अनुसरण किया।

"चलो, मेरे पीछे-पीछे चले आओ, हमें कोई रोक नहीं सकता। आज हम अपने पथ की सबसे बड़ी बाधा का उन्मूलन कर ही लेंगे, अजातशत्रु ने कहा।

अंतःपुर के मुख्य द्वार-रक्षक ने देवदत्त को रोक लिया।

युवराज ने रोष-पूर्वक कहा—"देवदत्त मेरा अभिन्न हृदय मित्र है, उसे क्यों रोक लिया?"

"महाराज की आज्ञा।" द्वार-रक्षक बोला।

"उन अधरों के प्रसुप्त हो जाने पर तुम किसकी आज्ञा मानोगे?'

"द्वार-रक्षक विचार में पड़ गया।

अजातशत्रु बोला—"क्या तब मेरी आज्ञा का पालन न करोगे?"

द्वार-रक्षक धीरे-धीरे बोला—"हाँ।"

"अच्छा, तब मेरी ही आज्ञा की प्रतीक्षा करो।" कहकर अजातशत्रु बड़े आवेग से अंतःपुर के भीतर चला गया।

महाराज बिंबिसार ध्यान साध रहे थे, अकेले ही थे।

किसी की आहट पाकर महाराज ने आँखें खोलीं। सम्मुख ही देखा खड्ग की मूठ पर हाथ रक्खे हुए युवराज खड़े थे। युवराज की भाव-भंगी देखकर महाराज को शंका हुई। उन्होंने कहा—"युवराज! उनके स्वर में घबराहट थी, पर उन्होंने किसी प्रकार उसे प्रकट नहीं किया।

युवराज ने बड़े क्रुद्ध स्वर में उत्तर दिया—"हाँ।"

"असमय कैसे आए युवराज?" बड़े प्रेम से महाराज ने कहा।

"असमय!"

"हाँ। बिना बुलाए अपनी इच्छा से अब तुम यहाँ कभी नहीं आते, इसी से कहता हूँ। क्या चाहते हो?"

'पर आप नहीं देना चाहते !" अजातशत्रु ने कुछ दृढ़ता से खड्ग की मूँठ को पकड़ा।

"अजात ! अजात !" कहते हुए सम्राट् उठ खड़े हुए, उन्होंने बड़े प्रेम-भाव से उसके कंधे पर हाथ रक्खा—"क्या नहीं दिया तुम्हें ? तुम मगध के युवराज हो ! सब कुछ तुम्हारा है। मगध का सम्राट् भिक्षु होने जा रहा है। उसके हाथों का राजदंड किसी भी दिन भिक्षा-पात्र में बदल जावेगा।"

"झूठ बात !"

"अमिताभ का भक्त झूठ से घृणा करता है। सर्वत्र और सदा सत्य की शोध और सत्य का व्यवहार ही उसका व्रत है।"

"यह कोरी वंचना है। मैं कुछ और सुनता हूँ।" कहकर अजातशत्रु ने खड्ग बाहर खींचने का प्रयत्न किया।"

बिंबिसार ने उसका हाथ रोक लिया—"तुम क्यों बार-बार खड्ग खींच रहे हो ? मैं तुम्हें आज ही अंगराज्य का अभिषेक करता हूँ।"

"उसका एकछत्र अधिकार दे देंगे आप मुझे ?"

"हाँ।"

"आज ही ?"

"हाँ।"

अजातशत्रु ने खड्ग पर से हाथ खींच लिया—"अच्छी बात है, तब मैं अपनी भूल सुधार लूँगा। अभिषेक का आयोजन आरंभ हो।"

अजातशत्रु को अंग देश का राज्य मिला। वह उसकी राजधानी चंपा के लिये विदा हो गया। उसने देवदत्त को अपना मंत्री बनाया। दोनो को वहाँ निर्द्वंद्व विचरने के लिये किसी का भय न रहा।

अमिताभ फिर राजगृह में पधारे। उन्होंने पहले के ही आश्रम

वेणुवन में निवास स्थिर किया। फिर राजगृह में प्रेम और त्याग की मंदाकिनी बहने लगी। इस बार उनके जन्म का विरोधी देवदत्त वहाँ न था; उसके कुचक्रों से धर्म का प्रचार अविच्छिन्न रूप से घर-घर प्रकाश करने लगा। भिक्षु निर्बाध रूप से अपना काम करने लगे, श्रावस्ती समृद्धिशाली राजनगरी थी। यह ऐरावती नदी के तीर पर अवस्थित कोशलराज की राजधानी थी। उन दिनों प्रसेनजित-नामक राजा इस पर राज करता था।

सुदत्त श्रावस्ती का अनंत धनशाली श्रेष्ठी था। आर्यावर्त ही नहीं उसके आस-पास के देशों के साथ भी उसका वाणिज्य-संबंध था। उसका सुख और उसकी संपत्ति सीमातीत थी।

यौवन में दूसरे ही प्रकार का था वह। सुखमय संसार की परिधि के भीतर वह अपने ही व्यक्तित्व को केंद्र समझे हुए बैठा था। जैसे जगत का उजला पृष्ठ सूर्य पर जाकर टिका है, ऐसे ही सुदत्त समझता था संसार के सुख-भोग उसके लिये हैं। उसने जो चाहा, उसे प्राप्त किया।

बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं के साथ उसकी प्रतिद्वंद्विता थी। उसका निवास-गृह आर्यावर्त के सर्व नरपतियों के राजभवनों से होड़ रखता था, उसकी साज-सज्जा संसार के श्रेष्ठतम उपकरणों से संगृहीत थी। उसका रहन-सहन, भोजन वस्त्र तुलना-विहीन और अद्वितीय था। वह संपत्ति में कुबेर और भोग-ऐश्वर्य में पृथ्वीतल के इंद्र के समान था।

गणिका आम्रपाली सुदत्त के ही श्री-पाश में उलझ गई मगध के युवराज अजातशत्रु की उपेक्षाकर। चंपा में निर्भय और निरंकुश होकर अजातशत्रु आम्रपाली की उस अवमानना को सहन न कर सका।

उसने देवदत्त से कहा—"अब हम एक स्वतंत्र और समृद्ध राज्य

के अधिपति हैं, सुख के सभी साधनों से संपन्न, आम्रपाली अब भी हमारा अपमान करती जा रही है। क्या यह हमारे लिये अत्यंत लज्जा का विषय नहीं है ?"

उसका सहचर बोला—"अवश्यमेव है। फिर इसके लिये जो भी आज्ञा महाराज दें, आपका यह अनुचर उसे शिरोधार्य करने के लिये किसी ऋतु और दिवस की किसी घड़ी प्रस्तुत है।"

"यह कोशल का राजा प्रसेनजित मुझे बड़ा ही कापुरुष प्रतीत होता है। मैंने स्पष्ट ही उसे लिख दिया था कि आम्रपाली हमारी अनंत धनराशि स्वाहा कर चुकी है, तुम्हारे श्रेष्ठी सुदत्त को कोई अधिकार नहीं कि वह उसे अपने रंगभवन में बंदी बना ले।" कुछ यति देकर अजात फिर कहने लगा—"पर्याप्त समय बीत चुका है, प्रसेनजित ने इस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। मित्र देवदत्त, मैं तुमसे कहता हूँ, क्या यह उपयुक्त समय नहीं है कि हम राज्य-विस्तार के लिये अपनी सेना और अस्त्र-शस्त्रों को सँभालें ?"

"अकारण ही ?"

"तुम इसे कारण नहीं समझते। एक साधारण श्रेष्ठी अजातशत्रु की मनोनीता को छीने बैठा है। शृगाल केसरी के भोग से क्रीड़ा कर रहा है। प्रसेनजित यह सब कुछ अंधा होकर देख सकता है। उसे राजा के प्रति राजा के कर्तव्य का ज्ञान नहीं। मैं अवश्य ही उसे शिक्षा दूँगा। क्यों देवदत्त, तुम क्यों शिथिलपग प्रतीत हो रहे हो ? क्या हम में इतना पौरुष और हमारी सेना की इतनी गिनती नहीं है कि हम श्रावस्ती पर आक्रमण कर सकें ?"

"है कैसे नहीं ? पर हमारी परिषद् के कुछ मंत्री अभी संपूर्णतया हमारे पक्ष में नहीं हैं। जब शांति के साथ ही कार्य साधन हो जाय, तो राजा को उचित नहीं है कि वह अपने बल का ह्रास करे।" देवदत्त ने साधारण भाव से कहा।

"तुम पर अपने मन की दुर्बलता प्रकट कर रक्खी है मैंने देवदत्त। मैं अम्रपाली के अभाव से कहीं भी परिपूर्णता नहीं पाता अपने जीवन में।"

"मैं ला दूँगा उसे।"

"कैसे?"

"जैसे भी होगा।"

"तो जाओ, शीघ्र-से-शीघ्र श्रावस्ती जाओ, और उसे ले आओ। इस काम में जितना भी धन व्यय हो, उसकी रंचमात्र चिंता न करो।"

देवदत्त पर्याप्त मार्ग-व्यय और कुछ सैनिक तथा अनुचरों को लेकर यात्रा के लिये तैयार हुआ। रथों पर चढ़कर वे लोग बिदा हुए।

देवदत्त ने छद्मवेश धारण किया और गूँगा सारथी बनकर एक रथ के संचालन-सूत्र स्वयं अपने हाथों में लिए। वे लोग अभी श्रावस्ती न जाकर राजगृह को गए।

राजगृह में आम्रपाली की छोटी भगिनी रहती थी। उसके पास जाकर देवदत्त ने कूट मंत्रणा की। उसके मुख की प्रसन्नता कहती थी, उसे सफलता मिली है! वे श्रवस्ती के लिए प्रस्थित हुए।

जो माया-जाल रचकर ले गया था देवदत्त, उसमें आम्रपाली फँस गई। देवदत्त ने श्रावस्ती पहुँचकर आम्रपाली के पास यह पत्र और संवाद भेजा कि राजगृह में उसकी भगिनी मरणासन्न अवस्था में है। मृत्यु के समय उसकी यह उत्कट इच्छा है कि वह आम्रपाली का मुख देख ले।

आम्रपाली अत्यंत स्नेह रखती थी अपनी भगिनी पर। वह उसी दिन कुछ शरीर-रक्षक और दासियों को लेकर राजगृह चल दी। सुदत्त कुछ नवीन वाणिज्य-संबंधों को सुदृढ़ करने के लिये अवंती की ओर गया हुआ था। आम्रपाली उसके आगमन की प्रतीक्षा न कर

सकी। महोदरा से अंतिम मिलन की कातरता से उसे स्वामी की आज्ञा ले लेनी भी कुछ आवश्यक न प्रतीत हुई।

सारथी के वेश में अपने शरीर और गूँगेपन में अपने मन को आवरित किए हुए देवदत्त ने आम्रपाली को अपने रथ पर बैठाया। मृत्यु की भयानकता का चित्रण करता हुआ उस वारवनिता का मन देवदत्त के षड्यंत्र के भीतर पैठ न सका, उसके दिखावे में ही तिर गया!

मार्ग की धूलि से आम्रपाली के सुकोमल वस्त्र और अंग की रक्षा करने के लिये उस गूँगे सारथी का रथ मार्ग में अग्रगण्य हुआ। उसके पीछे आम्रपाली की दासियों और शरीर-रक्षकों के रथ, सबके पीछे देवदत्त के अनुचरों के रथ चले।

पहले दिन की यात्रा सकुशल व्यतीत हुई। दूसरे दिन यात्रा आरंभ करने के पश्चात् ही कुछ दूर जाने पर गूँगे सारथी ने रथ रोक दिया और रथचक्र की चूल ठीक करने लगा। उसने आम्रपाली के रथवाहकों को आगे बढ़ जाने का संकेत दे दिया। अपने साथियों को भी कुछ इंगित कर दिया।

रथ पर बैठे-बैठे आम्रपाली अकुलाई, उसने कहा—"शीघ्रता करो सारथी! कहीं ऐसा न हो, मैं अपनी प्रिय भगिनी से अंतिम भाषण न कर सकूँ।"

गूँगा सारथी रथ के नीचे से बाहर निकला। एक हाथ बढ़ाकर दूरी को दिखाया उसने और मुँह से फूक मारने लगा—"फू-फू-फू!"

आम्रपाली ने उसका अर्थ समझा कि सारथी कह रहा है, पवन के वेग से ले चलूँगा रथ।

सारथी ने हाथ जोड़कर कहा—"दद्द, तत्त ता।" उसका आशय था कुछ थोड़ी दूर और धीरज रक्खो।

आम्रपाली के मुख पर मुसकान की क्षीण रेखा उदित होते ही विलीन हो गई।

सारथी कुछ ठोक-ठाक और की, पहिया ठीक हो गया, उसने रथ के सूत्र हाथों में लेकर घोड़ों की पीठ पर कोड़ा रक्खा, रथ पवन से बातें करने लगा।

अविराम गति से रथ भागा चला जा रहा था। बहुत दूर निकल जाने पर भी आगे बढ़े हुए साथी नहीं मिले। इसके अतिरिक्त आम्र-पाली को वह पथ सर्वथा नवीन-सा प्रतीत हुआ। उसके मन में संशय उपजने लगा। उसने सारथी से रथ रोक देने को कहा।

सारथी ने रथ रोककर पूछा—"तत्तत, तत् ?"

"सारथी ! तुम कहाँ को ले जा रहे हो ?"

सारथी ने दाहनी तर्जनी बाईं हथेली पर बजाकर कहा—"तत।" अर्थात् बिल्कुल ठीक पथ पर।

आम्रपाली बोली—"साथी कहाँ गए ?"

हाथ की उँगलियों को खोलकर डमरू की भाँति बजाता हुआ बोला—"दुत-दुद !"—मैं क्या जानूँ।

रथ फिर वेग से भाग चला। कुछ दूर जाने पर फिर आम्रपाली बोली—"सारथी ! निःसंदेह तुम मार्ग भूल गए हो।"

"हूँ-हूँ !" सिर हिलाकर गूँगा बोला।

"मैं अनेक बार श्रावस्ती से राजगृह आई हूँ। मार्ग के कई स्थल जो मुझे भले प्रकार याद हैं, आज वे मुझे ढूँढ़ने से भी नहीं मिले। गंगा नदी कहाँ है ?"

सारथी ने पीछे की ओर दिखाकर प्रकट किया कि हम उसे पार कर आगे आ गए।

आम्रपाली चकित-भ्रमित हो गई। सारथी बिना विश्राम के रथ हाँकता चला जा रहा था। वह अपने मन में सोचने लगी—

"हम बहुत दूर आ गए हैं। इस सारथी के मन में कोई अन्यथा विचार तो नहीं है ?"

वास्तव में वे अंगराज्य में प्रवेश कर रहे थे। सूर्य भगवान् पश्चिम के आकाश में ढल गए थे। श्रावस्ती से वे लगभग पचास कोश आ गए होंगे, गूँगे सारथी के मन में अपनी विजय पर अमित हर्ष और उत्साह छिपा हुआ था। अंग-राज्य में आ जाने पर अब वह बिल्कुल निर्भय हो गया था। षड्यंत्र के फूट जाने पर अब उसकी प्रगति को कुछ भी हानि नहीं पहुँच सकती, ऐसा वह विचार रहा था। वह गूँगा और भी मूक हो गया। हाथों में सूत्र और कोड़ा, दृष्टि पथ में और मन महाराज अजातशत्रु के समीप था उसका।

आम्रपाली ने सारथी का उत्तरीय खींचकर कहा—"रोक दो रथ।"

"हूँ-हूँ" गूँगा बोला। उसने घोड़ों की पीठ पर कोड़ा रखकर उनकी गति और भी तीव्र कर दी।

रोष-पूर्वक आम्रपाली बोली—"रोको रथ।"

सारथी अट्टहास्य कर उठा। वह विजय के दर्प से भर गया था। उसने रथ रोक दिया। एक अश्वारोही ने उसके सामने आकर उसे अभिवादन किया।

आम्रपाली ने पूछा—"राजगृह कितनी दूर है अभी ?"

अश्वारोही ने नीरव रहकर मुख फेर लिया।

आम्रपाली चक्कर में पड़ गई ! उसने उच्च स्वर से फिर पूछा—"कितनी दूर है राजगृह ?"

गूँगे सारथी ने अपने अप्राकृतिक श्मश्रुओं पर हाथ रक्खा—"मैं बताऊँगा।"

गूँगे के मुख से स्पष्ट शब्द सुनकर आम्रपाली का माथा घूमने

लगा—"कौन हो तुम ? अवश्य ही कोई वंचक हो। तुमने अब तक जिस कौशल से मूक का अभिनय किया, उसमें यह वाचालता उत्पन्न होनी मैं भगवान् का आश्चर्य कौतुक नहीं समझती। क्या दुरभिसंधि है तुम्हारी ? कौन हो तुम ?"

गूँगे ने कृत्रिम केश दूर हटा लिए। देवदत्त प्रकट हो गया !

"राजकुमार देवदत्त !" आम्रपाली चिल्ला उठी—"स्वप्न देख रही हूँ ?"

"नहीं।"

"कहाँ लिए जा रहे हो ?"

"तुम्हारे सौभाग्य का ग्रह चमक उठा है, तुम्हें अंगदेश की महारानी बनाने को लिए जा रहा हूँ। महाराज अजातशत्रु के वामांग में प्रस्थापित होओगी तुम।"

आम्रपाली के भावों में कोई परिवर्तन न हुआ इससे। उसने कहा—"राजगृह में मेरी सहोदरा ?"

"सानंद और सकुशल हैं, उन्हीं की अनुमति लेकर गया था मैं।"

"तुमने अच्छा नहीं किया देवदत्त !"

"बड़ी-बड़ी सुंदरियाँ जिस पद के लिये लालायित हैं, वह अनायास ही तुम्हें मिलेगा। तुम्हें देवदत्त को उपकारी के रूप में देखना चाहिए न ? क्या रक्खा है उस श्रेष्ठी के यहाँ ? केवल सुवर्ण का पर्वत ? अजातशत्रु के यहाँ सब कुछ है—"संपत्ति, प्रभुता, प्रताप, रूप-यौवन और तुम्हारे प्रेम से भरा हुआ मन।"

"नहीं, मुझे श्रावस्ती ही पहुँचा दो, तुम्हारी आजन्म ऋणी रहूँगी।"

देवदत्त ने कुछ संकेत दिया निकट ही खड़े हुए उस अश्वारोही को। अश्वारोही ने कंधे पर से अपना शृंग निकालकर उसे निनादित किया !

मार्ग के दोनो पार्श्वों में छिपे हुए अनेक सशस्त्र सैनिक थे । शृंग-नाद सुनते ही निकल आए और रथ को परिवेष्टित कर लिया ।

" तुम संयत मन से भले प्रकार विचारो । हम तो तुम्हें राज्य के भीतर ले ही आए हैं । अंतःपुर तक तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध भी खींच ले जा सकेंगे ।" देवदत्त बोला ।

अश्वारोही ने फिर शृंग-नाद किया ।

सेना ने घोषित किया—" अंगपति महाराज अजातशत्रु की जय !"

आम्रपाली ने रथ पर चढ़े-चढ़े चारों ओर सहायता के लिये कर प्रसारित कर देखा । शून्य-प्रवास में कोई भी न दिखाई दिया, उसकी आँखें सजल हो उठीं—"तुमने बड़ा अन्याचार किया राजकुमार !"

"कुछ ही घड़ी अभी ऐसा कहोगी तुम । तुम्हें अंगदेश की राजमहिषी बनाऊँगा । यही नहीं, महाराज अजातशत्रु की महत्त्वाकांक्षाएँ सब सफल होंगी । वह समस्त आर्यावर्त में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना करनेवाले हैं, तुम्हीं साम्राज्ञी बनोगी । ताम्र-पत्र पर अंकित कर यह राजा की आकांक्षा तुम्हारे अधिकार में रहेगी । सबसे बड़ी बात, तुम्हारे पुत्र होने पर वही मगध के विशाल साम्राज्य का उत्तराधिकारी होगा ।" देवदत्त ने कहा ।

"नहीं राजकुमार, नहीं । तुम्हें ज्ञात ही नहीं है । आम्रपाली श्रेष्ठी सुदत्त के साथ एक पवित्र बंधन में ग्रथित हो चुकी है । वह उस श्रेष्ठी को छोड़कर अन्य प्रलोभनों की ओर दृष्टि करना भी पाप समझने लगी है ।" आम्रपाली ने बड़ी सरलता से कहा ।

' आम्रपाली ! तुम—एक वारवनिता, कौन तुम्हारी इस बात का विश्वास करेगा ? तुम्हारी यह पति-परायणता, एक असंभव और अव्यवहारिक तर्क है । अभी तुम्हारा रूप और यौवन दोनों अक्षुण्ण हैं । अभी तुम्हारे सूत्रों पर आर्यावर्त के अनगिनती राज-

कुमार कठपुतली बन नृत्य करने के लिये प्रस्तुत हैं। चलो, उन सब में प्रमुख तेजस्वी और सुंदर महाराज अजातशत्रु हैं।" कहकर देवदत्त रथ के सूत्र सँभालने लगा।

"ठहरो, मैं कुछ कहना चाहती हूँ तुमसे। स्वस्थ होकर उदार मन से मेरी बात सुनो। नहीं समझे हो अभी मुझे।" आम्रपाली विनय-पूर्वक बोली।

"रस-प्रतिमे! रहस्य पुत्तलिके! कौन समझ सका है तुम्हें। तुम्हारी अगाधता पर ही तो आर्यावर्त के भविष्य का चक्रवर्ती तुम पर निछावर है। कहो, शीघ्र कहो। मैं चाहता हूँ, अब मैं तुम्हारे और उनके बीच की दूरी को बहुत शीघ्र विनष्ट कर डालूँ।"

"प्रेम की हाट में अपने रूप को बेचते-बेचते मैं श्रांत हो गई! अंत में किसके लिये? हृदय कुछ चाहता था, धन-संपत्ति से वह उपलब्ध न हो सका। मैं सच्चे प्रेम के लिये आकुल हो उठी। सच्चा प्रेम, अकृत्रिम प्रेम, वह अनेकों को छोड़कर केवल एक के ही चरण-सेवा से मिलेगा, ऐसा विश्वास हो उठा मुझे। मैंने श्रेष्ठी सुदत्त से विवाह कर लिया।"

"तुम बंधन—मुक्त नीलाकाश में अपने मन से विहरनेवाली पक्षिणी! तुम पिंजरबद्ध हो गईं? कौन कर सकता है? वारांगना पतिव्रता हो सकती है? नहीं असंभव!"

"क्या वारांगना के हृदय नहीं है? क्या उसका हृदय सदिच्छाओं का निवास नहीं बन सकता? मैं पश्चात्ताप की अग्नि में अपने पिछले पापों को जला रही हूँ, मैं वर्तमान जीवन में अपने कर्म को शुद्ध करूँगी। मैंने देखा नहीं उसे केवल सुना है।"

देवदत्त के हाथ से रथ-सूत्र गिर पड़े—"किसे नहीं देखा है?"

"उसे, वह जो पापियों को पश्चात्ताप से पवित्र करने आया है, वह जिसने पतितों को उठाने के लिये करुणा का हाथ बढ़ाया

है, वह जिसने दलितों का भार हलकाकर उनका मार्ग सरल बनाया है। मैं जब अपने प्रेमियों के स्वार्थ से आकुल हो उठी थी, तब मैंने उसकी कीर्ति सुनी। तुम नहीं जानते उसे? वह तुम्हारा ज्ञाति-भाई है।"

"कौन? सिद्धार्थ?" देवदत्त ने रुद्धकंठ से पूछा।

"हाँ, कपिलवस्तु का त्यागी युवराज गौतम, जिसने संबोधि-पद पाया है। वह मेरी पीड़ा भी दूर करेगा, वह मुझे भी मार्ग देकर उसे प्रकाशित करेगा।"

"सिद्धार्थ! वह भंड, वह पाखंडी, मेरा बालसखा? मैं जानता हूँ सब उसके बुद्धत्व को, तुम्हें भी बता दूँगा।" कहकर देवदत्त ने रथ बढ़ा दिया मार्ग में।

राजगृह के वेणुवन में पहुँचकर अमिताभ ने वहाँ वर्षा काल बिताना निश्चय किया। अजातशत्रु और देवदत्त के चंपा चले जाने के कारण बुद्ध के शिष्य राजगृह में बाधा-हीन होकर विचरण करने लगे। राजा के आश्रय में बौद्ध-धर्म पल्लवित होने लगा वहाँ।

वर्षा-काल में यातायात की असुविधा के कारण अमिताभ एक ही स्थान में रहते। शिष्यगण उनके उपदेशों में नया बल, नई स्फूर्ति और नवीन प्रेरणाएँ प्राप्त करते। वर्षा-काल के बीत जाने पर अमिताभ फिर ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में घूम फिरकर सत्य का संदेश सुनाने के हेतु प्रस्थान करते।

"वर्षा के शेष हो जाने पर जब आकाश निर्मल और वसुंधरा कर्दम-विहीन हो गई, तब अमिताभ ने धर्म-प्रचार करते हुए गंगा पार की और वैशाली में प्रवेश किया। वैशाली में लिच्छिवीराज ने अमिताभ का स्वागत किया और उनके नवीन धर्म के प्रति बड़ी भक्ति प्रदर्शित की।

वैशाली में महाराज शुद्धोदन की रुग्णावस्था का समाचार पाकर अमिताभ कपिलवस्तु के लिये चल दिए।

शाक्यों के राजा जरा के आक्रमण और दो पुत्र तथा पौत्र के गृह और राज्य-त्याग से बड़े दुर्बल और निराश हो गए। उन्हें जीवन भार-रूप हो गया था। उन्होंने अपना अंत-समय निकट जानकर सिद्धार्थ को देखने की इच्छा प्रकट की।

कपिलवस्तु पहुँचे। उन्हीं के दर्शनों पर मानो वृद्ध महाराज के प्राण अटक रहे थे। पिता की मृत्यु के समय अमिताभ ने उन्हें अपनी उपदेश-सुधा से परम शांति दी, और उन्होंने अमिताभ की गोद में ही सुख-पूर्वक प्राण विसर्जित किए!

सारा राजभवन हाहाकार से भर उठा। रमणियाँ निराश्रय और अभिभावक-विहीन होकर आर्त स्वर से रुदन करने लगीं।

महारानी प्रजावती ने राजकुमार राहुल को फिर गृहस्थ में प्रवेश की आज्ञा देने के लिये अमिताभ से विनय की। वह असफल ही रहीं।

अंत में प्रजावती ने अमिताभ के चरण पकड़कर कहा—"यदि तुम्हें पिता का वंश इस प्रकार निर्मूल कर देना ही इष्ट है, तो फिर हमें भी अपने साथ ले चलो। इस शून्य भवन में हम कैसे प्राण धारण कर सकेंगी।"

"तुम कहाँ आओगी। भिक्षु-संघ में नारी-प्रवेश निषिद्ध है।"

"क्या नारी इतनी अपवित्र है?"

"अपवित्रता की बात मैं नहीं कहता।"

"फिर क्या वह पुरुषों के समान त्याग और वैराग्य का व्रत नहीं निभा सकती?"

"यह भी नहीं कहता।"

"फिर हमें भी साथ लो पुत्र! यशोधरा इतने वर्षों से भिक्षुणी

का ही जीवन बिता रही है। भिक्षु-संघ में यदि हमारे लिये स्थान नहीं है, तो क्या उससे अलग भिक्षुणी-संघ की सृष्टि नहीं की जा सकती ?"

"अभी नहीं, अभी धैर्य रक्खो। मैं विचार करूँगा।" कहकर अमिताभ कपिलवस्तु से फिर वैशाली आ गए।

अमिताभ के चले जाने पर शाक्यवंश की राजरमणियाँ नितांत निराश हो उठीं। कपिलवस्तु के सभी राजकुमार एक-एक कर प्रव्रजित हो गए थे। राजभवनों में केवल उनकी परित्यक्ता महिलाएँ और अबोध शिशुगण ही रह गए थे।

संघागार में राजसिंहासन था शून्य! राजभवन में राजमुकुट था, राजा के वस्त्राभूषण थे, शस्त्रायुध थे, उनका उपयोग करनेवाला कोई न था। रथ-शाला के रथ, हय-शाला के घोड़े, गज-शाला के हाथी, सभी रिक्त और बँधे हुए थे! राजकोष आय-व्यय से विहीन राज-काज संचालन-प्रबंध से प्रगति-विच्युत अंतःपुर के निवासी अनवरत शोक में निमग्न और प्रजा प्रतिद्वंद्वी राजाओं के आक्रमण के भय से संशय-त्रस्त थी!

अब और अधिक सहन न कर सकीं राजभवन की रमणियाँ, प्रजावती ने सबको एकत्र कर कहा—"चलो, हम सब अमिताभ का अनुसरण करेंगी। लेना ही पड़ेगा उन्हें हमें अपने आश्रय में, क्या नारी नर की समानता नहीं रखती? क्या उसे जगत् का शोक-ताप नहीं व्यापता? क्या उसके मन में उनसे मुक्ति पाने की प्रवृत्ति नहीं जाग उठती?"

प्रजावती राजभवन की समस्त भिक्षुणी होने के लिये सन्नद्ध रमणियों की अधिनायिका बनकर वैशाली की दिशा में चल पड़ी। उन्होंने जगत् के सब आकर्षणों को ठुकरा दिया, सारी कृत्रिमता विसर्जित कर दी!

परम योगिनी यशोधरा को उन्होंने अपना आदर्श बनाया, उसकी कष्ट-सहिष्णुता से उन्होंने शक्ति पाई, और यह निश्चय किया कि हम भी यह सब कर सकेंगी।

वे राजभवनों को मुक्तद्वार छोड़ चलीं। साज-सज्जा, रत्नाभूषण सब कुछ जैसे था, वैसे ही त्याग चलीं। अंग पर एक-एक वस्त्र पहना उन्होंने। सौभाग्य के सब चिह्न और प्रतीक दूर कर दिए। उन्होंने कुसुम-कोमल नंगे पैर बाहर निकाल दिए पथ पर; सैकत-पत्थर, कुश-कंटक, शीत-ताप और जीव जंतु-भरे पथ पर!

वैशाली के भिक्षु-संघ में बड़ी हलचल मच गई। स्त्रियों के समूह-का-समूह बढ़ा चला आ रहा था। एक भिक्षु ने रोक लिया उन्हें—"आप लोग नहीं जा सकतीं संघ के भीतर। स्त्रियों के प्रवेश की किसी प्रकार आज्ञा नहीं है अमिताभ की।"

प्रजावती ने कहा—"हमने सुना है, बहुत दिन हुए उन्होंने एक स्त्री को प्रव्रज्या दी थी।"

"हाँ, वह एक वारवनिता थी चंद्ररेखा। किसी ने संघ के भीतर उसकी हत्या कर दी। तब से अमिताभ ने स्त्रियों के प्रवेश का कठोर निषेध किया है!"

इतने ही में भिक्षु आनंद आ पहुँचा वहाँ पर। प्रजावती ने उससे कहा—"राजकुमार आनंद, तुम जाकर अमिताभ से कहो। हम दृढ़ निश्चय के साथ आई हैं। यदि हमारे लिये संघ में स्थान नहीं होगा, तो हम यहीं पर निराहार और निराश्रय होकर प्राण त्याग देंगी। हम संसार का मोह छोड़कर आ गई हैं। हम किसी प्रकार अब कपिलवस्तु को नहीं लौट सकतीं। जाओ, तुम्हारी पत्नी भी हमारे साथ है। हमारी ओर से उन्हें समझाओ, नारी अपवित्र नहीं है, पुरुष के समान ही उसके भी अधिकार हैं।"

आनंद ने अमिताभ के पास जाकर हाथ जोड़ निवेदन किया—

"शाक्य-वंश की महिलाएँ, महारानी प्रजावती और यशोधरा के नेतृत्व में आपकी शरण आई हैं, उनके अनभ्यस्त पद फूल गए हैं, सारी देह धूलि से भरी है, मार्ग के श्रम और अनाहार से वे अत्यंत कृश हो उठी हैं। उन्हें शरण मिलनी उचित है महाराज।"

"हमने बहुत सोच-समझकर ही संघ के भीतर स्त्रियों के निषेध का नियम बनाया है।"

नियामक तो आप ही हैं प्रभु, उनके प्रवेश का नियम बना दीजिए।

"आनंद !—" अमिताभ कुछ विचारने लगे।

"हे प्रभु ! जिस प्रकार आपने कर्म को प्रधानता देकर ब्राह्मण और चांडाल को समता दी है। जिस प्रकार श्री-संपत्ति की नश्वरता दिखाकर रंक और नृप को एक ही आसन पर बिठाया है, ऐसे ही नर के अधिकारों तक नारी की भी पहुँच होने दीजिए। भिक्षुओं के साथ न सही, उनसे सर्वथा विभक्त कर भिक्षुणी-संघ की प्रतिष्ठा कर दीजिए।"

भिक्षुणी-संघ की स्थापना हुई। अनेक कठोर नियमों में बद्ध होकर शाक्यकुल की महिलाओं ने उप-संपदा प्राप्त की।

वैशाली से अमिताभ ने कौशांबी को प्रस्थान किया। वहाँ एकांत वर्षा-वास कर शरद्-ऋतु के आरंभ में उन्होंने राजगृह को प्रस्थान किया।

श्रेष्ठी सुदत्त प्रवास से लौटकर जब आम्रपाली के प्रासाद में गया, तो उसे न पाकर अत्यंत उद्विग्न हो गया।

प्रासाद-रक्षिका ने कहा—"स्वामिनी अपनी सहोदरा की कठिन रोगावस्था के समाचार पाकर यहाँ से राजगृह को गई थीं। उनके साथ जो शरीर-रक्षक भेजे गए थे, एक सप्ताह पश्चात् उन्होंने लौटकर कहा कि मार्ग से वह न-जाने कहाँ को चली गई।"

"कहाँ को चली गई ? क्या सुदत्त ने उनमें जो शील, स्नेह और अनुरक्ति पाई थी, वह सब एक प्रवंचना थी। मैंने वारांगना समझकर भी जो उनके साथ एक कुलवती नारी की भाँति अग्नि को साक्षी कर विवाह किया था, क्या वह एक भूल थी ?"

"इस निश्चय पर नहीं आना चाहिए आपको। ऐसा भी संभव है, कोई उनको बहका कर ले गया हो।"

"क्या मेरे निर्माण किए हुए इन प्रासादों, इन उपवनों, इन सुख और विलास के साधनों के अतिरिक्त भी उनकी आकांक्षा के लिये कुछ और शेष रह गया था जगत् में ?"

"मैं नहीं समझती। उनके पहले जीवन में जो कुछ भी हो, मैं नहीं जानती। जब से वह आपके प्रासाद में आई हैं, हमने सदैव ही उन्हें सुख-भोग के प्रति उदासीन ही पाया था। निस्संदेह कोई इच्छा के विरुद्ध उनका अपहरण कर ले गया है।"

"वह अपने साथ क्या-क्या वस्तु ले गई ?"

"कुछ भी नहीं। मार्ग में तस्करों के भय से वह अपने अंग पर के आभूषणों को भी खोलकर यहीं रख गई। केवल सौभाग्य के कुछ चिह्न ही उनके पास रह गए थे।"

श्रेष्ठी सुदत्त आम्रपाली से अत्यंत स्नेह करता था। उसके रूप का इतना नहीं, जितना वह उसके शील का उपासक था। आम्रपाली भी सुदत्त से बहुत प्रेम करती थी। संपत्ति के लिये नहीं, पर सुदत्त की उस उदारता के लिये जिससे प्रेरित होकर वह श्रेष्ठी परोपकार के लिये जल की भाँति अपने कोष को बहाता रहता था।

श्रेष्ठी सुदत्त आम्रपाली को खोकर बहुत विकल हो गया। उसने यथाशीघ्र राजगृह की यात्रा की। वह आम्रपाली की सहोदरा के पास गया, उससे पूछा—"आम्रपाली कहाँ है ?'

देवदत्त ने उसे क्रय कर लिया था, वह बोली—"मैं नहीं जानती कहाँ है।"

वह तुम्हारी ही रुग्णावस्था का समाचार सुनकर यहाँ आई थीं। तुमने उन्हें बुला भेजा था।"

मैं पिछले कई वर्षों से रोगग्रस्त नहीं हुई। मैंने उन्हें बुलाने के लिये किसी को नहीं भेजा। जान पड़ता है, किसी ने यह षड्यंत्र रचा है?"

सुदत्त निराश होकर श्रावस्ती लौट रहा था। उसके हृदय में संसार और उसके संबंधों के प्रति बड़ा दृढ़ वैराग्य छा गया था। इसी समय उसने बुद्ध के राजगृह-निवास का समाचार सुना। महाराज बिंबिसार की रानी क्षेमा ने उसी दिन संसार त्यागकर भिक्षुणी-संघ में प्रवेश किया था। सुदत्त ने विचार किया—"इतनी बड़ी महारानी जिसके उपदेश सुनकर तृणवत् सुख-विलास का त्यागकर देती है, अवश्य ही उसके माहात्म्य होगा। मुझे उसके दर्शन कर ही लौटना चाहिए।

सुदत्त अमिताभ के आश्रम में गया। महाराज उस समय उपदेश दे रहे थे। वह भी उनके निकट एक ओर दर्शकों के बीच में बैठ गया। उस तन्मयता में वह अपने और अपने दुःख दोनो को भूल गया।

उपदेश की समाप्ति पर लोग चले गए, तब भी सुदत्त वहीं पर बैठा रह गया। उसने अपने मन में सोचा—'यह मनुष्य तेजस्वी है, इसमें संदेह नहीं, इनका-मेरा कोई परिचय नहीं, न इनके शिष्यों और दर्शकों में ही कोई मेरा परिचित मिला मुझे। लोग इन्हें परमसिद्ध और सम्यग्दर्शी कह रहे हैं। यदि यह इस समय मुझे मेरा नाम लेकर पुकारें, तो मैं समझूँ कि यह अवतारी पुरुष हैं।"

अमिताभ ध्यान में निमग्न बैठे थे। सुदत्त के साथ और भी दो-चार मनुष्य उनके आसन के नीचे स्थित थे।

अचानक अमिताभ ने आँखें खोलकर पुकारा—"श्रेष्ठी सुदत्त !"

श्रेष्ठी सुदत्त आश्चर्य के सागर में डूब गया। श्रद्धा और भक्ति के अतिरेक में अमिताभ के चरणों पर उसने अपना मस्तक रख दिया ?

सब छाया है सुदत्त, उसे सत्य समझने ही से तुम्हारे मन में दुःख का उदय हुआ है।"

हे परम तेजस्वी अमिताभ, आपने मेरा नाम कैसे जान लिया ?"

"ध्यान के कारण, ध्यान समस्त लोक और कालों को वेध देता है। उसकी गति का कोई बाधक नहीं।"

"आम्रपाली कहाँ है ? जीवित है या मृत ?"

तुम मुझे ज्योतिषी समझ रहे हो श्रेष्ठी। मैं नहीं जानता आम्रपाली कौन है, कहाँ है। मेरे मन में जीवन और मृत्यु का कोई भेद नहीं है, इसी से मैंने तत्त्व को पाया है। तुम्हें उसकी क्यों इतनी चिंता हो गई। उसका अनुसरण तुम्हें कदापि शांति नहीं दे सकता ! मैं दूँगा तुम्हें शांति।"

"मैं आपकी शरण हूँ। मुझे शांति दीजिए।"

अमिताभ ने उसे अपने नवीन धर्म के तत्त्व समझाए। श्रेष्ठी गृही हो गया। उसने बुद्ध को संघ-सहित श्रावस्ती आने का सानुरोध निमंत्रण दिया, वह आम्रपाली का अनुसंधान छोड़कर श्रावस्ती लौट गया।

श्रावस्ती लौटकर वह और भी उदारता से अपने धन का सद्व्यय करने लगा। लोगों ने उसे अनाथपिंडक नाम से प्रसिद्ध कर दिया।

१८. ब्राह्मण की कन्या

चंपा के राजप्रासाद के द्वार पर पहुँचकर देवदत्त ने रथ रोक दिया, पर आम्रपाली किसी प्रकार रथ से उतरने को सम्मत न हुई।

देवदत्त ने उसका हाथ पकड़कर उसे रथ से नीचे खींच लिया। "अब तुम्हारी इच्छा-नामक कोई वस्तु नहीं है यहाँ इस दुर्ग के भीतर।"

"हाथ छोड़ दो देवदत्त! तुम्हें धर्म का भय नहीं? तुम्हें एक स्त्री के शील का हरण करते लज्जा नहीं?" कहकर आम्रपाली ने अपना हाथ खींच लिया।

सुवर्ण के खंडों को दिखाकर हमने तुम्हें रात-रात-भर नचाया है। सुख और संपत्ति की अंक-शायिनी! क्या तुम्हारे भी शील है? यह सब श्रेष्ठी सुदत्त-जैसे मूर्खों को बहकाने की बातें हैं।"

"क्या एक की परायणता और सच्चे हृदय के प्रेम से फिर शील का निर्माण नहीं हो सकता? मैंने किया है निर्माण उसका। अच्छा न होगा देवदत्त, अग्नि की प्रज्वलित शिखा में हाथ न दो।" आम्रपाली बोली।

"धन्य हो सती के तेज! पर हम तो महाराज के सेवक हैं। हमें उनकी सेवा में तुम्हें ले जाने की आज्ञा है। उन्हीं को तुम अपने शील की शक्ति दिखाना।"

आम्रपाली बल-पूर्वक अजातशत्रु के सामने ले जाई गई। उसने हाथ जोड़कर बड़ी दीनता के साथ कहा—"हे महाराज! मग-

मूत्र, थूक-श्लेष्मा, रक्त-हाड़ की गठरी इस त्वचा पर आपका यह मोह-अज्ञान है। फिर दूसरे की नारी, वह तो समाज और धर्म दोनो के ही नियम से परिहार्य है।"

"स्वर-गीतों के स्थान में यह उपदेश की शुष्कता भी तुम्हारे अधरों पर कुछ कम सुंदर नहीं है। तुम, दूसरे की नारी ! एक अप्रतिम सत्य ! तुम्हारे नवीन यौवन के पुष्प-बासर क्या अजात की संगति में नहीं व्यतीत हुए हैं ? उसे तुम्हें परनारी समझना चाहिए या मुझे ? आम्रपाली ! तुम्हारे रूप में मेरे लिये एक अद्भुत आकर्षण है। तुम्हारे अदर्शन की इस इतनी बड़ी अवधि में अजातशत्रु मृतप्राय-सा ही था। तुम मेरी हो, केवल विलास के लिये ही नहीं, उत्साह, पौरुष, साधना और विजय के लिये भी। तुम्हें देखे बिना मैं अपनी आकांक्षा तथा स्वप्नों को वास्तव जगत में अंकित नहीं कर सकता। समस्त आर्यावर्त मेरे राज-दंड पर विनत होना चाहता है, मैं सारे भूमंडल को अपनी सेना के पदाघातों से प्रकंपित कर दूँगा। सच्चा इतिहास-लेखक उस साहस और शौर्य के मूल में तुम्हारा नाम प्रकट करेगा।' अजातशत्रु अपने बाहुपाश में आम्रपाली को भरने लगा।

बड़े तीक्ष्ण अंतरात्मा के दंश से आम्रपाली रुदन करने लगी—"मैं श्रेष्ठी से विवाह की पवित्र प्रतिज्ञा में संबद्ध हुई हूँ।" वह अपने को अजात के स्पर्श से बचाने के लिये उस रुद्ध कक्ष में अकेली एक कोने से दूसरे कोने में भागने लगी।"

"तुमने एक दिन क्या मुझसे प्रतिज्ञा नहीं की थी कि तुम मुझे छोड़कर अब इस जीवन में किसी से भी अनुराग न करोगी।"

"वह एक घृणित जीवन की प्रतिज्ञा थी, तब वाचा का मन के साथ कोई संबंध नहीं समझा था। फिर लोक प्रचलित किसी रीति और विधान से वह संपन्न नहीं हुआ। वे शत-शत बाहुपाश

आम्रपाली की परिक्रमा करते थे। और उसे सभी से यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह उन्हें छोड़कर और किसी से भी प्रेम न करेगी। इसी चाटुकारी, वंचकता और कृत्रिमता से ऊब उठी मैं कुछ ही दिनों में। इस ज्वाला-भरे जीवन से घृणा हो गई मुझे, एकांत प्रिय हो गया मुझे। वैशाली के आम्रवन में ही जीवन का अधिकांश व्यतीत कर रही हूँ। अपना छोटा-सा जगत् बनाया है मैंने। उसे छिन्न-भिन्न न करो। महाराज, मुझ पर दया करो।"

निशा की स्तब्धता में राजप्रासाद परिवेष्टित था। प्रकोष्ठ में सुगंधि-तैल के दीपक चुपचाप अपनी ज्योति विकीर्ण कर रहे थे। आम्रपाली कठोर हृदय व्याध के चंगुल में फँसी हुई मृगी के समान विवश हो रही थी। प्रभात-समय से उसने कुछ भी खाया नहीं था, जिस कारण उसकी विवशता और भी अधिक हो गई थी।

आम्रपाली के प्राण-पण से विरोध करने पर भी अजातशत्रु ने उसे अपने बलिष्ठ बाहुपाश में बद्ध कर लिया। मानसिक आवेश के कारण आम्रपाली ने एक दीपक की शिखा पर अपना जूड़ा खोलकर रख दिया, बाल जल उठे। उसके प्रेमी ने आग बुझा दी। वह अचेत हो गई!

अजातशत्रु ने घबराकर उसे झकझोरा।

आम्रपाली न चेती।

"आम्रपाली! आम्रपाली!"

आम्रपाली निस्तब्ध थी। सिर के बाल प्रायः जल चुके थे, मुख भी झुलस गया था।

अजातशत्रु ने चिंताकुल होकर उसे शय्या पर रख दिया, और देवदत्त को पुकारते हुए कक्ष खोलकर बाहर चला गया। मद की व्यापकता या चिंता की मग्नता के कारण वह द्वार खुला ही रह गया।

अजातशत्रु की एक नवीन रानी का प्रकोष्ठ निकट ही था, वह उसके अत्याचार को बड़े मनोयोग से सुन रही थी। आम्रपाली की ओर उसकी सम वेदना खिंच रही थी बड़ी देर से। उसका उद्धार करना निश्चित कर चुकी थी वह। अवसर पाते ही वह आम्रपाली को अचेनावस्था में ही निकाल ले गई। एक दासी की सहायता से उसने उसे चेतना दी। आम्रपाली उसी समय अपने शील की रक्षा करने के लिये निकल भागने को उद्यत हो गई, अकेले ही। उसको अग्नि-दाह की भी कोई चिंता न रही। आकृति उसकी बड़ी विवर्ण और कुरूप हो गई थी। रानी ने एक दासी को सहचारिणी कर दिया पाथेय के साथ।

आम्रपाली निकल चली अंगदेश के बाहर। उसकी उत्कट इच्छा ने बड़ी वीरता के साथ मार्ग के श्रम और तम को जीत लिया।

अजातशत्रु को देवदत्त के पास आने-जाने में बड़ी देर लग गई। जब वह लौटा, तो आम्रपाली से रिक्त कक्ष को पाकर उसके क्रोध का अंत न रहा। उसने चारो ओर खोज की और निष्फल ही रहा। अंत में यह कल्पना कर ली गई कि अग्नि से दग्ध आम्रपाली पीड़ा से व्याकुल होकर किसी कूप में कूद पड़ी है या वन में किसी पशु के दाँतों और पंजों में विलीन हो गई है।

स्थान-स्थान पर धर्म के चक्र को चलाते हुए अमिताभ को अनाथपिंडक ने दूत भेजकर अपने निमंत्रण का स्मरण दिलाया। वह श्रावस्ती को चले।

श्रावस्ती में अनाथपिंडक ने राजकुमार जेत का सुरम्य-वन उसके धरातल पर स्वर्ण-मुद्राओं से पाटकर क्रय किया था। अनाथपिंडक ने वह जेतवन अमिताभ और उनके संघ को प्रदान कर दिया।

जेतवन अमिताभ का परम प्रिय विहार बना। उन्होंने वहाँ

अनेक वर्षा-वास व्यतीत किए। त्रिपिटकों के मूल-सूत्रों ने वहीं स्वरूप धारण किया।

जेतवन में धर्म की नवीन व्याख्या करते हुए अमिताभ को कुछ दिन हो गए। वैदिक कर्म-कांडियों ने उस नवीन धर्म को अपना प्रबल शत्रु समझा। वे प्राण-पण से उसका विरोध करने लगे, पर उनकी कुछ भी न चली।

अंत में उन्होंने अमिताभ की प्रतिष्ठा को कलंकित करने के लिये बड़ा नीच मार्ग पकड़ा। उन्होंने चिंता-नामक एक भ्रष्टा नारी को धन का लालच देकर अपने वश में किया। रात्रि के समय जब जन-समुदाय बुद्ध के उपदेश सुनकर घर को लौटता, तब चिंता उनके संघ की ओर जाती और प्रभात-समय जब लोग उनके दर्शनों के लिये जाते, तब चिंता मुक्त कुंतल और सिलवट पड़े हुए परिच्छद लिए हुए संघ से लौटती हुई दर्शनार्थियों को मार्ग में मिलती।

धीरे-धीरे कुछ महीने के पश्चात् चिंता ने जनता में यह प्रचार करना आरंभ कर दिया कि वह बुद्ध के द्वारा समस्वा हो गई है। एक दिन संघ की भरी सभा में बुद्ध के सामने ज्यों ही यह कहना आरंभ किया, त्यों ही उसके पेट पर बँधा हुआ कपड़ा शिथिल होकर भूमि पर गिर पड़ा और उसका कपट खुल गया! भगवान् की लीला!

चिंता लज्जा से मर-मिट गई। उसे घोर पश्चात्ताप हुआ। उसने पाखंडियों के षड्यंत्र का उद्‌घाटन किया और अमिताभ के चरणों में गिरकर क्षमा-याचना की। अमिताभ ने उसे धर्म की शरण देकर उसके जीवन का ताप हरण कर लिया।

श्रावस्ती से बुद्ध ने वत्सराज्य की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में प्रत्येक व्यक्ति को अपने उपदेशों से जगाना उनका मुख्य कर्तव्य था।

मार्ग में मार्गप्रिय-नामक एक ब्राह्मण ने उनको देखा, उनका भव्य-स्वरूप देखकर वह उनके निकट आया, उसने उन्हें गुरु के समीप से शिक्षा-दीक्षा पूर्ण कर घर को लौटता हुआ कोई ब्रह्मचारी समझा। उसने पूछा—"हे ब्रह्मचारी ! तुमने गुरु के निकट किस विद्या की परिपूर्णता उपलब्ध की है।"

"संसार-व्यापी अज्ञान और अंधकार के नाश करने की, मैं जीवों की चिंता मिटाने और उनके दुःख के उपशम के लिये फिर रहा हूँ।"

"तुम मेरी भी चिंता मिटाकर मेरे दुःख का नाश कर दोगे, ऐसा विश्वास है मुझे।"

"विश्वास सदैव ही फलदाता है।"

"मैं तुम्हें अपनी कुटी पर चलने के लिये आग्रह करूँगा। आज तुम मेरा आतिथ्य ग्रहण कर मेरे दुःख का हरण करो।"

अमिताभ सम्मत होकर उसकी कुटी पर गए शिष्य-मंडली को वहीं छोड़कर।"

कुटी पर पहुँचकर ब्राह्मण ने अमिताभ को अर्घ्य और आसन दिया। कुछ फल-फूल और जल उनके सेवन के लिये समीप रक्खे। हाथ जोड़कर वह खड़ा हो गया और बोला—"हे तेजस्वी महानुभाव ! तुम मेरी चिंता का हरण करो।"

"हे ब्राह्मण ! जगत् का यह समस्त सुख एक कल्पित वस्तु है, नाशवान् है। इसकी आकांक्षा ही चिंता का मूल है।"

"मैं जगत् की किसी भी वस्तु का लोभ नहीं करता।"

"तुम्हें धन्य है ब्राह्मण। तुम मुक्ति के मार्ग से दूर नहीं हो तब।"

"मैं घोर बंधन में हूँ। तुम काट सकते हो मेरे गले की फाँसी। कहकर उसने पुकारा—"मार्गंधी !"

एक परम रूपवती षोडशी ने लज्जा-विनत होकर मंद-मंद पगों से प्रवेश किया वहाँ पर और चुपचाप खड़ी हो गई।

मागंधिय बोला—"यह रूप-गुण संपन्ना मेरी कन्या मागंधी है। इसका विवाह कर मैं अपने कर्तव्य-भार से मुक्त होना चाहता हूँ।"

अमिताभ के मुख पर मंद मुसकान प्रकटी।

"यह मातृ-हीना है अवश्य, पर तुम्हें यह न समझना चाहिए, यह गृहस्थ के किसी काम में दक्ष नहीं है। तुम इसके योग्य पात्र हो, इसका वरण कर ले जाओ। यह अनति काल में ही सिद्ध कर देगी, यह तुम्हारे अनुकूल पात्री है।"

अमिताभ उठ खड़े हो गए—"मैं अमिताभ बुद्ध हूँ। मैं अजन्मा हूँ, मैं बढ़ता भी नहीं हूँ, मेरा विवाह भी नहीं होता, मेरी मृत्यु भी नहीं है। तुम्हें मेरे समझने में भूल हुई है। मैं किसी कन्या का पाणि-प्रार्थी नहीं हूँ।" वह पैर बढ़ाकर चल दिए।

ब्राह्मण मूक-विस्मित देखता ही रह गया!

मागंधी भी देखती रह गई। उसने पहचाना एक सौंदर्य-शालिनी षोडशी का अपमान कर जाते हुए उस मनुष्य को। उसने हाथों की मुट्ठियाँ बाँधकर मन में प्रतिज्ञा की—"इसने मेरे रूप का जो अपमान किया है, उसे मैं न भूलूँ। हे भगवान्, मुझे अवसर देना कि मैं उसकी पूरी-पूरी प्रतिहिंसा ले सकूँ।"

संयोग-वश कुछ ही दिनों में वहाँ वत्सदेशाधिपति उदयन आ पहुँचे। उन्होंने वहाँ मागंधी को देखा और उसके रूप के मोह में पड़ गए। मागंधी राजा के वरण के लिये लालायित हो उठी और मागंधिय को उसे उदयन को समर्पित करना पड़ा।

भ्रमण करते हुए अमिताभ कौशांबी जा पहुँचे। चारों ओर उनकी कीर्ति फैल गई। लोगों के समूह उनके पास आ-आकर नवीन धर्म में दीक्षित होने लगे।

मागंधी ने वत्सराज के अंतःपुर में प्रवेश कर प्रधान रानियों की श्रेणी में स्थान पाया। पद्मावती उदयन की एक दूसरी रानी का नाम था! वह कुल में श्रेष्ठ, शील में अतुलनीय और गुणों में असाधारण थी। महाराज का उस पर अनन्य प्रेम था। मागंधी को कुछ दिन पश्चात् ही यह असह्य हो उठा। वह भीतर-ही-भीतर पद्मावती से जलने लगी।

अमिताभ के कौशांबी-प्रवेश का समाचार महाराज के अंतःपुर में पहुँचा। राजसभा में बहुत पहले ही सुना जा चुका था। आरंभ में महाराज उदयन ने कोई ध्यान नहीं दिया।

महारानी पद्मावती की उद्यान-बाला उस दिन उसके प्रासाद की सज्जा के लिये फूलों में अधिकांश कलियाँ तोड़कर ले चली।

पद्मावती बोली—"मालिन क्या हो गया तुझे? ऐसे लोकांतरित-ध्यान क्यों हो गई तू? कौन चिंता आकर तेरे मन में निवास करने लगी। सच बता, क्या तू किसी के प्रेम में पगली हो गई है, जो आधी से अधिक कलियाँ तोड़ लाकर रख दीं तूने मेरे प्रासाद में!"

"भूल हो गई महारानी! नगर में एक महात्मा आए हैं, उनका नाम अमिताभ है। जब से मैंने उनके दर्शन किए हैं, मेरे मन की भावना ही कुछ दूसरे प्रकार की हो गई है।"

"मेरे मन में भी उनके दर्शन की लालसा जाग उठी है। उनके आश्रम तक जा नहीं सकती मैं बिना महाराज की आज्ञा के। यहीं नहीं बुला ला सकती तू उन्हें एक दिन।"

"आपके प्रासाद के समीपवर्ती मार्ग से ही तो वह नित्य नगर में भिक्षा के लिये जाते हैं, पर उस मार्ग में कोई वातायन है नहीं तुम्हारे भवन से।"

"मैं छिद्र बना लूँगी उस प्राचीर में।"

पद्मावती अपने प्रकोष्ठ के प्राचीर में छिद्र बनाकर नित्य अमिताभ के दर्शन करने लगी। एक दिन मागंधी ने भी जब उस छिद्र से बुद्ध को देखा, तो उसने उन्हें पहचान लिया। उसे अपना अपमान स्मरण हुआ और उसकी प्रतिहिंसा जाग उठी। मागंधी ने एक ही आघात से अपने मार्ग के दो काँटों को चूर्ण कर देने का उपाय सोच ही तो लिया।

वह चुपचाप वत्सराज उदयन के पास गई और जाकर उनके कान में कहा—"यह मागंधी गुप्त रूप से आपके नगर में आए हुए इस संन्यासी पर प्रेम करती है। उसने उसको नित्य देखने के लिये अपने कक्ष में एक छिद्र बनाया है।"

मागंधी ने एक दिन वह छिद्र महाराज को दिखा भी दिया। उदयन के मन में संशय की रेखा गहरी पड़ने लगी, और मागंधी चुपचाप सफल-मनोरथ होने की आशा में नित्य नई रीति से महाराज के कान भरने लगी। रात-दिन कुचक्रों की रचना में लगी रहती थी।

महाराज उदयन को वीणा बजाने की विशेष अभिरुचि थी। मागंधी ने एक दिन एक विषधर सर्प मँगाकर उनकी वीणा में रख दिया और यह सिद्ध कर दिया, उसे पद्मावती ने रक्खा है।

यह देखकर महाराज की उत्तेजना यहाँ तक बढ़ी कि वह धनुष-बाण लेकर पद्मावती के वध के लिये उद्यत हो गए।

पद्मावती अपने कक्ष के छिद्र से उस समय बाहर मार्ग में जाते हुए अमिताभ के दर्शन कर रही थी। उदयन ने बाण छोड़ दिया। हठात् मागंधी के क्रंदन ने उन्हें उधर आकर्षित कर लिया।

मागंधी को उस सर्प ने डस लिया। मरते हुए उसने अपना पाप स्वीकार किया। पद्मावती बच गई। बाण लक्ष्य-भ्रष्ट हो उस छिद्र के मार्ग से बाहर चला गया और वृक्ष में उलझकर अमिताभ के चरणों पर गिर पड़ा।

अमिताभ ने उस तीर को उठाया, उसमें महाराज उदयन का नाम पढ़ा। वह सीधे राजभवन को चले, और महाराज के निकट गए। किसी ने उनका मार्ग रोका नहीं।

पद्मावती की बहुत दिनों की आशा पूर्ण हुई। वह अमिताभ की शरण को प्राप्त हुई। वत्सराज उदयन को अमिताभ की सौम्य मूर्ति ने प्रभावित किया। उसने उनका अतिथि-सत्कार किया, और समस्त प्रासाद ने समवेत होकर उनके उपदेश सुने। महाराज उस नवीन विश्व-प्रेममय धर्म की छाया में प्रणत हुए।

१६. पितृहंता

आम्रपाली मार्ग में अनेक कष्टों को सहती हुई पैदल ही श्रावस्ती जा पहुँची अनाथपिंडक के पास। अनाथपिंडक उसे पहले पहचान ही न सका। आम्रपाली ने उसके चरणों पर सिर रखकर कहा—"मैं आम्रपाली हूँ। मुझे अजातशत्रु के अनुचर छल-प्रपंच से बहका ले गए। आपके निकट मैं अपराधिनी और पतिता हूँ, मुझे क्षमा करो।"

"आम्रपाली! इस विश्व-सृष्टि में कोई भी पतित नहीं। उसने पश्चात्ताप के विमल जल से सबके पापों को धो दिया है। वह जेतवन में विराजमान है। उसके दर्शन में पवित्रता, स्पर्श में पापों से परित्राण, उसकी वाणी में अमृत और उसके उपदेशों के अनुकरण में परमपद निर्वाण है। चलो, मैं तुम्हें उसके निकट ले चलूँगा।"

"अमिताभ बुद्ध? हाँ, मैं केवल-मात्र उन्हीं की आशा पर जी रही हूँ।"

"मैं अपना जीवन और सर्वस्व, सब कुछ संघ को भेंट कर चुका हूँ। केवल तुम शेष थीं, चलो, तुम्हें भी उस परम शांति-दायक शरण में समर्पित कर दूँगा।"

अमिताभ की शरण में जाकर आम्रपाली पाप-ताप से मुक्त हो गई। उसने बुद्ध के उपदेशों का अनुसरण करने के लिये जगत् के समस्त बंधनों को छिन्न कर लिया।

श्रावस्ती से एक दिन अमिताभ धर्म का बीज बोते हुए राजगृह को जा रहे थे। मार्ग में कपिलवस्तु, अपनी जन्म-भूमि, के दर्शन

को भी गए। उनकी जाति का एक दुर्बल राजा वहाँ नाममात्र का शासन-सूत्र सँभाले हुए था।

अमिताभ ने देखा, श्री और समृद्धि से परिपूर्ण वह राजनगरी सूनी पड़ी थी।

उनका शिष्य आनंद बोला—"आचार्य, क्या देखना है इस कपिलवस्तु को। मुझे तो इसके अतीत चित्र की इस दशा के साथ तुलना करने से बड़ा कष्ट हो रहा है। ये खँडहर भी अब कुछ दिनों में धूलि में मिलकर अंतर्धान हो जायँगे।"

"उत्थान ही पतन है आनंद, फिर भी यह न समझो, कपिलवस्तु भूमिसात् हो गई। इस कपिलवस्तु ने ही बढ़कर सारे आर्यावर्त को ढक लिया है।"

उस शेष राजा के पास जाकर बुद्ध ने कहा—"हे शाक्य-वंश के वर्तमान महाराज! तुमने यहाँ जो यह सुख की साज-सज्जा एकत्र कर रक्खी है, क्या वास्तव में तुम्हें उसका अनुभव भी हो रहा है?"

अमिताभ को पहचानकर शाक्य राजा सिंहासन से उतर आया, और उनके चरणों पर गिर पड़ा।

अमिताभ बोले—"हे राजन्! मन से बढ़कर श्रेष्ठ और विस्तृत राज्य संसार में दूसरा कोई नहीं। इस पर राज्य कर सको, तो तुम चक्रवर्ती सम्राट् से भी तुलना में उच्च हो जाओगे। फिर तुम्हें किसी सुख की चाहना न रहेगी। फिर तुम किसी दिग्विजय के लिये व्याकुल न रहोगे।"

अमिताभ ने उस अंतिम राजा के मन में भी वैराग्य उपजा दिया। उसे भी शिष्य बनाकर अपने संघ में सम्मिलित कर लिया।

मार्ग में जाते हुए वन में बुद्ध को जाल में फँसा हुआ एक मृग दिखाई दिया। अमिताभ ने उसके बंधन खोल दिए। मृग ने बड़ी करुणा-भरी दृष्टि से उन्हें देखा, और वन में भागकर छिप गया।

उसी समय व्याध आ पहुँचा। अत्यंत क्रुद्ध होकर उसने कहा—"अरे निर्दयी मनुष्य, तुझे दया नहीं? यह मृग मेरे और मेरे परिवार का आधार था। आज हम अब क्या खायँगे?"

"तू धरती-माता की दया पर जीवित न रहकर निरीह और रसना-विहीन पशुओं के जीवन पर जीता है। हे व्याध! तू उदारता सीख। सत्य को पहचान। जैसे यह मृग तेरे जाल में फँसा था, ऐसे ही तू भी इंद्रियों की कामना के डोरों में बँधा हुआ है, और काल-रूपी महा-व्याध किसी समय तुझे भी निगल जायगा। मैंने जैसे इस मृग को मुक्त किया है, ऐसे ही तेरे बंधन भी खोल दूँगा।"

व्याध चकित होकर उन्हें देखने लगा।

अमिताभ ने प्रेम से भरी दृष्टि उसके सिर से पैर तक निक्षिप्त की—"संशय छोड़ दे व्याध! विश्वास कर। मैं वसुंधरा पर का वैर मिटाकर उसे अहिंसा और प्रेम से आबद्ध करने आया हूँ।"

व्याध को शरणागति मिली। वह अपने धनुष-बाण फेंककर, अहिंसा का व्रती होकर अपने घर चला गया।

अमिताभ राजगृह पहुँचे। उधर अंगदेश की प्रजा अजातशत्रु और देवदत्त के अत्याचारों से पीड़ित हो उठी, तथा उसका राजकोष उनकी लालसाओं की पूर्ति करने में अपर्याप्त हो उठा।

देवदत्त ने कहा—"तुम मगध के भावी सम्राट् हो। राजा वृद्ध और नास्तिक हो गया है। उसे सिंहासन-च्युत कर देना कोई अधर्म नहीं। चलो, तुम उसे बंदी कर मगध के सम्राट् बनोगे, और मैं सिद्धार्थ का वध कर अमिताभ बनूँगा।"

अजात के मुख पर प्रसन्नता दिखाई दी।

देवदत्त ने फिर कहा—"तुम्हें शीघ्रता-से-शीघ्रता करनी उचित है। महाराज के मन में अनीति है, इसी से वह अपने छोटे पुत्र को

मगध का राजमुकुट देना चाहते हैं। तुम जो यह अंगदेश के पति बनाए गए हो, यह तुम्हारा राजतिलक नहीं, निर्वासन है।"

"तुम्हारी बातों से मेरा रक्त उबल पड़ता है।"

"पर वे सत्य हैं, मेरा कोई स्वार्थ नहीं। राजनीति की कूट चालों और चाटुकारों के बहकावे में मेरे मित्र का जन्मजात स्वत्व छिन न जाय, यही चाहता हूँ मैं।"

"तो चलो, हम शीघ्र-से-शीघ्र मगध पर चढ़ाई कर दें।"

"यह क्रोध का आवेश है, जिसका परिणाम अपनी दुर्बलता का प्रदर्शन होगा। इसे दबाकर नीति से काम लो। पुत्र होकर मगध के राजमंदिर में प्रवेश करो, महाराज को बंदी बना उनके शत्रु होकर राजमहल के बाहर निकलो।"

"क्या मगध की प्रजा चुपचाप इसे सहन कर लेगी ?"

"प्रजा बली और विजयी का साथ देती है। मंत्रियों का भगवान् धन और प्रभुता है।"

"पर अमिताभ का विरोध अब नहीं पनप रहा है मगध में।"

"हम एक बड़ी सेना एकत्र कर लेंगे यहाँ, रौप्य के वेतन और सुनहरी आशाओं में बाँधकर। राजगृह के बाहर उसे छिपा जायँगे। आवश्यकता पड़ने पर वह हमारी सहायता को दौड़ी आयेगी।"

अच्छेद्य षड्यंत्र की रचना कर अजातशत्रु ने श्रावस्ती-आक्रमण का बहाना किया। दल-बल-सहित उन्होंने राजगृह में प्रवेश किया, और छल-पूर्वक वृद्ध राजा को बंदी कर लिया। प्रजा में घोर अराजकता फूट पड़ी, जिसे अजातशत्रु, देवदत्त और उनके सहायक शीघ्र ही शांत कर लेने में समर्थ हो गए।

अजातशत्रु को मगध के सिंहासन पर बिठा दिया गया। अब देवदत्त अपनी इच्छा की पूर्ति के प्रयत्न में लगा। उसने एक हाथी को

मदिरा पिलाकर उन्मत्त कराया, और उसे संघ के भीतर छुड़वा दिया।

हाथी चारों ओर उत्पात करने लगा। शिष्यगण त्रस्त होकर इधर-उधर भागने लगे। अमिताभ ने उस पशु को देखा, जो हिंसा में भरा हुआ उनकी ओर दौड़ा आ रहा था।

अमिताभ विचलित न हुए तिल-भर भी। अपने आसन में अचल, मुद्रा में अडिग और भाव में अविकृत ही रहे वह।

उनके शिष्य काश्यप और आनंद चिल्लाए एक वृक्ष की ओट से—"गुरुदेव! रक्षा कीजिए।"

अमिताभ ने हँसकर कहा—"हमारे मन की हिंसा के कारण ही बाह्य जगत् में हिंसा का भय है। काश्यप! मन को निर्भय करो, आनंद! मन को प्रेम के उदार भाव से शुद्ध करो। यह तो गाय के समान शांत और सौम्य हो गया!"

शिष्यों ने देखा, अमिताभ की दृष्टि पड़ते ही उस मदोन्मत्त हाथी का सारा क्रोध उड़ गया। उसने घुटने टेककर उनके चरणों पर अपना मस्तक रख दिया!

विफल-प्रयत्न होने पर देवदत्त ने तीस धनुर्धरों को अमिताभ के वध के लिये प्रचुर धन देकर क्रीत किया, और कहा—"उसके मारे जाने पर इतना ही धन तुम्हें और मिलेगा। जिसके बाण से उसकी मृत्यु होगी, इतना ही धन उसे भी और दूँगा।"

तीसों धनुर्धारी उस दया के अवतार को मारने के लिये धनुष-बाण सँभालकर चले। पर उनकी भी वही दशा हुई। ज्यों-ज्यों वे अमिताभ के आश्रम के निकट होते गए, त्यों त्यों उनके मन का भाव बदलता गया। कुछ दूर और चलने पर उन्होंने देवदत्त का दिया हुआ द्रव्य और धनुष-बाण सब दूर फेंक दिए।

बुद्ध के चरणों पर गिरकर उन्होंने अपना पाप प्रकट किया, पश्चात्ताप किया, और क्षमा माँगी। उन्हें तुरंत ही क्षमा मिल गई।

धनुर्धरों ने अपनी हिंसा-वृत्ति का सदैव के लिये त्यागकर अमिताभ की शरण ली।

बुद्ध को जब महाराज बिंबिसार के बंदी होने का समाचार मिला, तो उन्होंने अजातशत्रु के पास एक शिष्य को भेजकर यह कहलाया कि छाया के समान एक कल्पित सुख के लिये पिता को बंदी करना उचित नहीं।

अजातशत्रु बहुत कुपित हो उठा इससे। उसने प्रत्युत्तर में कहलवाया—"यदि तुम शांति-पूर्वक न बठोगे, मगधाधिपति के विरुद्ध जिह्वा खोलोगे, तो तुम राज्य के बाहर निकाल दिए जाओगे।"

अजातशत्रु ने फिर देवदत्त को बुलाकर कहा—"देवदत्त, तुम्हारा प्रतिद्वंद्वी अभी तक जीवित ही है। यह मेरे विरुद्ध भी वाणी ऊँची कर रहा है। इसकी ओषधि न करोगे क्या शीघ्र ही?"

"क्यों नहीं महाराज! मैंने कई प्रयत्न किए हैं, वे सब विफल हुए हैं। कारण मैं जानता हूँ। इस बार मैं किसी को नियुक्त न करूँगा, स्वयं ही आगे बढ़ूँगा, फिर देखता हूँ, यह अपने को अमिताभ कहनेवाला कैसे इस धरती पर साँस लेता है।"

एक दिन बुद्ध जब संघ के बाहर एक पर्वत की तलहटी से होकर जा रहे थे, देवदत्त सशस्त्र ऊपर पर्वत में छिपे-छिपे उनका अनुसरण कर रहा था। पर्वत के शिखर पर एक बहुत बड़ा पत्थर था, ठीक उसके नीचे मार्ग में बुद्ध जाने को थे। देवदत्त ने बुद्ध की गति, स्थान और पत्थर के लुढकने के समय का अनुमान कर उस विशाल शिला को नीचे गिरा दिया!

शिष्यगण चिल्ला उठे—"महाराज! ठहर जाइए, भयानक शिला आपके ऊपर गिरना ही चाहती है।"

पर वे धीर-सौम्य अमिताभ के पद विचलित नहीं हुए। वे न वेग से आगे को ही बढ़े, न संकुचित होकर पीछे को ही खिंचे।

वह शिला एक सुकुमार शिशु की भाँति उनके चरणों पर आकर रुक गई। अमिताभ हँसकर बोले—"मैं जानता हूँ, अब यही शेष चेष्टा है।"

शिष्यों ने पूछा—"कहाँ चोट लगी?" वे उनके अंग-प्रत्यंग का निरीक्षण करने लगे।

"कहीं नहीं।" अमिताभ ने सहज भाव से कहा।

शिष्यों ने देखा, उनके बाएँ पैर के अँगूठे में चोट आ गई थी। दूसरे दिन उसमें बहुत शोथ आ गया। अमिताभ चल न सके। उस दिन उनका विचार उस पितृद्रोही अजातशत्रु के नगर से कहीं अन्यत्र चले जाने का था।

आनंद राजचिकित्सक जीवक को बुला लाया। जीवक तक्षशिला के विद्यालय का स्नातक था। देश में दूर-दूर उसकी ख्याति थी।

जीवक ने अमिताभ के चरण पकड़कर कहा—"भगवान् बुद्ध को कैसी पीड़ा?"

"जन्म की पीड़ा जीवक! ये पंचभूत ही तो पीड़ा के कारण हैं। इंद्रियों तक यह पीड़ा जाने से अधिक हो जाती है, मन तक जाने में अधिकतर। यदि मन को इस पीड़ा से मुक्त रख सकें, तो कोई पीड़ा नहीं। जीवक, मुझे कोई पीड़ा नहीं, क्योंकि मैंने उत्सव में रस-विहीनता का अनुभव किया है।"

जीवक ने अमिताभ के दोनो चरण पकड़कर उन पर अपना मस्तक रख दिया—"मैं बुद्ध की शरण हूँ। मैं आपके देह की पीड़ा दूर करूँगा, आप मेरे जन्म की बाधा हरण कीजिए।"

जीवक बौद्ध धर्म ग्रहण कर अमिताभ का अनन्य भक्त हो गया। अल्प समय में ही जीवक के उपचार से अमिताभ के चरण की पीड़ा ठीक हो गई, और वह वैशाली की ओर चले गए।

पत्थर खिसकाते समय देवदत्त की कमर में एक टीस-सी उठी,

पर उसकी कोई चिंता न कर वह दौड़ा हुआ अजातशत्रु के पास जाकर बोला :-"मैं उसे समाप्त कर चुका हूँ महाराज !"

पर देवदत्त का यह अहंकार शीघ्र ही भूमि में मिलकर नष्ट हो गया !

अमिताभ के राजगृह से चले जाने के पश्चात् अजातशत्रु ने बंदीगृह में महाराज बिंबिसार का भोजन और जल दोनो बंद कर दिए। महारानी किसी प्रकार लुका-छिपाकर उनको आहार पहुँचा रही थी। अजातशत्रु ने महारानी का प्रवेश भी वहाँ बंद कर दिया।

पिता को बंदी करनेवाला राजकाज, विषय भोग और निकटवर्ती राजाओं के साथ संधि विग्रह में भूला रह गया। एक दिन दासी ने आकर उससे सविनय कहा—"महाराज, बड़ी महारानी के पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ है।"

अजातशत्रु मानो स्वप्न से जाग उठा। उसके हर्ष की सीमा न रही। उसने बहुमूल्य रत्नहार उतारकर दासी को दे दिया—"ले दासी ! इस हर्ष-समाचार के लिये तेरा उपहार। यह मेरी प्रसन्नता का परिचायक है। क्या किसी और को भी ऐसी प्रसन्नता मिली होगी ?"

"क्यों नहीं। जिस दिन आपका जन्म हुआ होगा, उस दिन आपके पिता भी ऐसे ही हर्षित हुए होंगे।"

"पिता !" अजात ने चीत्कार छोड़ी। वह दौड़ता हुआ बंदीगृह में गया। उसने देखा, उसके पिता महाराज बिंबिसार भूमि पर पड़े हुए हैं। अजात ने उन्हें उठाकर पुकारा—"पिता !"

पुत्र की प्रेम-पुकार का उत्तर देनेवाले उस वृद्ध महाराज के अधरों से प्राण फिर न लौटने के लिये चले गए थे। अजातशत्रु सिर पीट-कर रह गया। चारों ओर एक भयानक अशांति मानो मूर्तिमती होकर उसका ग्रसन करने के लिये नाचने लगी।

असहाय होकर अजात ने देवदत्त को बुलाने के लिये दूत भेजा। दूत ने लौटकर विनय की—"महाराज, राजकुमार देवदत्त पर अर्धांग गिर चुका है, और उनकी दशा अत्यंत शोचनीय है।"

अजात ने दूत भेजकर यह खोज कराई कि अमिताभ कहाँ हैं। दूत ने आकर कहा—"महाराज, अमिताभ अनेक दिन हुए, संघ-सहित यहाँ से बिदा हो गए हैं। पास-पड़ोस में भी उनका कहीं पता नहीं है।"

वह पिता का घातक अपने पाप के बाण से विद्ध होकर इधर-उधर विचरने लगा उन्मत्त की भाँति। विलास-उत्सव, मंत्री-परिषद्, राज्य-प्रजा, इष्ट-मित्र, हय-गज, श्री-संपत्ति, दुर्ग-प्रासाद, सेना-सेवक, इनमें से कोई भी उसे शांति न दे सका!

वैशाली में अमिताभ आम्रपाली के आम्रवन में ठहरे। जब आम्रपाली ने यह सुना, तो वह अनेक दिनों की आशा-पूर्ति में आनंद-पुलकित होकर रथ पर चढ़कर उनके दर्शनों को चली। मार्ग वैशाली के लिच्छिवी राजन्य भी उनको निमंत्रित करने जा रहे थे।

आम्रपाली ने सारथी से और भी शीघ्र रथ हाँकने का अनुरोध किया। एक स्थान पर उसका रथ एक लिच्छिवी राजा के रथ से लड़ गया।

राजा बोला "हे अभिमानिनी वारवनिते! किस प्रेमिक के लिये तू यह अभिसार कर रही है, जो तेरी और तेरे रथ की दृष्टि भूमि पर नहीं है?"

आम्रपाली बोली—"हे राजन्, सचमुच ही मैं प्रेम की पगली हो गई हूँ। अनेक वर्षों से मैं जिस प्रेमिक की प्रतीक्षा कर रही थी, वह आया है आज। उसी हर्ष की उत्फुल्लता में मैं अंधी हो गई हूँ।

आज मैं उसका वह अनंत प्रेम पाऊँगी, जो जड़ और चेतन, दोनो को ग्रथित कर विश्व में व्याप्त है। जिस प्रेम में न कहीं विरह है, न मिलन।"

आम्रपाली अपने रथ में आगे बढ़ गई।

लिच्छिवी राजा अपने साथियों से कहने लगा—"यह विलासिनी आज इतने सरल और सात्विक वेश में क्या अमिताभ के पास ही तो नहीं जा रही है?"

आम्रपाली अमिताभ के दर्शन कर पवित्र हुई। उसने उन्हें संघ-सहित अपने घर निमंत्रित किया। बुद्ध ने उसे स्वीकार किया। उसी समय लिच्छिवी राजाओं ने भी उन्हें निमंत्रित किया। पर अमिताभ पहले आम्रपाली के ही यहाँ गए। आम्रपाली भिक्षुणी हो गई। उसने अपना सर्वस्व और आम्रवन संघ को दान कर दिया।

अमिताभ अनाथपिंडक के आग्रह पर श्रावस्ती को गए। वह अपना सर्वस्व अर्पण कर अमिताभ का अनन्य भक्त हो गया।

कृष्णा-नामक एक संपन्न महिला के एक ही पुत्र था, उसकी मृत्यु हो गई। पुत्र-वियोग के इस दारुण दंश से वह महिला आकाश-पाताल निनादित करने लगी अपने रुदन से। वह किसी प्रकार उस शिशु के शव को अपनी छाती से विलग करने को सम्मत न हुई। कुछ लोगों ने उससे कहा—"केवल भगवान् बुद्ध ही सर्व-शक्ति-संपन्न हैं, वही तुम्हारे पुत्र को जीवन-दान दे सकते हैं, नहीं तो कोई भी नहीं।"

कृष्णा अमिताभ को खोजती हुई उनके पास आई, और मृत पुत्र को उनके चरणों पर रखकर बोली—"हे भगवान्! इस दुःखिनी पर दया करो। मेरा यह एक ही पुत्र, मेरे जीवन का सर्वस्व, अंधी का नेत्र है, इसे जीवन-प्रदान करो।"

"हाँ कृष्णे! मैं जिला दूँगा इसे।" अमिताभ बोले—"पर एक

वस्तु चाहिए। कुछ राई के दाने, ऐसे घर से लाना, जहाँ कभी किसी की मृत्यु हुई न हो।"

"भगवान् की जय हो! मैं ले आती हूँ अभी।"

कृष्णा उस बालक को छाती से लगाकर राई के दानों की खोज में चली। वह एक द्वार से दूसरे द्वार, एक घर से दूसरे घर, एक टोले से दूसरे टोले, एक जनपद से दूसरे जनपद को अपनी करुण कथा सुनाती हुई, राई के दानों की भिक्षा माँगती हुई चली।

कोई भी घर ऐसा न निकला, जहाँ उसकी ईप्सित भिक्षा मिलती। किसी ने अपने पिता, किसी ने पति, किसी ने पुत्र, किसी ने भ्राता, किसी ने भगिनी, किसी ने माता की मृत्यु की करुण कथा उसे सुनाई। कृष्णा ने अनुभव किया, सारा जगत् अपने प्रिय के वियोग से दुखी है। उसके हृदय का भार हलका पड़ा। उसने अपनी गोद के भार को भी हलका किया। वह धीर और संतुष्ट पगों से श्मशान की ओर चली। उसने अपने मृत पुत्र का अंतिम संस्कार किया, और अमिताभ के निकट हाथ जोड़कर खड़ी हो गई।

"लाई तुम राई के दाने?" अमिताभ ने पूछा।

"हाँ देव! मुझे उससे भी अधिक मूल्यवान् वस्तु मिल गई, उसके आगे फिर राई के दानों का अनुसंधान विस्मृत हो गया।"

"क्या?"

"मृत्यु का विश्वव्यापी दंश देखा मैंने। धनी-निर्धन, राजा-रंक, अज्ञ-विज्ञ, मित्र-शत्रु, स्त्री-पुरुष, गौर-श्याम, वृद्ध-बाल, सभी के प्राणप्रियों को उसने छीन रक्खा है। मैं गृह-गृह घूमती फिरी। सभी स्थानों में मैंने उसकी कठोरता का मर्म-वेधी हाहाकार सुना। समस्त पुर और जनपदों को अपनी ही पीड़ा से प्रतिध्वनित सुनकर मेरी वेदना मिट गई। मैं अपनी खोज में राई के दाने न पा सकी, पर जो कुछ मिला, उससे उनका प्रयोजन ही फिर न रहा। मैंने मोह

छोड़कर अचिरावती के किनारे अपने हृदय के टुकड़े को विसर्जित कर दिया !"

"कृष्णे ! तू वीरांगना है ! तूने विश्वविजयिनी मृत्यु को देखा है, तू उस पर भी विजय पा सकती है।"

"कैसे ?"

"समस्त प्राणी-मात्र के लिये अपने हृदय के प्रेम को विस्तारित कर।"

"मैं उसका विस्तार करूँगी। हे अमिताभ ! मुझे शरण दो।"

२०. शत्रु को क्षमा करो

यशोधरा का पुत्र राहुल यद्यपि प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षु हो गया था, तथापि उसके शील का निर्माण नहीं हुआ था। उसे सत्य का महत्त्व ज्ञात न था, वह बहुधा असत्यवादी था। एक दिन जब राहुल एक पात्र में अमिताभ के पाद-प्रक्षालन कर रहा था, तो उन्होंने उससे पूछा—"क्या यह जल पीने योग्य है ?"

राहुल, ने कहा—"नहीं, यह धूलि और तृण से मलिन है, कदापि पीने योग्य नहीं।"

"राहुल, ऐसे ही मलिन तुम भी हो। असंयत जिह्वा ने तुम्हें मलिन कर दिया है। जिस कारण भिक्षु मंडली में तुम परिहार्य हो। तुम एक महाराज के पौत्र हो सही, तुमने यह पीत चीवर पहन रक्खा है सही, इससे क्या होता है।"

राहुल विनत मस्तक खड़ा विचार करने लगा।

"क्या इस पात्र में पीने योग्य जल नहीं भरा जा सकता ?"

"भरा जा सकता है।"

"कैसे ?"

"इसे माँजकर।"

"तुम्हें इस शरीर-रूपी पात्र को उज्ज्वल करने की आवश्यकता है। इस जिह्वा पर शासन करो। इसके दो मुख हैं। भीतर की ओर यह रस की प्यासी है, और बाहर असत्य का जाल रचती है। केवल सत्यशील हो जाने पर इसका दूसरा मुख स्वयं बंद हो जायगा। बिना सत्यशील हुए तुम्हें सम्यक् वाचा प्राप्त नहीं हो

सकती है। तुम मौन-व्रत का अवलंबन करो, इससे तुम्हारी जिह्वा शासित होगी, और तुम इस भिक्षु वेश के योग्य पात्र बनोगे।"

"मैं मौन-व्रत का पालन करूँगा।"

"अवश्य राहुल। यह मेरा अंतिम प्रवचन है तुम्हारे लिये। मैं वृद्ध हो चुका, और नहीं जानता, किस समय यह प्रदीप निर्वापित हो जाय।"

राहुल ने अमिताभ के चरणों में गिरकर वाणी को विशुद्ध करने की प्रतिज्ञा की। वह दूर एक एकांत विहार में चला गया। वहाँ उसने कुछ दिन मौन रहकर मन का संयमन किया। उसने जिह्वा पर विजय पाई। केवल एक जिह्वा के शासन से ही उसका मन बलवान् हो उठा, और शेष इंद्रियाँ स्वतः ही उसकी वशवर्तिनी हो गईं। उसकी मेधा जाग उठी और श्रेष्ठ भिक्षुओं की मंडली में उसने आदर पाया।

अचानक एक दिन अमिताभ को सारिपुत्र और मौद्गलायन की मृत्यु का समाचार मिला। वे दोनो उनके प्रधान शिष्य थे। धर्म के चक्र-प्रवर्तन और ज्ञान की ज्योति विकीर्ण करने में वे अमिताभ की भुजाओं के समान थे। इसके पश्चात् ही उन्हें महारानी प्रजावती और जीवन-संगिनी यशोधरा के प्राण-संवरण का संवाद दिया गया।

अमिताभ ने आनंद को बुलाकर कहा—"आनंद! मैं अब वृद्ध हो गया। पैंतालीस वर्ष लगातार मैंने इस ज्ञान की ज्योति को प्रसारित किया। अब यह भार तुम्हारे स्कंध पर रखता हूँ।"

आनंद शोक-विह्वल हो बोला—"नहीं, अमिताभ एक कल्प तक हमारे साथ रहें।"

"तथागत देह-धर्म की अवभावना नहीं करते।" कहकर अमिताभ ने आनंद के मोह को दूर किया।

पिता की मृत्यु के पश्चात् अजातशत्रु एक प्रकार का विक्षिप्त-सा

हो गया। मूक संकेतों में वह सारी सृष्टि की भर्त्सना सुन रहा था। एक-एक कण और एक-एक प्राणी मानो उसे लांछित कर रहा था—"हे पिता को बंदी करनेवाले! क्या तू ही उनका वधिक नहीं है?"

अजातशत्रु चारों ओर शांति को खोजने लगा। दिन में बैठे-बैठे ही वह चौंक उठता, रातों को भयंकर स्वप्नों के भय से जागते ही बिता देता। उसका चिरजीवन का सखा देवदत्त, उसकी दशा अर्धांग के कारण नरक का अभिशाप हो गई थी। उसे देखकर अजात की वेदना और भी अधिक बढ़ जाती।

एक दिन श्येन-केलि के उत्सव में जब सभी लोग अजात के मन में बसे हुए भय को भुलाने की चेष्टा कर रहे थे, वह समस्त राग-रंग से कटा हुआ एक कोने में बैठा हुआ था।

मंत्रिवर्ग इन्हें उत्सव में सम्मिलित करने के लिये उनके पास गया। वह बोले—"नहीं, इस प्रकार मेरे मन को शांति नहीं मिल रही है। कोई और उपाय बताओ, नहीं तो मुझे आत्मघात करना पड़ेगा।"

उनका राजचिकित्सक बोला—"मैं बताता हूँ आपको इसकी ओषधि।"

"नहीं जीवक, इस रोग पर तुम्हारा भी कोई वश नहीं।"

"मैं अपने वश की बात नहीं कहता। वैद्य दूसरा है।"

"कौन?" आशा में भरकर मगध का सम्राट् बोला।

"अमिताभ बुद्ध, केवल एक उन्हीं की शरण आपको शांति दे सकती है।"

"हाँ, यह समझता तो हूँ मैं, पर मैंने उनकी इच्छा के विरुद्ध पिता को बंदी किया, और अपने राज्य से बहिष्कृत कर उनका घोर अपमान किया है।"

"उनकी भावना में मान-अपमान का कोई मूल्य ही नहीं है।"

"क्या वह अपने जीवन के वैरी को क्षमा करेंगे ?"

"उनका कोई भी वैरी नहीं है, फिर क्षमा ही उनका प्रकाश है। उनकी विश्वव्यापिनी प्रेम-भावना सभी के लिये उन्मुक्त है।"

"मैं अभी उनके पास चलने को प्रस्तुत हूँ। कहाँ हैं वह ?"

"श्रावस्ती में अनाथपिंडक के जेतवन में।"

"मैं अभी वहाँ के लिये प्रस्थित होता हूँ। इस उत्सव को अभी निःशेष कर दो।"

अजातशत्रु जीवक को मार्गप्रदर्शक बनाकर रातोंरात दल-बल-सहित अमिताभ की शरण में चला।

अमिताभ सहस्रों मनुष्यों की सभा में उपदेश कर रहे थे, जिस समय अजातशत्रु वहाँ पहुँचा। एक शिष्य ने रथ और हाथियों के समुदाय के साथ आते हुए देखकर बुद्ध से कहा—"अजातशत्रु सेना लेकर न-जाने किस कुअभिप्राय से इधर आ रहा है।"

अमिताभ ने शांति के साथ कहा—"आने दो उसे। वह संघ में अपने पापों को धोने आ रहा है।"

रथ, यान और सहचर-समुदाय मंडप के बाहर ही रुक गया। जीवक अजातशत्रु का हाथ पकड़कर उसे सभा के भीतर ले गया। अमिताभ के निकट जाते हुए उसका शरीर वात-ताड़ित कदली-पत्र के समान प्रकंपित था।

जीवक ने आकर महाराज को अमिताभ के चरणों पर रक्खा—"मगध के महाराज अजातशत्रु शांति की कामना के लिये प्रणति करते हैं।"

सम्राट् ने कहा—"पिता का वध इस पापी का चरम पाप है। क्या इस नराधम को शांति मिल सकती है।"

"जिस घड़ी से मनुष्य पाप को पाप समझने लगता है, उसी क्षण से उसका पश्चात्ताप आरंभ हो जाता है। जैसे अग्नि के ताव

से सुवर्ण शुद्ध-वर्ण होकर निकलता है, ऐसे ही पश्चात्ताप के ताप में मनुष्य के सब पाप भस्म हो जाते हैं। इस पश्चात्ताप का सतत स्थिर ध्यान तुम्हारे अंधकार को प्रकाश से विलग कर देगा। स्पष्ट रूप से विभाजित होने पर उन दोनो की सहायता से तुम्हें शांति का स्थल दिखाई देगा, यही मध्यमा प्रतिपदा है। इसी संधि पर शांति का अवस्थान है। यहीं पर मन स्थिर होकर विकास को प्राप्त होता है, और निर्विकल्प समाधि मिलती है। इस पर किसी का भी अधिकार है। ब्राह्मण-चांडाल धनी-निर्धन, स्त्री-पुरुष, सभी इस पर आरूढ़ होकर, सुख और दुख के बंधनों से मुक्ति पाकर निर्वाण पद पा सकते हैं।"

"मैं आपकी शरण हूँ। मैंने आपके साथ दुर्व्यवहार किया है। मैं उसके लिये बार-बार क्षमा का प्रार्थी हूँ।" उनके चरणों में गिरकर मगध के सम्राट् ने याचना की।

"मेरे साथ कोई क्या दुर्व्यवहार कर सकता है।"

"नहीं, आप आंसुख से क्षमा-प्रदान कीजिए।"

भगवान् ने कहा—"मैंने क्षमा किया तुम्हें।"

इसी समय सभा-मंडप के बाहर से क्षीण और दयनीय कंठ से पुकार आई—"मुझे भी क्षमा करो।"

अमिताभ ने पूछा—"कौन हो तुम? इतने पश्चात्ताप से भरे हुए?"

"मैं हूँ देवदत्त। आपके जन्म का शत्रु!"

"नहीं, कोई भी मेरा शत्रु नहीं है। किसी का कोई शत्रु नहीं है। यह मिथ्या अज्ञान की भावना है।"

फिर पुकार आई—"तुम निस्संदेह अमिताभ हो। तुम्हारी प्रतिद्वंद्विता करना मेरा मूढ़ अहंकार था। मैं तुम्हारे चरणों के स्पर्श पर मरना चाहता था। पर मेरे अनंत पाप न आने देंगे इस कुकर्मी

२१. महापरिनिर्वाण

पावा में चंड-नामक एक ताम्रकार के आम्र-कानन में उन्होंने जाकर विश्राम किया। चंड को जब यह समाचार मिला, तो उसने अपने सौभाग्य की सराहना की। वह दौड़ा हुआ अमिताभ के पास आया, और शिष्य-मंडली के साथ निमंत्रित कर उन्हें अपने घर ले गया।

चंड ने भोजन में अमिताभ को शुष्क शूकर-मांस भी परोस दिया। अमिताभ भक्त की भावना को कुंठित नहीं करते थे। जो कुछ भक्त समर्पित करता था, उसे सप्रेम ग्रहण कर लेते थे।

अमिताभ ने कभी मांस-सेवन नहीं किया था, चंड के प्रेम-भाव ने उन्हें विवश किया, पर उन्होंने शिष्यों को मांस न परोसने का आदेश दिया।

बुद्ध का एक नियम यह भी था, वह भोजन के पात्र में जूठा कुछ नहीं छोड़ते थे। कठोर, शुष्क शूकर-मांस ने उनके पेट में पहुँचते ही महान् पीड़ा उत्पन्न कर दी। बुद्ध उस अस्वस्थ शरीर को लेकर ही कुशीनगर की ओर चल दिए।

मार्ग में जब वेदना असह्य हो उठी, तो उन्होंने एक वृक्ष के नीचे विश्राम किया और आनंद को बुलाकर कहा—"देखो आनंद, कोई यह न कहे कि चंड के खिलाए हुए मांस से तथागत की मृत्यु हुई। सुजाता और चंड, ये दोनो धन्य हैं! सुजाता के परोसे हुए पायस से मेरे अज्ञान का बंधन कटा, और चंड के खिलाए हुए मांस से मेरे जन्म की ग्रंथि नष्ट हुई!"

अमिताभ कुशीनगर में ही अपनी जीवन-लीला समाप्त करना चाहते थे। अतः वह रुग्णावस्था में भी छः क्रोश एक ही दिन में पैदल चले गए। कुशीनगर के मल्लों के शाल-कानन में पहुँचकर बुद्ध ने आनंद से कहा—"आनंद, बस, यहीं अब यात्रा की समाप्ति है।"

आनंद रुदन करने लगा।

"आश्चर्य है आनंद! जन्म का ध्रुव मृत्यु है, और मिलन का ध्रुव बिछोह। यही अटल सत्य है। तुम तथागत के प्रिय शिष्यों में से हो। संयत मन से मेरी अंतिम इच्छा को सुनो। मेरी मृत देह को नूतन वस्त्र और कपास में लपेट उसे तैलसिक्त कर चिता पर रखना। भस्मावशेष पर चैत्य बनाना सही, पर उसे अपने परित्राण का कारण न समझना।"

आनंद बुद्ध के आदेश शिरोधार्य कर उनके पास से चला गया। सुभद्र-नामक एक जिज्ञासु ब्राह्मण मिला उसे निकट ही।

सुभद्र ने कहा—"तथागत कहाँ हैं?"

"वह पीड़ित हैं, इस समय उनके निकट नहीं जा सकते तुम। क्या चाहते हो?"

"ज्ञान-लाभ करना चाहता हूँ।"

"नहीं ब्राह्मण, उन्हें कष्ट देना उचित नहीं हमें।"

अमिताभ ने यह सब सुन लिया। उन्होंने क्षीण कंठ से कहा—"आने दो आनंद! धर्म की व्याख्या के लिये सदैव समय है। तथागत के कंठगत प्राण भी उसके लिये तत्पर हैं। यह बुझता हुआ दीपक भी किसी के भीतर की ज्योति को प्रज्वलित करने में हर्षित है। आओ, ब्राह्मण!"

सुभद्र अमिताभ के निकट गया और बोला—"हे असंख्य नर-नारियों के परित्राण के कारण! मैं भी आपकी शरण हूँ। मैं जानता

हूँ यह कि मैं बड़ी देर में आया हूँ, फिर भी अमिताभ मुझ पर दया करेंगे, और एक सूत्र में मुझसे अपने धर्म का मूल प्रदान करेंगे।"

"मध्यमा प्रतिपदा के एक सूत्र में धर्म का रहस्य है। सुख-दुःख, मान-अपमान, शीतोष्ण, आलोकांधकार के ठीक मध्य में। हे ब्राह्मण, प्रतिपद, प्रतिक्षण इस पर चिंतन करने से स्वयं ही निर्वाण का मार्ग प्रशस्त हो जायगा तुम्हारे लिये। एक ही सोपान में चरण पड़ जाने से फिर स्वयं ही प्रगति प्राप्त हो जाती है।"

"हे अक्षय-कीर्ति अमिताभ! आपकी करुणा से मेरा भी अंधकार नष्ट हुआ, और मुक्ति पथ मेरे दृष्टिगोचर हुआ। मैं भिक्षु होकर यावज्जीवन उस पथ का यात्री रहूँगा।"

वैशाखी पूर्णिमा की ज्योत्स्ना-स्नात धरित्री थी। उस प्रशांत शालवन में अमिताभ अपनी मृत्यु-शय्या पर शयित थे। चारों ओर शिष्य-मंडली एकाग्र नीरव भाव से उन पर दृष्टि किए, उन्हें घेरे खड़ी थी।

अमिताभ ने धीरे-धीरे कहना आरंभ किया—"हे भिक्षुगण! यदि किसी के मन में बुद्ध, धर्म और संघ के लिये कोई संदेह है, तो उसे प्रकट करो।"

सारी सभा शिला-मूक रह गई!

अमिताभ ने तीन आवृत्तियाँ कीं उसी वाक्य की, पर किसी ने भी मुख नहीं खोला।

बुद्ध फिर बोले—"शोक-विह्वलता भिक्षु का भूषण नहीं है। तथागत सदैव शरीरी होकर तुम्हारे बीच में रह नहीं सकता। वह फिर शीघ्र ही आवेगा मैत्रेय के रूप में। महाकाश्यप कहाँ हैं?"

"कुशीनगर के निकट शिष्यों के साथ धर्म के प्रचार में।" आनंद ने कहा।

उन्हें शीघ्र बुला लाने के लिये एक शिष्य गया।

अमिताभ ने अंतिम वाणी उच्चारित की—"मानव-देह और उसकी शक्ति क्षण-भंगुर है, इस तथ्य को दृढ़ रूप से प्राणों में अंकित कर अहर्निश परित्राण के लिये सचेष्ट हो जाओ।"

बुद्धदेव ने आँखें बंद कर लीं और मूक हो गए। क्रमशः उनकी शक्ति क्षीण होती गई। शिष्यगण समझने लगे, वह ध्यान के किसी उच्चतर स्तर में हैं। अचानक एक भयानक शब्द के साथ सारी वसुंधरा काँप उठी, अमिताभ ने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया। कुछ शिष्यों ने सूक्ष्म शरीरधारी काम उनके शरीर में से विनिर्गत होता हुआ देखा। उसने विशाल होकर फिर वसुंधरा को ढक लिया। अब शिष्यों को निश्चय हुआ कि बुद्ध महापरिनिर्वापित हो गए! रात्रि अपने अंतिम प्रहर में थी।

प्रभात होते ही आनंद मल्ल राजन्यों को यह समाचार अवगत कराने को चला गया। मल्लगण उस समय मंथागार में मंत्रणा कर रहे थे। इस दुःखद संवाद के सुनते ही सभा छोड़कर दौड़ पड़े। शत-शत मल्ल युवक-युवती, बड़े-बूढ़े शालवन की ओर शोकोच्छ्वास से भरे दौड़ पड़े।

छ दिन तक अमिताभ की शिष्य-मंडली और मल्ल राजाओं ने पूजन-अर्चन, गीत-वाद्य से अमिताभ के शव का सम्मान किया। सातवें दिन महाकाश्यप पाँच सौ शिष्यों-सहित आ पहुँचे।

उस समय अमिताभ की चिता प्रज्वलित हो रही थी। सबने मिलकर चिता की प्रदक्षिणा की। उस समय अग्नि की लपट और धूम्र की शिखाओं में मार अपने परिवार, सखा और सेनापतियों के साथ उन्मुक्त होकर नृत्य कर रहा था।

देखते-देखते भगवान् के भौतिक शरीर ने अपने तत्त्व विसर्जित कर दिए। उनकी शेष अस्थियों पर स्तूप निर्माण करने के लिये

आठ राजाओं ने अपना दायित्व प्रकट किया। अंत में अस्थियों के विभाग कर सबको संतुष्ट किया गया, और राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकल्प, बेठ-द्वीप, रामग्राम, पावा और कुशीनगर, इन आठ नगरों में भगवान् की अस्थियों के ऊपर स्तूप निर्माण किए गए।

कपिलवस्तु में जो दीपक उत्सृष्ट हुआ, बुद्ध गया में जिसने ज्योति पाई, मृगदाव में जिसने प्रथम प्रकाश फैलाना आरंभ किया, कुशीनगर में वह महापरिनिर्वापित हो गया !

शिष्यों ने उस ज्योति को दिशा-विदिशाओं में प्रसारित किया। समस्त आर्यावर्त उस तेज से आलोकित हो उठा। आर्यावर्त के बाहर भी नाना देशों में यह ध्वनि प्रतिध्वनित हो उठी—

बुद्धं शरणं गच्छामि।
धर्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।

आज भी अमिताभ के जय-घोष करनेवालों की संख्या संसार में सबसे अधिक है। गीता के पश्चात् मध्यम मार्ग के प्रतिष्ठाता और उन्नायक उस अमिताभ भगवान् को प्रणाम।